पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

सत्यदेव निगमालंकार

पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

द्वितीय भाग

सत्यदेवनिगमालङ्कार

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली भा

प्रथम संस्करण 2009

ISBN : 978-81-7702-203-2 (सेट)
978-81-7702-205-6

मूल्य : 1500 (दो भाग सेट)

प्रकाशक :
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., एम. फ़िल्., पी-एच.डी.
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
7259/20, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : (O) 47084852, 09350884227,
(R) 23848485
e-mail : info@pratibhabooks.com
Web : www.pratibhabooks.com

टाईप सेटिंग : एस०के० ग्राफिक्स
दिल्ली-53

मुद्रक : एस०के० ऑफसेट, दिल्ली

PAṆINĪYA VAIDIKA SŪTRA-MĪMĀṀSĀ

Volume - II

Satyadeva Nigamalamakar

PRATIBHA PRAKASHAN
DELHI-110007

First Edition : 2009

ISBN : 978-81-7702-203-2 (Set)
978-81-7702-205-6

Rs. : 1500 (2 Vols. Set)

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., Ph.D.
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
7259/20, Ajendra Market
Prem Nagar, Shakti Nagar
Delhi-110007 (India)
Ph. : (O) 47084852, 09350884227 (R) 23848485
e-mail : info@pratibhabooks.com
Web : www.pratibhabooks.com

Laser Type Setting :
S.K. Graphics, Delhi

Printed at : **S.K. Offset,** Delhi

षष्ठ अध्याय

पञ्चम अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

111. सप्तनोऽञ् छन्दसि।। अष्टा० 5.1.61

का०-वर्ग इत्येव। तदस्य परिमाणमिति च। सप्तन् शब्दात् छन्दसि विषयेऽञ् प्रत्ययो भवति वर्गेऽभिधेये। सप्त साप्तानि (तु० तै० सं० 5.4.7.5) असृजत्।।

सि०-'तदस्य परिमाणम्' (5.1.57) इति 'वर्गे' इति च। सप्त साप्तानि (तु० तै० सं० 5.4.7.5) असृजत्।। शञ्छतोर्डिनिश्छन्दसि तदस्य परिमाणमित्यर्थे वाच्यः।। पञ्चदशिनोऽर्द्धमासाः। त्रिंशिनो मासाः।। विंशतेश्चेति वाच्यम्।। विंशिनोऽङ्गिरसः।। युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब्वाच्यः।। त्वावतः पुरूवसो (कौ० 1.193)। न त्वावाँ२ऽअन्यः (मा० 27.36)। यज्ञं विप्रस्य मावतः (ऋ० 1.142.2)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'तदस्य परिमाणम्' (अष्टा० 5.1.56), 'तद्धिताः' (अष्टा० 4.1.76) ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अष्टा० 4.1.1) 'प्रत्ययः' (अष्टा० 3.1.1) 'परश्च' (अष्टा० 3.1.2) की अनुवृत्ति आ रही है। सप्तन् प्रातिपदिक से वेदविषय में 'तदस्य परिमाणम्' इस अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है, वर्ग अभिधेय होने पर। सप्त साप्तानि। सात् संख्या वाले वर्ग अर्थात् 7 x 7=49 प्रकार के मरुतों को उत्पन्न किया।।

इस सूत्र पर कतिपय वार्तिक भी हैं।। **शञ्छतोर्डिनिश्छन्दसि तदस्य परिमाणमित्यर्थे वाच्यः।।** 'तदस्य परिमाणम्'-इस अर्थ के वाच्य रहने पर 'शन्' अन्त वाले (दशन् आदि), तथा शत् अन्त वाले (त्रिंशत् आदि) संख्यावाची शब्दों से डिनि' प्रत्यय होता है। 'डिनि' का अनुबन्ध लोप होकर

'इन' शेष रहता है। 'डिनि' का 'ड' इत् होने से 'डित्' हुआ। उदा०-**पञ्चदशिनोऽर्धमासाः**। जिनका परिणाम पन्द्रह दिनों का है, वे अर्धमास अर्थात् मासार्ध कहलाते हैं। '**त्रिंशिनो मासाः**'। तीस दिनों के परिमाण वाले मास अर्थात् महीने।। **विंशतेश्चेति वाच्यम्**।। च के सामर्थ्य से 'विंशति' शब्द से भी 'डिनि' प्रत्यय होता है। '**विंशिनोऽङ्गिरसः**'। बीस गोत्र जिसका परिमाण है ऐसे आङ्गिरस् लोग। इस वार्तिक के व्याख्यान में नागेशभट्ट का कथन है-'**आङ्गिरस्-अयास्य-गार्ग्य- गौतमत्यादि-प्रवर-भेदभिन्नानि विंशतिः अवाऽन्तरगोत्राणि परिमाणमेषामित्यर्थः।। युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब्वाच्यः**'।। युष्मद् और अस्मद् शब्द से सादृश्य अर्थ में वतुप् प्रत्यय होना चाहिए।। '**त्वावतः पुरुवसो**।- '**त्वमिव त्वावान् तस्य**' इस अर्थ में। '**न त्वावाँ अन्यः**'।- '**न त्वावान् अन्यः**' इस अर्थ में। '**यज्ञं विप्रस्य मावतः**''।- '**अहमिव मावान् यस्य**' इस अर्थ में।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र तथा वार्तिकों के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **साप्तानि**।।
   (क) **सप्तैवाऽस्य साप्तानि प्रीणाति**।। तै० 5.4.7.5
   (ख) **अथो सप्त वा एतेन साप्तान्यग्नेर्ऋध्नोति**।। मै० 3.2.1
2. **साप्तेभिः**।।
   (क) **त्रिभिः साप्तेभिरवतं शुभस्पती**।। ऋ० 8.59.5

।। शञ्शतोर्डिनिश्छन्दसि तदस्य परिमाणमित्यर्थे वाच्यः।।

इस वार्तिक के उदाहरण-

1. **दश+डिनि-पञ्च+दशिनः=पञ्चदशिकः**।।
   (क) **पंचदशिनोऽर्धमासाः**।। तै०7.5.20.1; काठ० 45.17
2. **एकादशिनी**।।
   (क) **यदग्निर्वज्र एकादशिनी यदग्नावेकादशिनी मिनुयात्**।।
   मै० 3.4.8; तै० 5.5.7.1
   (ख) **एषा सं मीयते यदेकादशिनी सेश्वरा पुरस्तात्**।।
   तै० 6.6.4.6
   (ग) **स एतोमेकादशिनीमपश्यत्**।। मै० 4.7.8

(घ) सद्य एवं विद्वानेतामेकादशिनीं विवध्नीते।। मै० 4.7.8

(ङ) एकादशिनीभिर्यन्ति प्राणा वा एकादशिनीः प्राणेष्वेव तत्।। काठ० 34.1

3. षोडशिनः।।

(क) तेन षोडशी तत् षोडशिनः षोडशित्वम्।। तै० 6.6.11.1

(ख) बहवः षोडशिनो भवन्ति।। तै० 7.4.3.5

4. त्रिंशिनः।।

(क) त्रिंशिनो मासाः।। तै० 7.5.20.1।।

(ख) चतुश्चत्वारिंशी स्तोमः।। मै० 2.8.7

'विंशतेश्चेति वाच्यम्'-वार्तिक के उदाहरण-

1. युष्मद्-(त्वा+वतुप्)=त्वावतः।।

(क) न रिष्येत्वात्त्वावतः सखा।। ऋ० 1.91.8 तै० 2.3.14.1

(ख) भूयामो षु त्वावतः।। ऋ० 4.32.6।।

(ग) त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि।। ऋ० 7.25.4

(घ) स्तोता स्यात्त्वावतो मघोनः।। ऋ० 8.2.13।।

(ङ) त्वावतः पुरुवसो वयमिन्द्र प्रणेतः।। कौ० 1.193

(च) गमेम शूर त्वावतः।। कौ० 1.209

2. त्वावान्।।

(क) आ घ त्वावान्त्मनाप्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः।। ऋ० 1.30.14

(ख) न त्वावाँ इन्द्र कश्चन।। ऋ० 1.81.5।।

(ग) न त्वावाँ अन्यो दिव्यः।। मा० 27.36; शौ० 20.121.2

(घ) न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।। का० 32.6.10

(ङ) सत्यमित् तन्न त्वावाँ अउन्योऽस्ति।। मै० 4.14.18

(च) आ घ त्वावान् त्मना युक्त।। कौ० 2.10.85

3. अस्मद् मा+वतुप्=मावतः।।

(क) गन्तारा हि स्थाऽवसे हवं विप्रस्य मावतः।। ऋ० 1.17.2

(ख) यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः।। ऋ० 1.142.2

4. मावते।।

(क) **यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते।।**

कौ० 1.296

(ख) **सुशक्तिरिन् मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि।।**

कौ० 2.868

(ग) **एवा हि ते विभूतये ऊतय इन्द्र मावते।।**

शौ० 20.60.5; 20.71.5

एवं वेदों में प्रस्तुत सूत्र के तीन तथा वार्तिकों के बत्तीस प्रयोग मिले हैं।।

112. छन्दसि च।। अष्टा० 5.1.67

का०-प्रातिपदिकमात्रात् छन्दसि विषये तदर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। ठञादीनामपवादः। उदक्या वृत्तयः। यूप्यः पलाशः। गर्त्यो देशः।।

सि०-प्रातिपदिकमात्रात्तदर्हतीति यत्। सादन्यं विदथ्यम् (ऋ० 1.91.20)

प्रस्तुत सूत्र में **'तदर्हति'** (अष्टा० 5.1.62) की, **'शीर्षच्छेदाद्यच्च'** (अष्टा० 5.1.64) से **'यत्'** की तथा पूर्ववत् **तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। प्रातिपदिक मात्र से वेदविषय में भी **'तदर्हति'** इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यह ठञ् आदि का अपवाद है। **उदक्या वृत्तयः।**-उदकम् अर्हन्ति। **यूप्यः पलाशः।**-यूपमर्हति। **गर्त्यो देशः।**-गर्त्तम् अर्हति। इन उदाहरणों में **'उदक्या वृत्तयः'** का अर्थ अस्पष्ट है। वैसे अमरकोश में **'ऋतुमत्युदक्यापि'** (2.6.21) के अनुसार रजस्वला स्त्री को **'उदक्या'** कहा है, किन्तु इसका सम्बन्ध **'वृत्तयः'** से क्या है, यह स्पष्ट नहीं है।

वेदसंहिताओं में सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. सादन्यम्।।

(क) **सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै।।**

ऋ० 1.91.20 मा० 34.21

एवं 'सादन्यम्' पद दो स्थलों पर प्राप्त होता है।।

113. वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि।। अष्टा० 5.1.91

का०-वत्सरान्तात् प्रातिपदिकाद् निर्वृत्तादिष्वर्थेषु छन्दसि विषये छः प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादः। इद्वत्सरीयः। इदावत्सरीयः (काठ० सं० 13.15)।।

सि०-निर्वृत्तादिष्वर्थेषु इद्वत्सरीयः।।

प्रस्तुत सूत्र में 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' (अष्य० 5.1.79) की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। द्वितीयासमर्थ 'वत्सर' अन्तवाले प्रातिपदिकों से अधीष्यदि अर्थो में वेदविषय में 'छ' प्रत्यय होता है। यह ठञ् का अपवाद है। उदा०-इद्वत्सरीयः। इदावत्सरीयः।- इद्वत्सरेण निर्वृत्तः, इदावत्सरेण निर्वृत्तः आदि अर्थों में छ= ईय प्रत्यय होता है। नागेशभट्ट का कथन है-इद्वत्सरेदावत्सरशब्दौ पञ्चवर्षे युगे द्वयोर्वर्षयोः संज्ञे। एवं संवत्सर-परिवत्सरावपि। पाँच वर्ष के युग में इद्वत्सर और इदावत्सर-ये दो-दो वर्षों की संज्ञायें हैं। पूर्वकाल में होने वाले यज्ञादि के लिये इन शब्दों का प्रयोग होता रहा। ये वैदिक पद हैं।

सूत्र के निम्न प्रयोग उपलब्ध हैं-

1. इदावत्सरीयः।।
2. उद्वत्सरीयः।।
3. अनुवत्सरीयः।।

(क) इदावत्सरीयानुवत्सरीयोद्वत्सरीया।। काठ० 13.15

वेदसंहिताओं में से मात्र काठकसंहिता में इस सूत्र का यह प्रयोग मिला है।।

114. संपरिपूर्वात्ख च।। अष्टा० 5.1.92

सि०-संपरिपूर्वाद् वत्सरान्तात् प्रातिपदिकाच् छन्दसि विषये निर्वृत्तादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति, चकाराच् छश्च। संवत्सरीणाः (तै० सं० 4.3.13.4)। परिवत्सरीणम् (ऋ० 7.10.38)। संवत्सरीया, परिवत्सरीया (काठ० सं० 13.15)।।

सि०-चाच्छः। संवत्सरीणः। संवत्सरीयः। परिवत्सरीणः। परिवत्सरीयः।।

पूर्व सूत्र **'वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि'** (अष्टा० 5.1.90) की, तथा पूर्ववत् **'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी'**, **तद्धिताः**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। द्वितीयासमर्थ सम् परि पूर्व में है जिसके ऐसे **'वत्सरान्त'** प्रातिपदिक से वेदविषय में अधीष्टादि अर्थों में **'ख'** तथा चकार से **'छ'** प्रत्यय होते हैं। उदा०- **संवत्सरीणाः। संवत्सरीया। परिवत्सरीणम्। परिवत्सरीया।** ये दोनों शब्द भी वर्ष के वाचक हैं।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग हैं-

'ख' प्रत्यय के प्रयोग-

1. **संवत्सरीणः, संवत्सरीणम्।।**
   (क) **संवत्सरीणं पय उस्त्रियायाः।।**
   ऋ० 10.87.17 शौ० 8.3.17
   (ख) **संवत्सरीणमुप भागमासते।।**
   मा० 17.13 तै० 4.6.1.4 का० 18.1.13
2. **संवत्सरीणाः।।**
   (क) **संवत्सरीणाः मरुतः स्वर्काः।।**
   तै० 4.3.13.4 शौ० 7.82.3
   (ख) **रायस्पौषं सुवीर्यं संवत्सरीणां स्वस्तिम्।।** तै० 3.1.9.4
3. **परिवत्सरीणम्।।**
   (क) **ब्रह्म कृण्वन्त परिवत्सरीणम्।।** ऋ० 7.103.8
   (ख) **हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।।**
   शौ० 3.10.5; पै० 1.105.1

'छ' प्रत्यय के प्रयोग-

1. **संवत्सरीयम्।।**
   (क) **संवत्सरीयमुप भागमासते।** मै० 2.10.1
   (ख) **संवत्सरीयस्यैस्यैवायनस्य।।** मै० 3.7.2

2. **संवत्सरीया।।**
3. **परिवत्सरीया।।**

(क) **इयँ सवस्तिस्संवत्सरीया परिवत्सरीया।।** काठ० 13.15

एवं इस सूत्र के **'ख'** प्रत्ययान्त ग्यारह प्रयोग तथा चकार के सामर्थ्य से तीन प्रयोग **'छ'** प्रत्ययान्त प्राप्त होते हैं।

115. छन्दसि घस्।। अष्टा० 5.1.106

का०-ऋतुशब्दाच् छन्दसि विषये घस् प्रत्ययो भवति तदस्य प्राप्तमित्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। अयं ते योनिर्ऋत्वियः (ऋ० 3.29.10)।।

सि०- ऋतुशब्दात्तदस्य प्राप्तमित्यर्थे। भाग ऋत्वियः।।

इस सूत्र में **'ऋतोरण्'** (अष्टा० 5.1.105) से **'ऋतोः'** की, **'समयस्तदस्य प्राप्तम्'** (अष्टा० 5.1.104) से **'तदस्य प्राप्तम्'** की तथा पूर्ववत् **तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। ऋतु शब्द से वेदविषय में **'तदस्य प्राप्तम्'** इस अर्थ में घस् प्रत्यय होता है। पूर्वसूत्र का यह अपवाद है। उदा०- **अयं ते योनिर्ऋत्वियः।** घस् परे रहते 'ऋतु' शब्द की **'सिति च'** (अष्टा० 1.4.16) से पदसंज्ञा होने से **'ओर्गुणः'** (अष्टा० 6.4.146) से गुण नहीं होता, यणादेश होकर **'ऋत्वियः'** बना।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं–

1. **ऋत्वियः।।**

(क) **तवायं भाग ऋत्वियः सरश्मिः सूर्ये सचा।।** ऋ० 1.135.3

(ख) **होता पृथिव्यां न्यसीदत् ऋत्वियः।।** ऋ० 1.143.1

(ग) **सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक्।।**
ऋ० 3.41.2; शौ० 20.23.2

(घ) **ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे।।**
ऋ० 8.19.31; कौ० 2.18.23

(ङ) **अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा।।**
मा० 3.14; काठ० 23.6; तै० 1.5.7.2; 1.5.5.2; का० 16.6.8; शौ० 3.20.1;

(च) अयं वो गर्भ ऋत्विय।। मा० 11.48; तै० 4.1.4.4
(छ) यं ते योनिर्ऋत्विया।। मै० 1.5.5
(ज) एष ब्रह्मा य ऋत्वियः।। कौ० 1.438; 2.17.68;

2. ऋत्वियम्।।
(क) भराय सु भरत भागमृत्वियम्।। ऋ० 10.100.2
(ख) दधे ह गर्भमृत्वियम्।। मा० 23.63।।
(ग) तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियम्।। कौ० 2.18.24
(घ) इन्द्रस्य भागमृत्वियम्।। शौ० 7.72.1।।
(ङ) ऋत्वियानां सुमेधसः।। पै० 11.1.12

116. उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे।। अष्टा० 5.1.118

का०-उपसर्गात् ससाधने धात्वर्थे वर्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। यदुद्वतो निवतो यासि बप्सद् (ऋ० 10.142.4)। उद्गतानि निगतानि च।।

सि०-धात्वर्थविशिष्टे साधने वर्तमानात्स्वार्थे वतिः स्यात्। यदुद्वतो निवतः (ऋ० 10.142.4)। उदङ्गतान्निर्गतादित्यर्थः।।

सूत्र में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्या० 5.1.114) से 'वतिः' की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। धात्वर्थ में वर्तमान उपसर्ग के स्वार्थ में वति प्रत्यय होता है, वेदविषय में। उत् तथा नि उपसर्ग उद्गत निगत अर्थ में वर्तमान होने से धात्वर्थ में वर्तमान हैं। अतः इनसे वति प्रत्यय होकर 'उद्वतः' 'निवतः' बना। उदा०-यदुद्वतो निवतो यासि बप्सद्। 'वति' प्रत्ययान्त अव्यय होते हैं अतः प्रथमा बहुवचन विभक्ति का लुक् होना चाहिए था? वस्तुतः अव्ययसंज्ञा अनित्य होती है, अतः इनमें विभक्तिश्रवण में दोष नहीं है। "ननु च वतेरव्ययसंज्ञकत्वात् विभक्तेर्लुक् प्राप्नोति, स कस्मान्न भवति? अव्ययसंज्ञाया अनित्यत्वात्। अनित्यं तु तस्याः "सर्वमिदं काण्डं स्वरादावपि पठ्यते" इत्यादिना अव्ययसंज्ञाप्रकरण एवं प्रतिपादितम्" ऐसा न्यासकार का वचन है।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं -

1. आ+वति आवतः।।
   (क) आवतस्त आवतः परावतः आवतः।।
   शौ० 5.30.1; पै० 9.13.1
2. उद्+वति उद्वतः।।
   (क) स उद्वतो निवतो याति वेविषत्।। ऋ० 3.2.10
   (ख) याः प्रवतो निवत उद्वत उदन्वतीरनुदकाश्च याः।।
   ऋ० 7.50.4
   (ग) उन्निवत उदुद्वतश्च गेषं पातं मा द्यावापृथिवी।।
   तै० 3.2.4.4
   (घ) परावतो निवत उद्वतश्च।। मै० 4.14.1।।
   (ङ) समा भवन्तूद्वतो निपादाः।। काठ० 11.13
   (च) यात्युद्वता।। ऋ० 1.35.3
3. प्र+वति प्रवतः।।
   (क) सप्त प्रति प्रवत आशयानम्।। ऋ० 4.19.3
   (ख) त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपः।। ऋ० 7.32.27।।
   (ग) सप्त प्रवत आ दिवम्।। कौ० 2.756
   (घ) यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः।। शौ० 10.10.2
4. परा+वति परावतः।।
   (क) आ देवो याति सविता परावतः।। ऋ० 1.35.3
   (ख) अथो शक्र परावतः।। ऋ० 3.37.11।।
   (ग) य आनयत् परावतः।। कौ० 1.127
   (घ) परावतस्त आवतः।। शौ० 5.30.1।।
   (ङ) आ प्र यातु परावतः।। शौ० 6.35.1
   (च) आ सिन्धोर् आ परावतः।। पै० 5.18.3
5. नि+वति निवतः।।
   (क) ओर्व प्रा अमर्त्या निवतो देव्यु1द्वतः।। ऋ० 10.127.2
   (ख) योऽस्मत् पाकतर उन्निवत।। तै० 3.2.4.4।।

(ग) परावतो निवत उद्वतश्च।। मै० 4.14.1

(घ) अस्थि? वै निवत उद्वलं न।। पै० 7.7.4।।

(ङ) ब्रह्मोद्वतो निवतो ब्रह्म सर्वतः।। पै० 8.9.11

एवं वेदों में इस सूत्र के चौबिस प्रयोग हमें प्राप्त हुए हैं।।

117. थट् च छन्दसि।। अष्टा० 5.2.50

का०-नान्तादसंख्यादेः परस्य डटश्छन्दसि विषये थडागमो भवति चकारात् पक्षे मडपि भवति। पर्णमयानि पञ्चथानि भवन्ति (काठ० सं० 8.2)। पञ्चथः (काठ० सं० 9.3)। सप्तथः (काठ० सं० 37.11)। मट्-पञ्चममिन्द्रियस्यापाक्रामत् (काठ० सं० 9.12)।।

सि०-नान्तादसंख्यादेः परस्य डटस्थट् स्यान्मट् च। पञ्चथम्। पञ्चमम्।।

इस सूत्र में '**नान्तादसङ्ख्यादेर्मट्**' (अष्या० 5.2.49) की, '**तस्य पूरणे डट्**' (अष्या० 5.2.48) की, '**संख्यायाः गुणस्य निमाने मयट्**' (अष्या० 5.2.47) से '**सङ्ख्यायाः**' की तथा पूर्ववत **तद्धिताः**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **प्रत्ययः**, **परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। सङ्ख्या आदि में न हो जिसके, ऐसे षष्ठीसमर्थ सङ्ख्यावाची जो नकारान्त प्रातिपदिक उनसे परे पूरण अर्थ में आया जो डट् प्रत्यय उसको वेदविषय में '**थट्**' तथा '**मट्**' का आगम होता है। उदा०- **पञ्चथानि**। **पञ्चथः**। **सप्तथः**। मट् भी होता है-**पञ्चमम् इन्द्रियम् अपाक्रामत्**।

प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोग वेदसंहिताओं से दे रहे हैं-

'थट्' प्रत्यय के उदाहरण-

1. **पञ्चथः।।**

   (क) **समानमेतद्यत पञ्चथश्च।।** काठ० 9.3

2. **पञ्चथात्।।**

   (क) **पञ्च वा ऋतवस्संवत्सरः पञ्चथाद्वा।।** काठ० 9.3

3. **पञ्चथानि।।**

   (क) **पर्णमयानि पञ्चथानि भवन्ति पाङ्क्तत्वाय।।** काठ० 8.2

4. सप्तथ।।

(क) सूर्यश्च दिवश्चन्द्रमाश्च रथस्सप्तथस्स हि भयादपवहति।।
काठ० 37.11

(ख) य एष सप्तथः प्रजापतिरेवैषः।। काठ० 37.12

'मट्' प्रत्यय के उदाहरण-

1. पञ्चमः।।

(क) वन्यः पञ्चमस्तेभ्यो यदाहुतीर्न जुहुयात्।। तै० 5.5.9.2

(ख) मासां चतुर्थः ऋतूनां पञ्चमः।। तै० 5.7.18.1।।

(ग) समानमेतद्यत् पञ्चमश्च ऋतुः।। मै० 1.7.4

(घ) ऋतूनां पञ्चमः।। काठ० 53.8।।

(ङ) न पञ्चमो न षष्ठः।। शौ० 13.5.4

(च) यच् च तेनोपायति स एषां पञ्चमो भव।। पै० 8.19.9

2. सप्तमः।।

(क) प्रत्यञ्च आत्मा सप्तम एतावन्तः।। तै० 5.5.2.3

(ख) पशुः सप्तम आलभ्यते।। मै० 4.8.10।।

(ग) आत्मा सप्तमोऽरत्निमात्रम्।। काठ० 20.3

(घ) सप्तमो नाप्युच्यते।। शौ० 13.5.4।।

(ङ) योऽस्य सप्तमः प्राणोपरिमितो।। शौ० 15.15.9

(च) सप्तम प्राश्नन्तु प्रथमां शतौदनम्।। पै० 14.3.23

'थट्' प्रत्ययान्त नवन् और दशन् के रूप वेदसंहिताओं में अप्रयुक्त हैं। एवं थट् प्रत्ययान्त पद पाँच तथा मट् प्रत्ययान्त पद बारह प्रयुक्त हुए हैं।।

118. छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि।।
अष्टा० 5.2.89

का०-परिपन्थिन् परिपरिन् इत्येतौ शब्दौ छन्दसि विषये निपात्येते पर्यवस्थावरि वाच्ये। पर्यवस्थाता प्रतिपक्षः सपत्न उच्यते। मा

त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (मा० सं० 4.34)।।

सि०- पर्यवस्थाता शत्रुः। अपत्यं परिपन्थिनम्। मा त्वा परिपरिणो विदन् (मा० सं० 4.34)।।

इस सूत्र में '**पूर्वादिनिः**' (अष्य० 5.2.86) से '**इनिः**' की तथा पूर्ववत् **तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में परिपन्थिन् और परिपरिन् यह शब्द पर्यवस्थाता वाच्य हों, तो निपातन किये जाते हैं। '**पर्यवस्थाता**' सम्पन्न बलवान् प्रतिपक्षी को कहा जाता है। परन्तु यहां पर बाधक = मार्ग का अवरोधक लुटेरा आदि अर्थ विवक्षित है। उदा०- **परिपरिणः। परिपन्थिनः।।** परिपरिन् में परि शब्द से '**इनि**' प्रत्यय, परि को द्वित्व तथा इकार मात्र का लोप निपातन है। परिपन्थिन् शब्द से 'इनि' प्रत्यय तथा प्रकृतिगत इन् भाग का लोप निपातन है। ये दोनों शब्द वेद में ही शुद्ध हैं। लौकिक संस्कृत में '**पर्यवस्थातृ**' शब्द ही है।।

वेदों में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग हैं-

1. **परिपन्थिन्।।**
   - (क) **मा विदन्परिपन्थिनौ।।** ऋ० 10.85.32
   - (ख) **मा त्वा परिपथिनः।।** मा० 4.34; तै० 1.2.9.1।।
   - (ग) **मा परिपन्थिन।।** मै० 3.7.8; काठ० 2.7
   - (घ) **व्ययामस्म्रायोः परिपन्थिनः।।** शौ० 1.27.1
   - (ङ) **मा० विदन्परिपन्थिनः।।** शौ० 12.1.32; 14.1.11।।
   - (च) **विश्वञ्च परिपन्थिनः।।** पै० 2.31.5
2. **परिपन्थिनम्।।**
   - (क) **अपत्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।।** ऋ० 1.42.3
   - (ख) **नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगम्।।** शौ० 3.15.1
3. **परिपरिणः।।**
   - (क) **मा त्वा परिपरिणो विदन्।।**

     मा० 4.34; का० 4.10.5; काठ० 26

(ख) मा त्वा परिपरिणः।। तै० 1.2.6; मै० 3.7.8

(ग) अपि हीनाः परिपरिणस्कृण्वन्ति।। मै० 4.2.11

इस सूत्र के हमें ये सत्रह प्रयोग प्राप्त हुए हैं, जिनमें परिपन्थिनः के नौ, परिपन्थिनम् के दो तथा परिपरिणः के छः प्रयोग उपलब्ध होते हैं।।

119. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 5.2.122

का०-छन्दसि विषये बहुलं विनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। अग्ने तेजस्विन् (तै० सं० 3.3.1.1)। न भवति, सूर्यो वर्चस्वान्।। छन्दसि विनिप्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घत्वं चेति वक्तव्यम्।।अष्ट्रावी (ऋ० 10.102.8)। मेखलावी। द्वयावी। उभयावी (ऋ० 8.1.2)। रुजावी। हृदयावी। द्वयोभयहृदयानि दीर्घत्वं प्रयोजयन्ति।। मर्मणश्चेति वक्तव्यम्।। मर्मावी।। सर्वत्रामयस्योप- संख्यानम्।। छन्दसि भाषायां च। आमयावी (तै० सं० 3.2.3.3)।। शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन् वक्तव्यः।। शृङ्गारकः। वृन्दारकः (श० ब्रा० 14.6.11.1)।। फलबर्हा- भ्यामिनज् वक्तव्यः।। फलिनः। बर्हिणः।। हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्।। हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः, हृदयवान्।। शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तद् न सहत इत्यालुज् वक्तव्यः।। शीतं न सहते शीतालुः। उष्णालुः। तृप्रालुः।। तद् न सहत इति हिमाच्चेलुः।। हिमं न सहते हिमेलुः।। बलादूलच्। बलं न सहते बलूलः।। वातात् समूहे च वातं न सहत इति च।। वातानां समूहः, वातं न सहत इति वा वातूलः। पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः।। पर्वतः (मै० 4.12.5)। मरुतः। अर्थात् तदभाव इनिर्वक्तव्यः।। अर्थी। तदभाव इत्येव- अर्थवान्। तदेतत् सर्वं बहुलग्रहणेन सम्पद्यते।।

सि०- मत्वर्थे विनिः स्यात्।। छन्दोविन्प्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभय- रुजाहृदयानां दीर्घश्चेति वक्तव्यम्।। -इति दीर्घः। मंहिष्ठमुभयाविनम् (ऋ० 8.1.2)। शुनमष्ट्राव्यचरत् (ऋ० 10.102.8)।। छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ।। ई-रथीरभूत् (ऋ०

10.102.2) समुङ्गलीरियं वधूः (ऋ० 10.85.33)।
मघवानमीमहे (ऋ० 10.167.2)।।

प्रस्तुत सूत्र में '**अस्मायामेधास्त्रजो विनिः**' (अष्या० 5.2.121) से '**विनिः**' की, '**तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्**' (अष्टा० 5.2.84) से '**तदस्यास्त्यस्मिन्निति**' की तथा पूर्ववत् **तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में मतुबर्थ में '**विनि**' प्रत्यय बहुलरूप से होता है। उदा०- **अग्ने तेजस्विन्**। यहाँ तेजः अस्ति अस्य- इसमें बहुलरूप में विनि =विन्- तेजस् + विन्। नहीं भी होता है- **सूर्यो वर्चस्वान्**। वर्चः अस्ति अस्य- यहाँ '**विनि**' प्रत्यय न होकर '**मतुप्**' ही होता है।। वेदविषय में विनि प्रत्यय के प्रकरण में-अष्ट्रा, मेखला, द्वय, उभय, रुजा, और हृदय- इन शब्दों से '**विनि**' प्रत्यय तथा दीर्घ होना चाहिए। उदा०- **अष्ट्रावी**। 'अष्ट्रा अस्ति अस्य' इस अर्थ में। **मेखलावी। द्वयावी। उभयावी। रुजावी। हृदयावी। द्वय, उभय** और **हृदय** ये शब्द दीर्घत्व कराने वाले हैं। शेष तो स्वतः दीर्घ हैं।। मर्मन् शब्द से भी विनि प्रत्यय और दीर्घ होता है- ऐसा कहना चाहिए। उदा०- **मर्मावी**।। '**आमय**' से '**विनि**' प्रत्यय और दीर्घ का होना सर्वत्र कहना चाहिए। सर्वत्र= लोक और वेद दोनों में। **आमयावी**।। शृङ्ग और वृन्द शब्दों में मतुबर्थ में '**आरकन्**' प्रत्यय कहना चाहिए। **शृङ्गारकः। वृन्दारकः**। फल और बर्ह शब्दों से इनच् कहना चाहिए।। **फलिनः। बर्हिणः**।। हृदय से आलुच् प्रत्यय विकल्प से कहना चाहिए।। **हृदयालुः। हृदयी। हृदयिकः। हृदयवान्**।। शीत, उष्ण और तृप्त- इन शब्दों से 'उसे सहन नहीं कर पाता है'- इस अर्थ में आलुच् प्रत्यय कहना चाहिए।। **शीतालुः। उष्णालुः तृप्तालुः**।। 'उसे नहीं सह पाता है'- इस अर्थ में '**हिम**' शब्द से '**चेलु**' प्रत्यय कहना चाहिए।। **हिमं न सहते-हिमेलु**।। बल शब्द से '**उफलच्**' कहना चाहिए।। **बलं न सहते-बलूलः**।। वात शब्द से समूह अर्थ में '**उफलच्**' कहना चाहिए।। वात सहन नहीं कर पाता है- इस अर्थ में भी कहना चाहिए। यह प्रत्यय दो अर्थों में है। वातानां समूहः, **वातं न सहते वातूलः**।। पर्वन और मरफत्-शब्दों से तन् प्रत्यय होता है।। **पर्वतः। मरफतः**।। अर्थ शब्द से उसके अभाव अर्थ में '**इनि**' कहना चाहिए।। अर्थी। '**अर्थः नास्ति यस्य**

सः'- इस में। अर्थ का अभाव - इसी में यह होता है। अर्थः अस्ति अस्य-इस अर्थ में **'अर्थवान्'**। **'मतुप्'** होता है।। यह सारा व्याख्यान बहुल के बल से संभव है।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त कतिपय प्रयोग उद्धृत हैं-

1. तेजस्वी।।
   (क) तद्राष्ट्रं तेजस्वी भवति।। मै० 4.3.8
2. तेजस्विन्।।
   (क) अग्ने तेजस्विन् तेजस्वी त्वं देवेषु भूयाः।। तै० 3.3.1.1
3. तेजस्विनम्।।
   (क) एवैनं पञ्च दिशोऽनु तेजस्विनं करोति।। मै० 2.2.2
   (ख) सर्वंत एवैनं तेजस्विनं करोति।। मै० 2.5.10

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र के अन्य भी अनेक प्रयोग वेदों में उपलब्ध हैं। हमनें द्विग्दर्शनार्थ ही कतिपय उद्धृत किये हैं।।

120. तयोर्दाहिलौ चच्छन्दसि।। अष्टा० 5.3.20

का०-तयोरिति प्रातिपदिकनिर्देशः। तयोरिदमः तदश्च यथासंख्यं दार्हिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये। चकाराद् यथाप्राप्तं च। इदावत्सरीयः (काठ० सं० 13.15)। इदं तर्हि। इदानीम्। तदानीम्।।

सि०-इदन्तदोर्यथासङ्ख्यं स्तः। इदा हि व उपस्तुतिम् (ऋ० 8.26.11)। तर्हि।। इस सूत्र में 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा''(अष्टा० 5.3.15) से 'काले' की, 'सप्तम्यास्त्रल्' (अष्टा० 5.3.10)से 'सप्तम्याः' की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपादिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। 'तयोः' पद से इदम् तथा तद् का ग्रहण है। उन इदम् और तद् शब्दों से क्रमशः 'दा' और 'र्हिल्' प्रत्यय वेदविषय में होते हैं। और 'च' के करण यथाप्राप्त प्रत्यय भी होते हैं। उदा०- इदावत्सरीयः।

(अस्मिन् काले)।। इदं तर्हि।(तस्मिन् अर्थ में)। इदानीम्। तदानीम्।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग उपलब्ध होते हैं-

1. इदा।।
   (क) इदा चिदह्न इदा चिदक्तोः।। ऋ० 4.10.5
   (ख) इदा हि वो धिषणा देव्यह्नाम्।। ऋ० 4.34.1
   (ग) इदा हि वो विधते रत्नमः..। इदा विप्राय जरते यदुक्था..।। ऋ० 6.65.4
   (घ) यदध्रिगावो अध्रिगू इदा।। ऋ० 8.22.11
   (ङ) इदा हि व उपस्तुतिमिदा वामस्य भक्तये।। ऋ० 8.26.11
   (च) त्वामिदा ह्यो नरोऽपि।। ऋ० 8.99.1; कौ० 2.813
   (छ) वयमेनमिदा ह्योऽपि।। कौ० 1.231 ; 2.16.91; शौ० 20.97.1

2. तर्हि।।
   (क) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि।। ऋ० 10.129.2
   (ख) तर्हि यजमानो होतारमीक्षमणो।। तै० 1.7.1.2
   (ग) तर्हि ब्रूयादेमा अग्मन्नाशिषो दोहकामा इति।। तै० 1.7.4.3
   (घ) तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीद्।। तै० 2.1.2.3
   (ङ) तर्हि तस्य पशुश्रपणं हरेत्।। तै० 3.1.3.2
   (च) मन्ये भेर्जानो अमृतस्य तर्हि।। तै० 5.6.1.4
   (छ) यर्ह्यपो गृह्णीयादिमां तर्हि मनसा ध्यायेत्।। मै० 1.4.13
   (ज) यं द्विष्यात्तं तर्हि मनसा ध्यायेद्।। मै० 2.1.11।।
   (झ) यर्हि एव प्रेरते तर्ह्येनान्यपहते।। मै० 2.1.11
   (ञ) स वै तर्ह्येव जायते।। मै० 3.3.4।।
   (ट) स एनं तर्ह्यधीयात्।। मै० 3.3.6
   (ठ) यर्हि बिन्दव इव स्युस्तर्ह्यवेक्षेत।। काठ० 6.7
   (ड) यर्हि वाव प्रवदेत् तर्हि जुहुयात्।। काठ० 12.7

(ढ) एका वै तर्हि व्रीहेश्नुष्टिरासीत्।। काठ० 12.7

(ठ) इमास्तर्ह्यफला ओषधयः।। काठ० 12.13।।

(थ) मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि।। शौ० 3.13.6

(द) इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि।। शौ० 11.10.5।।

(ध) अन्यामिच्छेत तर्हि सः।। शौ० 12.8.13

इस प्रकार 'इदा' के बारह तथा 'तर्हि' के उन्नीस प्रयोग प्राप्त होते हैं।

121. था हेतौ चच्छन्दसि।। अष्टा० 5.3.26

का० - किंशब्दाद् हेतौ वर्तमानात् था प्रत्ययो भवति, चकारात् प्रकारवचने छन्दसि विषये। हेतौ तावत्-कथा ग्रामं न पृच्छसि (ऋ० 10.146.1)। केन हेतुना न पृच्छसीत्यर्थः। प्रकारवचने- कथा देवा आसन् पुराविदः। विभक्तिसंज्ञायाः पूर्णोऽवधिः।।

सि०- किमस्था स्याद्धैतौ प्रकारे च। कथा ग्रामं च पृच्छसि (ऋ० 10.146.1)। कथा दाशेम (ऋ० 1.77.1)।।

इस सूत्र में 'किमश्च' (अष्या० 5.3.25) से 'किमः' की, 'प्रकारवचने थाल्' (अष्या० 5.3.23) से 'प्रकारवचने' की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। हेतु अर्थ में वर्तमान 'किम्' शब्द से 'था' प्रत्यय होता है और 'च' के कारण प्रकारवचन में भी, वेद विषय में अर्थात् वेद में दो अर्थों में 'था' प्रत्यय होता है। उदा०- हेतु अर्थ में - कथा ग्रामं न पृच्छसि।-'केन हेतुना न पृच्छसि'-यह अर्थ है। प्रकारवचन में- उदा०- कथा देवा आसन् पुराविदः।-'केन प्रकारेण'- इस अर्थ में।। यहां विभक्तिसंज्ञा की सीमा समाप्त हो जाती है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोगों को अंकित कर रहे हैं-

1. कथा।।

(क) कथा राधाम सखायः स्तोमं मित्रस्यार्यम्णः।।
ऋ० 1, 41, 7

(ख) कथा दाशेमाग्नये कास्मै।। ऋ० 1.77.1।।

(ग) कथा विधात्यप्रचेताः।। ऋ० 1.120.1

(घ) कथा ह तद्वरुणाय त्वमग्ने कथा दिवे गर्हसे कन्न आग।

कथा मित्राये मीळ्हुषे पृथिव्यै।। ऋ० 4.3.5

(ङ) कथा महे रुद्रियाय ब्रवाम।। ऋ० 5.41.12।।

(च) कथं शेक कथा यय।। ऋ० 5.61.2

(छ) सखायः क्रतुमिच्छत कथा राधाम शरस्य।। ऋ० 8.70.13

(ज) कतमत्स्वित्कथाऽऽसीत्।। मा० 17.18

(झ) यत् समावद्विद्व कथा त्वम्।। तै० 2.5.8.5

(ञ) यश्चैवं वेद यश्च न कथा पुत्रस्य केवलं कथा साधारणम्।। तै० 2.6.1.6

(ट) सोऽब्रवीत् कथा मा निरभागिति।। तै० 3.1.9.4

(ठ) कथा यजमानो यजमानेन भ्रातृव्येण सदृशः।। मै० 1.4.12

(ड) कतमात्स्वित्कथासीत्।। मै० 2.10.2

(ढ) मा नश्शम्नीयाः कथा नश्शम्नीष इति।। काठ० 10.7

(ण) अथ कथा न सर्वात्मा गा इति।। काठ० 22.6।।

(त) जिह्म बर्हि प्रमयुः कथा स्याः।। शौ० 18.1.16

(थ) कथा दिव्यायासुराय ब्रवाम कथा पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।। पै० 8.1.1;

वेदों में सूत्रानुसार 'कथा' का पद का उन्नीस स्थलों पर प्रयोग हुआ है।।

122. पश्च पश्चा चच्छन्दसि।। अष्टा० 5.3.33

का०-पश्चपश्चाशब्दौ निपात्येते छन्दसि विषयेऽस्तातेरर्थे। चकारात् पश्चादित्यपि भवति। अपरस्य पश्चभावोऽकाराकारौ च प्रत्ययौ निपात्येते। पुरा व्याघ्रो जायते पश्च सिंहः। पश्चा सिंहः। पश्चात् सिंहः।।

सि० - अवरस्य अस्तात्यर्थे निपातौ। पश्च हि सः। नो त पश्चा।।

इस सूत्र में **'पश्चात्'** (अष्टा० 5.3.32) की, **'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः'** (अष्टा० 5.3.27) की तथा पूर्ववत् **तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। पश्च पश्चा शब्द भी वेदविषय में 'अस्ताति' अर्थ में निपातन किये जाते हैं, चकार से पश्चात् शब्द भी छन्द में निपातन है। अपर शब्द का पश्च भाव तथा अकार और आकार प्रत्यय निपातन किये हैं।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग मिलते हैं-

1. **पश्चा।।**
   - (क) **पश्चा स दघ्या यो अघस्य धाता।।** ऋ० 1.123.5
   - (ख) **न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।।** ऋ० 2.27.11
   - (ग) **आदित्पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्।।** ऋ० 4.1.18
   - (घ) **पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्त।।** ऋ० 10.61.12
   - (ङ) **घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदासः।।** ऋ० 10.61.18
   - (च) **पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वाः।।** ऋ० 10.67.11
   - (छ) **पश्चेदमन्यदभवद्यजत्रम्।।** ऋ० 110.149.3
   - (ज) **त्वं त्यमिन्द्र सूर्यं पश्चा सन्तं पुरस्कृधि।।** ऋ० 10.171.4
   - (झ) **इमे पश्चा पृदोकवः प्रदीध्यत आसते।।** शौ० 10.4.11
   - (ञ) **सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।।** शौ० 10.8.7
   - (ट) **पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वाः।।** शौ० 20.91.11
2. **पश्चात्।।**
   - (क) **मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।।** ऋ० 1.115.2
   - (ख) **अपरा पूर्वामभ्येति पश्चात्।।** ऋ० 1.124.9।।
   - (ग) **त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवाः।।** मा० 5.11
   - (घ) **अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुः।।** मा० 13.56।।
   - (ङ) **ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः।।** शौ० 4.40.3
   - (च) **इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि।।** शौ० 6.40.3

यजुर्वेद तथा सामदेव में **'पश्चा'** पद अप्रयुक्त है। **'पश्चात्'** पद का प्रयोग ऋग्वेद में ईक्कीस बार, यजुर्वेद में सात बार, सामवेद में दो बार तथा अथवर्वेद

में तैंतीस बार हुआ है।।

123. तुश्छन्दसि।। अष्टा० 5.3.59

का० - तुरिति तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम्। त्रन्तात् छन्दसि विषयेऽजादी प्रत्ययौ भवतः। पूर्वेण गुणवचनादेव नियमे कृते छन्दसि प्रकृत्यन्तराण्यभ्यनुज्ञायन्ते, त्रन्तादप्यजादी भवत इति।। आयुतिं करिष्ठः (ऋ० 7.97.7)। दोहीयसी धेनुः। 'भस्याढे तद्धिते०' (वा० 6.3.35) इति पुंवद्भावे कृते 'तुरिष्ठेमेयःसु' (6.4. 154) इति तृचो निवृत्ति।।

सि०- तृजन्तात्तृन्नन्ताच्च इष्ठन्नीयसुनौ स्तः। आसुतिं करिष्ठः (ऋ० 7.97.7)। दोहीयसी धेनुः।।

इस सूत्र में **'अजादी गुणवचनादेव'** (अष्या० 5.3.58) से 'अजादी' की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में तृ=तृन्, तृच् अन्तवाले प्रातिपदिको से अजादी= इष्ठन् ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। पूर्व सूत्र से गुणवाची शब्दों से ही अजादि प्रत्यय प्राप्त थे, यहाँ त्रन्त से भी विधान कर दिया है। उदा०-**आसुतिं करिष्ठः**। कर्तृ + इष्ठन्=इष्ठ। **'तुरिष्ठेमयःसु'** (अष्या० 6.4.154) से तृ का लोप। **दोहीयसी धेनुः**। **'भस्य टेर्लोपः'** (अष्या० 7.1.88) से पुंवद्भाव करने पर **'तुरिष्ठमेयस्सु'** सूत्र से तृच् का लोप। दोग्ध्री + ईयसुन् तृ, दोह् + ईयस्, ङीप् = ई।।

वेदों में सूत्र के प्रयोग निम्न हैं-

1. **करिष्ठः।।**

   (क) **पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः।।**

   ऋ० 7.97.7; मै० 4.14.4; काठ० 17.18

इस सूत्र का **'दुहीयसि'** प्रयोग वेदों में अप्राप्त है। अष्टाध्यायी के व्याख्याकारों ने भी उसका कोई स्थानसंकेत नहीं किया है। **करिष्ठः** पद वेदसंहिताओं में पुनरावृत्ति रूप से तीन स्थलों पर प्राप्त होता है।।

124. प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि।। अष्टा० 5.3.111

का० - प्रत्न पूर्व विश्व इम इत्येतेभ्य इवार्थे थाल् प्रत्ययो भवति

छन्दसि विषये। तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० 5.44.1)।।

सि०- इवाऽर्थे। तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० 5.44.1)।।

इस सूत्र में 'इवे प्रतिकृतौ' (अष्टा० 5.3.96) से 'इवे' की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम प्रातिपादिकों से इवार्थ में थाल् प्रत्यय होता है वेद विषय में।

वेदसंहिताओं प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं -

1. प्रत्नथा।।
   (क) स प्रत्नथा सहसा जायमानः।। ऋ० 1.96.1; मै० 4.10.6
   (ख) तत्तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनम्।। ऋ० 1.132.3
   (ग) शुष्मा यदस्य प्रत्नथोदीरते।। ऋ० 2.17.1
   (घ) वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहत्।। ऋ० 3.2.12
   (ङ) वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत।। ऋ० 5.8.5
   (च) तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।। ऋ० 5.44.1; मा० 7.12; तै० 1.4.9.1; का० 7.6.1
   (छ) एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा।। ऋ० 6.17.3।।
   (ज) स प्रत्नथा कविवृधः।। ऋ० 8.63.4
   (झ) तं प्रत्नथाऽयं वेनः।। मा० 33.21; 33; 47; 58; 73
   (ञ) एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा।। शौ० 20.8.1
2. पूर्वथा।।
   (क) तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था।। ऋ० 1.80.16
   (ख) अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा।। ऋ० 1.92.2; कौ० 2.11.06
   (ग) नू इत्था ते पूर्वथा च प्रवाच्यम्।। ऋ० 1.132.4
   (घ) भराग्निं मन्थाम पूर्वथा।। ऋ० 3.29.1
   (ङ) तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।। ऋ० 5.44.1; मा० 7.12; तै० 1.9.1
   (च) पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः।। ऋ० 5.80.6

(छ) अनु ष्टुवन्ति पूर्वथा।।

ऋ० 8.3.8; 15.6; मा० 33.97; शौ० 20.61.3; 99.2; जै० 3.20.16

(ज) गिरः शुम्भन्ति पूर्वथा।। ऋ० 8.43.2

3. विश्वथा।।

(क) यत्सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुः।। ऋ० 1.141.9

(ख) योऽवरे वृजने विश्वथा विभुः।। ऋ० 2.24.11

(ग) तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।।

ऋ० 5.44.1; मा० 7.12; तै० 1.4.9.1

(घ) वि भानुं विश्वथातनत्।। कौ० 1.219

4. इमथा।।

(क) तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।।

ऋ० 5.44.1; मा० 7.12; का० 7.3.1; तै० 1.4.9.1; मै० 1.3.11; काठ० 4.3

वेदों में 'प्रत्नथा' पद अठ्ठारह, 'पूर्वथा' 'विश्वथा' तथा 'इमथा' पद छः-छः स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।।

125. अमु चच्छन्दसि।। अष्टा० 5.4.12

का०-किमेत्तिङव्ययघादद्रव्यप्रकर्षेऽमुप्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। चकारादामु च। प्रतरं न आयुः (ऋ० 4.12.6)। प्रतरां नय (मां० सं० 17.51)। स्वरादिषु अम् आम् इति पठ्यते। तस्मात् तदन्तस्याव्ययत्वम्।।

सि०- किमेत्तिङव्ययघादित्येव। प्र तं नय प्रतरम् (ऋ० 10.45.9)।।

इस सूत्र में 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (अष्ट्या० 5.4.11) की तथा तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकत्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। किम्, एकारान्त, तिङन्त तथा अव्ययों से विहित जो घ प्रत्यय (तरप्, तमप्)तदन्त से अद्रव्यप्रकर्ष अर्थ में वेदविषय में अमु तथा आमु प्रत्यय होते हैं। स्वरादिगण में अम् और आम् का पाठ है अतः तदन्त की अव्ययसंज्ञा होती है। इसलिये विभक्ति का लुक् हो जाता है।

उदा०- प्रतरम्। प्रतराम्।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. प्रतरम्।।

(क) द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।।

ऋ० 1.53.11; 10.18.2; 3; 115.8

(ख) जीवातवे प्रतरं साधया धियः।। ऋ० 1.94.4

(ग) अर्कैः साम्राज्याय प्रतरं दधानाः।। ऋ० 1.141.13

(घ) ययोरायुः प्रतरं ते इदं पुरः।। ऋ० 2.32.1

(ङ) प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः।। ऋ० 4.12.6।।

(च) पुरुष्टुताय प्रतरं दधातन।। ऋ० 5.34.1

(छ) श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः।। ऋ० 5.55.3।।

(ज) प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ।। ऋ० 6.47.7

(झ) अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः।। ऋ० 10.10.1

(ञ) अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्।।

ऋ० 10.42.1 शौ० 20.89.1

(ट) प्र त नय प्रतरं वस्यो अच्छ।।

ऋ० 10.45.9; मा० 12.26

(ठ) प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः।। ऋ० 10.59.1।।

(ड) ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदसः।। ऋ० 10.66.1

(ढ) प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्।। ऋ० 10.79.3

(ण) प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः।। शौ० 5.1.4।।

(त) इन्द्रेमं प्रतरं कृधि।। शौ० 6.5.2

(थ) आयुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः।। शौ० 6.41.3।।

(द) द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि।। शौ० 8.2.2

(ध) नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम्।। शौ० 11.1.21।।

(न) द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।। शौ० 12.2.30

(प) अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः।। शौ० 18.1.1।।

(फ) वा प्रतरं नवीयः।। शौ० 18.2.31

(ब) चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तः।। शौ० 18.3.10।।

(भ) आयुर्दधानाः प्रतरं नवीयः।। शौ० 18.3.17

(म) स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्।। शौ० 18.3.63; 4.54

2. प्रतराम्।।

(क) इन्द्रेमं प्रतरां नय।। मा० 17.51

(ख) अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः।। कौ० 1.340।।

(ग) जीवातवे प्रतरां साधया धियः।। कौ० 2.415

वेदों में 'प्रतरम्' पद बत्तीस तथा 'प्रतराम्' पद तीन स्थानों पर प्रयुक्त है।।

126. वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ चच्छन्दसि।। अष्टा० 5.4.41

का०-प्रशंसायामित्येव। वृकज्येष्ठाभ्यां प्रशंसोपाधिकेऽर्थे वर्तमानाभ्यां यथासंख्यं तिल्तातिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये। रूपपोऽपवादौ। वृकतिः (ऋ० 4.41.4)। ज्येष्ठतातिम् (ऋ० 5.44.1)।।

सि०- स्वार्थे। यो नो दुरेवो वृकतिः (ऋ० 4.41.4)। ज्येष्ठतातिं बर्हिषदम् (ऋ० 5.44.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'सस्नौ प्रशंसायाम्'(अष्या० 5.4.40) से 'प्रशंसायाम्' की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। प्रशंसा-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान वृक् तथा ज्येष्ठ शब्दों से यथासङ्ख्य करके तिल् एवं तातिल् प्रत्यय भी होते हैं वेदविषय में। उदा०- वृकतिः। ज्येष्ठतातिम्। काशिका के सभी संस्करणों में 'ज्येष्ठतातिः' पद दिखाया गया है, जो संहितापाठ के विपरीत है।

सूत्रानुसार वेदों में निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. वृकतिः।।

(क) यो नो दुरेवो वृकतिर्दभीतिः।। ऋ० 4.41.4

2. ज्येष्तातिम्।।

(क) ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्।।

ऋ० 5.44.1; मा० 7.12; का० 7.6.1

(ख) ज्येष्ठतातिं बर्हिषदंसुवर्दिदम्।। तै० 1.4.9.1।।

(ग) ज्येष्ठतीतिं बर्हिषदंस्वर्दृशम्।। काठ० 4.3

वेदों में 'ज्येष्ठतातिः' पद अप्रयुक्त है, जबकि व्याकरणग्रन्थों में 'ज्येष्ठतातिः' ही दिखाया गया है, जो संहिता के विरुद्ध है। अतः 'ज्येष्ठतातिम्' पद उपयुक्त है।

127. अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि।। अष्टा० 5.4.103

का०-अन्नन्तादसन्तात् च नपुंसकलिङ्गात् तत्पुरुषात् टच् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। हस्तिचर्मे जुहोति। ऋषभचर्मेऽध्यभिषिच्यते (काठ० सं0 37.3)। असन्तात् - देवच्छन्दसानि (मै० सं० 3.2.9)। मनुष्यच्छन्दसम् (तै० सं० 5.4.8.6)। अनसन्तादिति किम्? बिल्वदारु जुहोति। नपुंसकादिति किम्? सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम् (ऋ० 10.63.10)। अनसन्तान्पुंसकाच्छन्दसि वावचन्।। ब्रह्मसाम (ता० ब्रा० 4.3.1)। देवच्छन्दः (शां० ब्रा० 1.5)। ब्रह्मसामम् (तै० सं० 1.8.18.1)। देवच्छन्दसम् (तै० सं० 5.4.8.5)।।

सि०- तत्पुरुषाट्टच स्यात्समासान्तः। ब्रह्मसामं भवति (तै० सं० 1.8.18.1)। देवच्छन्दसनि (मै० सं० 3.2.9)।।

इस सूत्र में 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' (अष्या० 5.4.91) से 'टच्' की, 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः' (अष्या० 5.4.86) से 'तत्पुरुषस्य' की, 'समासान्ताः' (अष्टा० 5.4.68) की तथा पूर्ववत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। अन् जिसके अन्त में है और अस् जिसके अन्त में है ऐसे नपुंसकलिङ्ग तत्पुरुष से वेदविषय में टच् प्रत्यय होता है। उदा०- हस्तिचर्मे जुहोति। ऋषभचर्मेऽभिषिच्यते। असन्त के उदा०- देवच्छन्दसानि। मनुष्यच्छन्दसम्। अन्नन्त और असन्त से- इसका क्या फल है? बिल्वदारु जुहोति। नपुंसकलिङ्ग से-इसका क्या फल है? सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम्।। अन्नन्त और असन्त नपुंसक से वेदविषय में विकल्प कहना चाहिए।। उदा०- ब्रह्मसाम। देवच्छन्द। ब्रह्मसामम्। देवच्छन्दसम्।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. ऋषभचर्मे।।
   (क) ऋषभचर्मेऽध्यभिषिच्यते।। काठ० 37.3
2. देवच्छन्दसानि।।
   (क) अथो देवछन्दसानि वा एतानि।। मै० 3.2.9
3. मनुष्यच्छन्दसम्।।
   (क) मनुष्यच्छन्दसं चतस्रश्चाष्टौ च।। तै० 5.4.8.6
   (ख) मनुष्यच्छन्दसमेवावरुन्द्धे।। काठ० 21.11

128. बहुप्रजाश्छन्दसि।। अष्टा० 5.4.123

का०-बहुप्रजा इति छन्दसि निपात्यते। बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश (ऋ० 1.164.32)। छन्दसीति किम्? बहुप्रजो ब्राह्मणः।।

सि०- बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश (ऋ० 1.164.32)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः' (अष्टा० 5.4.122) से 'असिच्' की, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' स्वाङ्गात् षच् (अष्टा० 5.4.113) से 'बहुव्रीहौ' की तथा पूर्ववत् समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में 'बहुप्रजास्' शब्द असिच्प्रत्ययान्त बहुव्रीहि समास में निपातन किया जाता है। उदा०- बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।। वेद में होता है- इसका क्या फल है? 'बहुप्रजो ब्राह्मणः'- यहां असिच् न होकर ह्रस्व हुआ है।।

वेदों में इस सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. बहुप्रजाः।।
   (क) बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।। ऋ० 1.164.32
   (ख) बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।। शौ० 1.15.10।।
   (ग) बहुप्रजा निर्ऋतिम् आ विवेश।। पै० 16.69.1

एवं 'बहुप्रजा' पद वेदों में पुनरावृत्ति के रूप में मात्र तीन स्थलों पर हैं।।

129. छन्दसि च।। अष्टा० 5.4.142

का०-छन्दसि च दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति समासान्तो

बहुव्रीहौ समासे। पत्रदतमालभेत। उभयादतः (ऋ० 10.90.10) आलभते।।

सि०- दन्तस्य दतृशब्दः स्याद्बहुव्रीहौ। उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति।।

प्रस्तुत सूत्र में **'वयसि दन्तस्य दतृ'** (अष्टा० 5.4.141) से **'दन्तस्य दतृ'** की तथा पूर्ववत् **बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में भी दन्त शब्द का 'दतृ' आदेश समासान्त बहुव्रीहि समास में होता है। उदा०- **पत्रदतमालभेत। उभयादतः आलभते।।** न्यासकार ने यहाँ **'उभयतोदतः'** लिखा है। यहाँ अवस्था = वयः से भिन्न अर्थ में भी वेद में दतृ आदेश होता है।।

वेदसंहिताओं में इसके कतिपय उदाहरण उपलब्ध हुए हैं-

1. **उभयतोदतः।।**

   (क) **पशून् दाधारोभयतोदतश्चेत्। तेनोभयतोदतो दाधार।।**
   तै० 2.6.2.2

2. **उभयतोदन्।।**

   (क) **स वा उभयतोदन् प्रतिगृहीतो निर्बभस्ति।।** मै० 2.3.2

3. **उभयादतः।।**

   (क) **तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।।**
   ऋ० 10.90.10; मा० 31.8; का० 35.18 ;
   शौ० 19.6.12;

   (ख) **अश्वः प्राजापत्यो लोमभिरुभयादतः पशून्।।** काठ० 19.3

   (ग) **त्वं व्याघ्रान् सहसे त्वं स्यह्वां उभयादतः।।** पै० 5.1.8

4. **शुचिदन्।।**

   (क) **हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः।।** ऋ० 5.7.7

   (ख) **सं योवना युवते शुचिदन् भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्यः।।**
   ऋ० 7.4.2

एवं वेदसंहिताओं में इस सूत्र के इतने ही प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

130. ऋतश्छन्दसि।। अष्टा० 5.4.158

का०- ऋवर्णान्ताद् बहुव्रीहेश्छन्दसि विषये कप् प्रत्ययो न भवति।

हता मातास्य हतमाता (शौ० सं० 2.32.4)। हतपिता। हतस्वसा (शौ० सं० 2.32.4)। सुहोता (ऋ० 7.67.3)।।

सि० - ऋदन्ताद् बहुव्रीहेर्न कप्। हता माता यस्य हतमाता (शौ० सं० 2.32.4)।।

इस सूत्र में 'न संज्ञायाम्' (अष्टा० 5.4.155) से 'न' की, '**उरः प्रभृतिभ्यः कप्**' (अष्टा० 5.4.151) से 'कप्' की तथा पूर्ववत् **बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आ रही है। ऋवर्णान्त बहुव्रीहि से वेदविषय में समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता है। उदा०- **हतमाता। हतपिता। हतस्वसा। सुहोता।** लोक में ऋकारान्त मानकर '**नद्यृतश्च**' (अष्टा० 5.4.153) से कप् प्रत्यय होकर '**हतमातृकः**' बनता है, किन्तु वेद में कप् न होने के कारण '**हतमाता**' बना।।

वेदों में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग मिलते हैं-

1. **हतमाता।।**
2. **हतभ्राता।।**
3. **हतस्वसा।।**
   (क) **हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा।।**
   शौ० 2.32.4; 5.23.11
4. **सुहोता।।**
   (क) **अभि वां नूनमश्विना सुहोता।।** ऋ० 7.67.3
   (ख) **यः सुहोता स्वध्वरः।।** ऋ० 8.103.12; कौ० 1.110

'**हतपिता**' पद का प्रयोग वेदों में नहीं मिला। एवं **हतमाता, हतभ्राता, हतस्वसा तथा सुहोता** के दो-दो उदाहरण उपलब्ध हुए हैं।।

।। इति षष्ठ अध्यायः।।

षष्ठ अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

131. एकोचो द्वे प्रथमस्य।। अष्टा० 6.1.1

का०-अधिकारोऽयम्। एकाच् इति च, द्वे इति च, प्रथमस्येति च त्रितयमधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद् वक्ष्यामः प्राक् संप्रसारणविधानात् तत्रैकाचः प्रथमस्य द्वे भवत इत्येवं तद् वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (अष्टा० 6.1, 8) इति। तत्र धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे भवतः। जजागार। पपाच। इयाय। आर। एकाच इति बहुव्रीहिनिर्देशः। एकोऽच् यस्य सोऽयमेकाच् इत्यवयवेन विग्रहः। तत्र समुदायः समासार्थः अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवो भवतीति साच्कस्यैव द्विर्वचनं भवति। एवं च पच् इत्यत्र येनैवाचा समुदाय एकाच् तेनैव तदवयवोऽच्शब्दः पराद्वश्च। तत्र पृथगवयवैकाचो न द्विरुच्यन्ते। किं तर्हि? समुदायैकाजेव तथा हि सकृच्छास्त्रप्रवृत्सा सावयवः समुदायोऽनुगृह्यते। पपाचेत्यत्र प्रथमत्वं व्यपदेशिवद्भावात्। इयाय आरेत्यत्तैकाच्त्वमपि व्यपदेशिवद्भावादेव। द्विःप्रयोगश्च द्विर्वचनमिदम्, आवृत्ति संख्या हि द्वे इति विधीयते। तेन स एव शब्दो द्विरुच्चार्यते, न च शब्दान्तरं तस्य स्थाने विधीयते।।

सि०- एकाचो द्वे प्रथमस्य। (अष्टा० 6.1.1)। छन्दसि वेति वक्तव्यम्। यो जागार। दाति प्रियाणि।।

यह अधिकार सूत्र है। **'एकाचः'** (एक अच् वाले समुदाय का) **'द्वे'** (दो होते हैं द्वित्व होता है।) और **'प्रथमस्य'** (प्रथम का)- इन तीनों की अनुवृत्ति होती है। इस सूत्र से लेकर आगे सम्प्रसारणविधान (अष्टा० 6.1.12)

से पहले तक जो कहा जायेगा उसमें- प्रथम एकाच् का द्वित्व होता है- ऐसा समझना चाहिए। आगे **'लिटिधातोरनभ्यासस्य'** (अष्या॰ 6.1.8) कहा जायेगा। इसमें धातु के अवयव अनभ्यास = जिसकी अभ्यास संज्ञा नहीं की गई है उस के प्रथम एकाच् = एक अच् वाले समुदाय का द्वित्व होता है, दो बार उच्चारण किया जाता है। उदा॰-**जजागार**। 'जागृ' धातु के लिट् लकार में जागृ+लिट्=तिप्=णल्=अ। इसमें जाग् का द्वित्व जाग् जाग् ऋ + अ। प्रथम की अभ्यास संज्ञा और **'हलादि शेषः'** (अष्या॰ 7.4.60) से अभ्यास का आदि हल् शेष अन्य का लेप-जा जाग् ऋ+अ। अभ्यास का ह्रस्व-ज जाग् ऋ+अ, **'अचो' ञ्णिति** (अष्या॰ 7.2.115) से ऋ की वृद्धि, रपर-ज जाग् आर् अ= **जजागार**। यह सूत्र का मुख्य उदाहरण है, क्योंकि 'जागृ' में दो अच् होने से प्रथम एकाच् कथन सार्थक है। **पपाच। इयाय। आर।** **'लिटिधातोरनभ्यासस्य प्रथम एकाचो द्वे भवतः**-यहाँ 'धातोः' और 'एकाचः' इन दोनों में षष्ठी है। इनका सामान्याधिकरण्येन सम्बन्ध मानने पर-एक अच्वाली धातु का-ऐसा अर्थ होगा। फलतः पच् पठ् आदि का द्वित्व होगा, जागृ आदि का नहीं। साथ ही 'प्रथमस्य' की उपयोगिता भी समाप्त हो जायेगी। क्योंकि यह सापेक्ष शब्द है। यदि **'प्रथमस्य धातोः एकाचः'** ऐसा अर्थ किया जाये, तब तो प्रथम धातु भू का ही द्वित्व हो सकेगा। अतः केवल उसी के लिए सूत्र बनाना था। यदि **'एकाचः धातोः प्रथमस्य वर्णस्य'** ऐसा अर्थ करें, तो सहनिर्दिष्टों के समानाधिकरण्य का उच्छेद प्रसक्त होगा। इन तीन दोषों को देखकर यहाँ समानाधिकरण्य छोड़कर वैयधिकरण्य में षष्ठी माननी चाहिए धातु के अवयवभूत प्रथम एकाच् को दो बार द्वित्व होता है। 'एकाचः' यह बहुवीहिनिर्देश है। एक अच् है जिसका वह एकाच्-इस अवयव के साथ विग्रह होता है। इसमें समुदाय समास का अर्थ एक अच् वाला समुदाय है। और अवयव समुदाय के मध्य ही होता है। इसलिए अच् विशिष्ट का ही द्वित्व होता है। और इस प्रकार 'पच्' इसमें जिस अच् के कारण समुदाय एकाच् होता है, उसी अच् के कारण उस समुदाय का अवयव-अच् शब्द, 'प' शब्द और 'अ' शब्द भी एकाच् है अर्थात् पच् में तीन एकाच् संभव है। इनमें पृथक् अवयव एकाचों का द्वित्व नहीं कहा जाता है। तो किसका? समुदाय रूपी एकाच् का ही द्वित्व कहा जाता है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए-एक बार

द्वित्वविधायक शास्त्र की प्रवृत्ति से अवयवों सहित समुदाय अनुगृहीत हो जाता है, कार्ययुक्त हो जाता है। जैसे-वृक्ष अपनी शाखादि के साथ हिलता हुआ ही हिलता माना जाता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। **पपाच**-इसमें व्यपदेशिवद्भाव से प्रथमत्व मानकर द्वित्व करना चाहिए। अन्यथा पच् यहां तो एक ही एकाच् है। अकेले में ही प्रथम या द्वितीय आदि व्यवहार कैसे होगें? इसका समाधान '**व्यपदेशिवदेकस्मिन्**' परिभाषा करती है। एक में भी मुख्य के समान व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार '**इयाय**' तथा '**आर**' में क्रमशः 'इण्' 'ऋ' धातुयें एक अच् रूप ही हैं। इनमें समुदाय का व्यवहार = एकाचत्व का व्यवहार भी व्यपदेशिवद्भाव से ही होता है। यहाँ द्विर्वचन द्विष्प्रयोग = दो बार उच्चारण करना है, क्योंकि 'द्वे' इसके द्वारा आवृत्ति संख्या का विधान होता है इसलिये उस शब्द का ही दो बार उच्चारण किया जाता है न कि उसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द का विधान किया जाता है। प्रथमस्य यहाँ षष्ठी है। अतः '**षष्ठी स्थाने योगा**' (अष्टा० 1.1.49) सूत्र के कारण 'स्थाने' की उपस्थिति होने पर स्थान्यादेशभाव प्रसक्त होता है। फलतः 'जिघांसति' में 'हन्' धातु न हो सकने से '**अभ्यासाच्च**' (अष्टा० 7.3.55) के कुत्व नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना चाहिए कि यह शब्दान्तर का विधान नहीं है। अपितु उसी शब्दरूप की आवृत्ति संख्या का विधान है, वह दो बार उच्चारण किया जाता है। इसलिए कुत्वादि में बाध नहीं है।

यह सूत्र यद्यपि छान्दस् नहीं है पुनरपि भट्टोजिदीक्षित ने इसे छान्दस् वार्तिक के पूर्व संभवतः इसलिये रखा है कि आगामी छान्दस् सूत्रों में इसका अधिकार जा रहा है, अतः हमने भी इसका यहाँ विशेषार्थ दिखा दिया है।

'**छन्दसि वेति वक्तव्यम्**'-वेद में अनभ्यस्त धातु के प्रथम एकाच् का द्वित्व विकल्प से होता है। जागार। लोक में जजागार रूप बनता है। दाति।

प्रस्तुत वार्तिक के प्रयोग वेदों में प्राप्त होते हैं-

1. **जागार।।**

(क) **यो जागर तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।**
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।

ऋ० 5.44.14

(ख) **न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन।।**

शौ० 5, 19, 10

(ग) ऊर्ध्वस् स्वप्नेषु जागार ननु तिर्यङ्नि पद्यते।।

पै० 16.23.5

2. दाति।।

(क) दाति प्रियाणि चिद्वसु।। ऋ० 48.43

(ख) यतो भगः सविता दाति वार्यम्।। ऋ० 5.48.5

(ग) वाजी स्तुतो विदथे दाति वाजम्।। ऋ० 6.24.2

(घ) भगः दितिश्च दाति वार्यम्।। ऋ० 7.15.12।।

(ङ) स विशे दाति वार्यमियत्यै।। ऋ० 7.42.4

एवं इस वार्तिक के अनुसार 'जागार' का प्रयोग छः स्थलों पर तथा 'दाति' का प्रयोग 'पाँच' स्थलों पर हमें प्राप्त हुआ है।

132. तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य।। अष्टा० 6.1.7

का०-तुजादीनामिति प्रकार आदिशब्दः। कश्च प्रकारः? तुजेर्दीर्घोऽभ्यासस्य न विहितः दृश्यते च। ये तथा भूतातास्ते तुजादयस्तेषामभ्यासस्य दीर्घः साधुर्भवति। तूतुजान्ः (ऋ० 1.3.6) (शौ० सं० 4.11.1)। स तूताव (ऋ० 1.94.2)। दीर्घश्चैषां छन्दसि प्रत्ययविशेष एवं दृश्यते, ततोऽन्यत्र न भवति। तुतोज शबलान् हरीन्।।

सि०-तुजादिराकृतिगणः। प्र भरा तूतुजानः (ऋ० 1.61.12)। सूर्ये मामहानः। दाधार यः पृथिवीम् (ऋ० 3.32.8) स तूताव (ऋ० 1.94.2)।।

'तुजादीनाम्' में 'आदि' शब्द 'प्रकार' अर्थ में है। और वह 'प्रकार' अर्थ क्या है? तुज् धातु के अभ्यास का दीर्घ नहीं किया गया है, परन्तु प्रयोग में दिखाई देता है, जो इस प्रकार के हैं वे तुजादि हैं, उनके अभ्यास् का दीर्घ साधु होता है। उदा०-तूतुजानः। तुज्+लिट् = कानच् = आन, द्वित्व, अभ्यासकार्य लोप तुतुज्+ आन् प्रस्तुत सूत्र से अभ्यास का दीर्घ करने पर तूतुजान। सूत्र में 'अभ्यास' के उल्लेख के कारण लिट् लिया जाता है। क्योंकि उसी में द्वित्व और पूर्व की अभ्यास संज्ञा संभव है। मामहानः। दाधान। मीमाय। दाधार। तूताव। इन धातुओं के वैदिक रूपों में प्रत्ययविशेष के परे रहते ही दीर्घ देखा

जाता है। अतः उनसे भिन्न में नहीं होता है– **'तुतोज शबलान् हरीन्'** यह लौकिक रूप है। यद्यपि वेद में व्यत्यय के बल से प्रस्तुत कार्य सम्भव है, सूत्र ही आवश्यकता नहीं है, फिर भी उस कार्य की स्पष्टता के लिये यह सूत्र बनाया गया है।

प्रस्तुत सूत्र के उपलब्ध प्रयोग वेदसंहिता से हम उद्धृत कर रहे हैं–

1. **चाक्लृप्रे।।**
   (क) **तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः।।** ऋ० 10.130.5
   (ख) **चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्याः।।** ऋ० 10.130.6
2. **गृ–जागार।।**
   (क) **यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।**
   (ख) **न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन।।** शौ० 5.18.10
   (ग) **ऊर्ध्वस् स्वप्नेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।।** पै० 16.23.5
3. **गृध्–जागृधुः।।**
   (क) **निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः।।** ऋ० 2.23.16
4. **तु–तूताव।।**
   (क) **स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः।।** ऋ० 1.84.2
5. **तुज्–तूतुजानः।।**
   (क) **तूतुजानो महेम तेऽश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः।।** ऋ० 8.13.11
   (ख) **यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्।।** शौ० 20.84.1
6. **तृप्–तातृपुः।।**
   (क) **उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः।।** शौ० 19.9.13
7. **तृष्–तातृषुः।।**
   (क) **ये तातृषुर्देवत्रा जेहमानाः।।** ऋ० 10.15.9; मै० 4.10.6

8. धृ-दाधार।।

(क) एको दाधार भुवनानि विश्वा।। ऋ० 1.154.4

(ख) दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमाम्।। ऋ० 3.32.8

(ग) दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः।। तै० 1.2.13.2

(घ) यत् सायं जुहोति रात्र्यै तेन दाधार।। मै० 1.8.1

(ङ) यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसम्।। शौ० 4.35.3

9. नम्-नानाम।।

(क) विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगत्।। ऋ० 4.25.2

(ख) को नानाम वचसा सोम्याय।। ऋ० 4.25.210

10. मह्-मामहानः।।

(क) समिद्धे अग्नावधि मामहानः।।

मा० 17.55; तै० 4.6.3.2

11. मह-मामहे।।

(क) कोन्वत्र मरुतो मामहे वः।। मै० 4.11.3; काठ० 9.18

12. मृज-मामृजे्।।

(क) स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यः।। कौ० 2.16.90

(ख) समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः।। जै० 3. 31.11

13. मामृजुः।।

(क) आपस्त्वामश्विनौ त्वामृषयः सप्त मामृजुः।। मै० 4.1.2

14. रध्-रारधुः।।

(क) शश्वन्तो हि शत्रवो रारधुष्टे।। ऋ० 7.18.18

15.परि मृश्-परिमामृशुः।।

(क) यो वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः।।

ऋ० 8.9.3; शौ० 20.139.3

133. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 6.1.34

का०-ह्व इति वर्तते। छन्दसि विषये ह्वयतेर्धातोर्बहुलं संप्रसारणं भवति। इन्द्राग्नी....हुवे (ऋ० 5.46.3)। देवीं सरस्वतीं हुवे। ह्वेञो लट्यात्मनेपदोत्तमैकवचने 'बहुलं छन्दसि' (2.4.73) इति शपो

लुकि कृते संप्रसारणमुवङादेशश्च। न च भवति–ह्वयामि मरुतः शिवान्। ह्वयामि (विश्वान्) देवान् (ऋ० 7.34.8)।।

सि०–ह्वः संप्रसारणं स्यात्। इन्द्रमाहुव ऊतये।। वा० 'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि'।। ऋच्छब्दे परे त्रे।। सम्प्रसारणमुत्तरपदादेर्लोपश्चेति वक्तव्यम्। तृचं सूक्तम्। छन्दसि किम्? त्र्यृचानि।। रयेर्मतौ बहुलम्।। रेवान्। रयिमान्पुष्टिवर्धानः।।

'ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च' (अष्ट्या० 6.1.33) से 'ह्वः सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में ह्वेञ् धातु का सम्प्रसारण बहुल रूप से होता है। उदा०–इन्द्राग्नी.....हुवे। देवीं सरस्वतीं हुवे। यहाँ 'ह्वेञ्' धातु से लट् में आत्मनेपद उत्तमपुरुष एक वचन में 'बहुलं छन्दसि' (अष्ट्या० 2.4.76) सूत्र से शप् का लुक् कर देने पर संप्रसारण और उवङ् आदेश होता है।। और नहीं भी होता है–ह्वयामि मरुतः शिवान्। ह्वयामि विश्वान् देवान्। लोक में सन् परक तथा चङ्परक 'णि' परे रहते ही 'ह्वेञ्' का सम्प्रसारण सम्भव है, किन्तु वेद में बिना इनके भी होता है। सम्प्रसारण न होने की स्थिति में ह्वयामि।। ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि।। यह वार्तिक है, वेद में 'त्रि' का संप्रसारण हो 'ऋच्' शब्द के परे रहने पर तथा उत्तरपद ऋच् के आदि वर्ण ऋ का लोप हो। तृचम् साम।। वेद में हो– ऐसा क्यों कहा गया? क्योंकि वेद से भिन्न स्थलों में सम्प्रसारण न होकर 'त्र्यृचानि' यह रूप यण् सन्धि से बना है।। रयेर्मतौ बहुलम्।। यह भी वार्तिक है। मतुप् प्रत्यय परे रहते 'रयि' शब्द के 'य' का बहुल प्रकार से सम्प्रसारण होता है। रेवान्।। सम्प्रसारण के अभाव में 'रयिमान्' बनेगा।

प्रस्तुत सूत्र तथा वर्तिक के प्रयोग वेदसंहिताओं में उपलब्ध होते हैं–

1. हुवे।।
   - (क) इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे।। ऋ० 1.17.7
   - (ख) अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे।। ऋ० 1.30.9
   - (ग) हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिम्।। ऋ० 5.46.3
   - (घ) हुवे देवानां जनिमानि सत्तः।। ऋ० 7.42.7।।
   - (ङ) हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्।। तै० 1.7.12.5

(च) आ सवंसवितुर्यथा भगस्येव भुजिंहुवे।। मै० 4.11.2

(छ) हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यक्रन्द्याँ सहः।। काठ० 40.14

(ज) हुवे भरं न कारिणम्।। कौ० 2.687।।

(झ) यं ते पूर्वं पिता हुवे।। कौ० 2.744 शौ० 3.8.2

(ट) हुवे सोमं सवितारं नमोभिः।। शौ० 3.8.3

(ठ) देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम्।। शौ० 7.109.7

2. हुवेम।।

(क) यद्द्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये।।

ऋ० 8.9.13; शौ० 20.141.3

3. हुवेम।।

(क) हुवेम वाजसातये।। ऋ० 6.57.1 कौ० 1.202

(ख) भोजं त्वामिन्द्र वयं हुवेम।। ऋ० 2.17.8

(ग) शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्।। ऋ० 3.50.5 कौ० 1.329

(घ) प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम।। ऋ० 7.41.1 मा० 34.34

(ङ) देवं देवं हुवेम वाजसातये गृणन्तौ देव्या धिया।।

ऋ० 8.27.13; मा० 33.91

(च) अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम।। मा० 12.29।।

(छ) अमृतस्य पत्नीभवसे हुवेम।। मा० 21.5

(ज) उग्रं सहोदमिह तंहुवेम।। का० 7.18.1

(झ) मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।। का० 8.19.1 तै० 4.6.2.6

(ञ) तं सरस्वन्तमवसे हुवेम।। तै० 3.1.11.3 मै० 4.10.1

(ट) यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम।। काठ० 39.15

(ठ) वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम।। शौ० 20.96.5

(ड) तं वां रथं वयमद्या हुवेम।। शौ० 20.143.1

4. हुवेमहि।।

(क) मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि।। कौ० 1.380

'ऋचि त्रेरूत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि' इस वार्तिक के अनुसार उपलब्ध प्रयोग-

1. तृच (त्रिचः)।।

(क) **महि त्रीणामवोऽस्त्वित्येष प्राजापत्यस्त्रिचः।।** काठ० 7.9

यहाँ पूर्वोक्त वार्तिक से '**त्रिचः**' में सम्प्रसारण नहीं हुआ। परन्तु '**ऋच्**' के '**ऋ**' का लोप होकर '**त्रिचः**' यह रूप बना है।

2. तृचम्।।

(क) **अथो यदेतं तृचमन्वाह सन्तत्यै।।** तै० 1.5.8.3

(ख) **यदेतं वृचमन्वाह यज्ञमेव तत्।।** तै० 2.5.8.2

3. तृचान्।।

(क) **त्रींस्तृचाननु ब्रूयाद्राजन्यस्य त्रयो वा अन्ये राजन्यात्।।** तै० 2.5.10.1

4. तृचेन।।

(क) **यदेतेन गायत्रेण तृचेनोपतिष्ठतः।।** मै० 1.5.10

(ख) **प्राजापत्येन तृचेनोपतिष्ठते।।** मै० 1.5.11

5. तृचेभ्यः।।

(क) **तृचेभ्यः स्वाहा।।** शौ० 19.23.19

'**रयेर्मतौ बहुलम्**' – इस वार्तिक के अनुसार प्राप्त प्रयोग–

6. रेवान्।।

(क) **यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः।।** ऋ० 1.18.2 मा० 3.29; का० 3.3.21; मै० 1.5.4; काठ० 7.2

(ख) **स रेवान्याति प्रथमो रथेन।।** ऋ० 2.27.12

(ग) **स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवान्।।** ऋ० 7.1.23

(घ) **यस्ते रैवाँ अदाशुरिः प्रममर्ष मघत्तये।।** ऋ० 8.45.15

(ङ) **यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते।।** ऋ० 10.60.4

(च) **यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम्।।** ऋ० 10.160.4

(छ) **रेवांइन्द्रेवतः स्तोता स्यात् त्वावतो मघोनः।।** तै० 2.2.12.8; का० 2.18.04

(ज) **स रेवाँ इव विशपतिः।।** कौ० 2.16.65

(झ) अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः।।

शौ० 20.128.8

(ञ) सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँन्त्सुप्रीतिदिश्ययः।।

शौ० 20.128.9

2. रेवता।।

(क) न रेवता पणिनां सख्यमिन्द्रः।। ऋ० 4.25.7

(ख) रेवतौषधीभ्या औषधीर्जिन्वा।। मै० 2.8.8

3. रेवद्भिः।।

(क) रेवद्भिरग्ने वितरं वि भाहि।। ऋ० 6.1.11; मै० 4.13.6

वेदसंहिताओं में 'हुवे' के तेरह, 'हुवेय' के दो, 'हुवेम' के उन्नीस, 'हुवेमहि' का एक स्थल पर सूत्रानुसार प्रयोग प्राप्त हैं। प्रथम वार्तिक के अनुसार सात तथा द्वितीय वार्तिक के अनुसार उन्नीस स्थलों पर हमें उदाहरण मिले हैं।।

134. चायः की।। अष्टा० 6.1.35

का०-बहुलं छन्दसीति वर्तते। चायतेर्धातोश्छन्दसि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति। वियन्ता न्यान्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् (ऋ० 1.164.38)। लिट्युसि रूपम्। न भवति-अग्निर्ज्योतिर्निचाय्य (मा० सं० 11.1)।।

सि०- न्यान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् (ऋ० 1.164.38)।। लिटि उसि रूपम्। बहुलग्रहणानुवृत्तेर्नेह-अग्निर्ज्योतिर्निचाय्य।।

पूर्व सूत्र 'बहुलं छन्दसि' (अष्टा० 6.1.34) की अनुवृत्ति आ रही है। चायृ धातु को वेदविषय में बहुल करके 'की' आदेश हो जाता है। 'निचिक्युः' यह निपूर्वक चायृ धातु के लिट्लकार के 'उस्' का रूप है। निचाय्य यहाँ बहुल कहने के कारण 'की' आदेश होता है। नहीं भी होता है- 'निचाय्य' रूप 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होकर बना है।

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग मिले हैं-

1. नि चायृ- की निचिकेषि।।

(क) विश्वं ह्युऽग्र निचिकेषि दुग्धम्।। शौ० 1.10.2

(ख) विश्व यद् देव निचिकेषि दुग्धम्।। पै० 1.9.2

2. चिक्यतुः।।

(क) नि चिन्मिषन्ता निचिरा नि चिक्यतुः।। ऋ० 8.25.9

3. नि–चिक्युः।।

(क) न्यान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्।।

ऋ० 1.164.38; शौ० 9.15.16; पै० 16.69.7

(ख) तासां नि चिक्युः कवयो निदानम्।। ऋ० 10.114.2

(ग) इन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा।। ऋ० 10.124.9

4. निचिकीषति।।

(क) अग्निंसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषति।। मै0 2.7.2

5. निचिक्यत्।।

(क) अविर्ऋजीको विदथा नि चिक्यत्।। ऋ० 4.38.4

(ख) इन्द्रेण गुप्तो विदथा नि चिक्यत्।। शौ० 5.20.12

(ग) इन्द्रेण क्लृप्तो विदथा निचिक्यत्।। पै० 9.24.12

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के बारह प्रयोग उपलब्ध हुए हैं।।

135. अपस्पृधेथामानृचुहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशी-राशीर्ताः।। अष्टा० 6.1.36

का०–छन्दसीति वर्तते। अपस्पृधेथामिति 'स्पर्ध संघर्षे' (भ्वा० 3) इत्यस्य लङि आथामि द्विर्वचनं रेफस्य संप्रसारणमकारालोपश्च निपातनात्। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् (ऋ० 6.69.8)। अस्पर्धेथामिति भाषायाम्। अपर आह–स्पर्धेरपपूर्वस्य लङ्याथामि संप्रसारणकारलो- पश्च निपातनात्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (अष्टा० 6.4.75) इत्याडागमाभावः। अत्र प्रत्युदाहरणमपास्पर्धेथामिति भाषायाम्। आनृचुरानृहुरिति। 'अर्च पूजायाम्' (भ्वा० 120) 'अर्ह पूजायाम्' (भ्वा० 492)? इत्यनयोर्धात्वोर्लिट्युसि संप्रसारणमकारलोपश्च निपातनात्। ततो द्विर्वचनमुदरत्वम् 'अत आदेः' (अष्टा० 7.4.70) इति दीर्घत्वम्। 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (अष्टा० 7.4.71) इति नुडागमः। य उग्रा

अर्कमानृचुः (ऋ० 1.19.4)। न वसून्यानृहुः (शौ० सं० 2. 35.1)। आनर्चुः, आनर्हुरिति भाषायाम् चिच्युषे। 'च्युङ् गतौ' (भ्वा० 684) इत्यस्य धातोर्लिटि सेशब्देऽभ्यासस्य संप्रसारणमनिट् च निपातनात्। चिच्युषे (ऋ० 4.30.22)। चुच्युविष इति भाषायाम्। तित्याज। 'त्यज् हानौ' (भ्वा० 712) इत्यस्य धातोर्लिट्यभ्यासस्य संप्रसारणं निपात्यते। तित्याज (ऋ० 10.71.6)। तत्याजेति भाषायाम्। श्राता इति। 'श्रीञ् पाके' (क्रया० 3) इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां श्राभावः। श्रातास्त इन्द्र सोमाः (मै० सं० 1.9.1)। श्रितमिति। तस्यैव श्रीणातेर्ह्रस्वत्वम्। सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० 9.12.3)। श्रिता नौ गृहाः। अनयोः श्राभावश्रिभावयोर्विषय- विभागमिच्छन्ति सोमेषु बहुषु श्राभाव एव, अन्यत्र श्रिभाव इति। सोमादन्यत्र क्वचिदेकस्मिन्नपि श्राभावो दृश्यते। यदि श्रातो जुहोतन (ऋ० 10.179.1)। तस्य श्राता इति बहुवचनस्याविवक्षिततत्वादुप- संग्रहो द्रष्टव्यः। आशीराशीर्त इति। तस्यैव श्रीणातेराङ्पूर्वस्य क्विपि निष्ठायां च शीरादेशः, निष्ठायाश्च नत्वाभावो निपातनात्। तामाशीरा दुहन्ति। आशीर्त ऊर्जम्। क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः (ऋ० 8.2.9)।।

सि०-एते छन्दसि निपात्यन्ते। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् (ऋ० 6.69.8)। स्पधेः लङि आथाम्। अर्कमानृचुः (ऋ० 1.19.4)। वसून्यानृहु (शौ० सं० 2.35.1)। अर्चेरर्हेश्च लिटि उसि। चिच्युषे (ऋ० 4.30.22)। च्युङो लिटि थासि। यस्तित्याज (ऋ० 10.71.6)। त्यजेर्णलि। श्रातास्त इन्द्र सोमाः (मै० सं० 1.9.1)। श्रिता नो गृहाः। श्रीञ् पाके निष्ठायाम्। आशिरं दुह्रे (ऋ० 3. 53.14)। मध्यत आशीर्तः (ऋ० 8.2.9)। श्रीञ् एवं क्विपि निष्ठायां च।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् 'छन्दसि' 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अपस्पृधेथाम्-यह 'स्पर्ध संघर्षे' इस धातु का लङ् लकार में 'आथाम्' (मध्यम पुरुष द्विवचन) में रेफ का संप्रसारण तथा अकार लोप निपातन से

होता है। लोक में **'अस्पर्धेथाम्'** यह बनता है। दूसरे कहते हैं कि अप-पूर्वक स्पर्ध धातु से लङ् लकार में **'आथाम्'** प्रत्यय में संप्रसारण और आकार का लोप निपातन से होता है। **'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि'** (अष्टा० 6.4.75) से अट् आगम का आभाव होता है। लोक में **'अपास्पर्धेथाम्'** रूप बनता है। **आनृचुः**-**अर्च पूजायाम्**, **आनृहुः**-**अर्ह पूजायाम्** अर्थ में इन धातुओं के लिट् में उस् सम्प्रसारण और आकार का लोप निपातन से होता है। इसके बाद द्विवचन, ऋ का अत्व, हलादिशेषः, **'अत आदेः'** से दीर्घ, **'तस्मान्नुड् द्विहलः** (अष्टा० 7.4.71) से नुट् आगम। लोक में **आनर्चुः**, **आनर्हुः** बनते हैं। **'चिच्युषे'** में **'च्युङ् गतौ'** धातु से लिट् लकार के **'से'** (थासः से) परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण तथा अनिटत्व निपातन किया जाता है। च्यु च्यु से, निपातन से संप्रसारण होकर च् इ उच्यु से = चिच्यु से = चिच्युषे बना। **'आर्धधातुकस्येडवलादेः'** (अष्टा० 7.2.35) से इट् आगम प्राप्त था निपातन से अनिट्त्व भी कर दिया। लोक में **'चुच्युविषे'** बनेगा। **'तित्याज'** में त्यज् से लिट् के णल् परे रहते अभ्यास को संप्रसारण निपातन किया गया। लोक में **'तत्याज'** बनता है। श्राता, में श्रीञ् धातु को निष्ठा (क्त) परे रहते श्रा भाव निपातन किया है। श्रितम् में-श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते ह्रस्वत्व निपातन है। आशीरा में आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को क्विप् परे रहते शीर् आदेश निपातन है। **आशीर्त्ताः** में आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते शीर्भाव, तथा **'रदाभ्यां निष्ठातो०** (अष्टा 8.42.2) से प्राप्त निष्ठा के त को न का अभाव निपातन किया गया है।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **अपस्पृधेथाम्।।**

   (क) **इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्।।**

   ऋ० 6.69.8 काठ० 12.14 तै० 3.2.11.2; 7.1.6.7;
   मै० 2.4.4; पै० 20.15.3; शौ० 7.45.1

2. **आनृचुः।।**

   (क) **य उग्रा अर्कमानृचुः।।** ऋ० 1.19.5; पै० 6.17.5

   (ख) **ते स्याम् आनृचुः।।** ऋ० 5.6.8।।

(ग) यस्मा अर्कं सप्तशीर्षाणमानृचुः।। ऋ० 8.51.4

(घ) विप्रासो अर्कमानृचुः।।

ऋ० 8.51.10; शौ० 20.119.2; कौ० 2.16.10; जै० 4.19.2

(ङ) यदानृचुस्तेनेयं सर्पराज्ञी।। तै० 7.3.1.3

3. आनृहुः।।

(क) ये भक्षयन्तो न वसून्यानृहुः।। तै० 3.2.8.3

4. चिच्युषे।।

(क) यस्ता विश्वानि चिच्युषे।। ऋ० 4.30.22

5. तित्याज।।

(क) यस्तित्याज सचिविदं सखायम्।। ऋ० 10.71.6

6. श्राताः।।

(क) श्रातास्त इन्द्र सोमा।। मै० 1.9.1 काठ० 9.8

7. श्रातः।।

(क) यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन।।

ऋ० 10.179.1; शौ० 7.75.1

(ख) श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि।।

ऋ० 10.179.2; शौ० 7.75.2

(ग) श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रातं मन्ये तदृतं नवीयः।।

ऋ० 10.179.3; शौ० 7.75.3

8. अधि-श्री अधिश्रितम्।।

(क) यद्यधिश्रितंस्कन्देद्यद्युद्वास्यमानम्।। मै० 1.8.3

(ख) वारुणमधिश्रितम्।। मै० 1.8.10।।

(ग) पुरोडाशं वा अधिश्रितम्।। मै० 4.1.9; काठ० 31.7

(घ) दिवि चन्द्रम् अधिक्षितम्।। पै० 20.555

9. आशिरम्।।

(क) विश्वा इत्ते धेनवो दुह्र आशिरं घृतं दुह्रत आशिरम्।।

ऋ० 1.114.6

(ख) नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।। ऋ० 3.53.14

(ग) शुक्रा आशिरं याचन्ते।। ऋ० 8.2.10; जै० 4.21.9

(घ) सोमं ररत आशिरम्।। ऋ० 8.31.2

(ङ) इन्द्राय गाव आशिरम्।। ऋ० 8.69.6; शौ० 20.22.6

(च) हरे सृजान आशिरम्।। ऋ० 9.64.14; कौ० 2.842

(छ) इन्द्रायाऽऽशिवरं सह कुम्भ्याऽदात्।। तै० 3.2.8.5

(ज) आशिरमव नयति सशुक्रत्वायाथो सं भरति।।
तै० 6.1.6.5

(झ) धेन्वा क्रीणात्याशिरमेवास्य क्रीणाति।। मै० 3.7.7

(ञ) मन्थन्त्याशिरमिन्द्रे वा एतदग्रा आगते घोषमकुर्वता।।
मै० 4.6.8

(ट) यत् तृतीयसवन आशिरभवनयन्ति।। काठ० 23.10

(ठ) घृतं दुहतं आशिरम्।। कौ० 1.187।।

(ड) सत्यमाशिरं परमे व्योमनि।। कौ० 1.560

(ढ) स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानः।। शौ० 20.91.6

10. आशीर्तः।।

(क) शुचिरसि पुरुनिष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः।।
ऋ० 8.2.9; जै० 4.16.10

136. खिदेश्छन्दसि।। अष्टा० 6.1.52

का०–विभाषेति वर्तते। 'खिद दैन्ये' (रुधा० 12) इत्यस्य धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विभाषा आकार आदेशो भवति। चित्तं चखाद। चित्तं चिखेद। छन्दसीति किम्? चित्तं खेदयति।।

सि०–खिद दैन्ये। अस्यैच आद्वा स्यात्। चखाद। चिखेदेत्यर्थः।।

इस सूत्र में 'विभाषा लीयतेः' (अष्ट्या० 6.1.51) से 'विभाषा' की, 'आदेच उपदेशेऽशिति' (अष्ट्या० 6.1.44) से 'आदैचः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'खिद दैन्ये' धातु के एच् के स्थान में वेदविषय में विकल्प से आत्व होता है। उदा0–चखाद। खिद् धातु को लिट् लकार में गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करने पर द्वित्व एवं अभ्यासकार्य करके 'चखाद' बना। पक्ष में

विकल्प से '**चिखेद**' हो गया। वेदविषय में इसका क्या फल है? **चित्तं खेदयति**। यह लौकिक प्रयोग है, अतः आत्व नहीं होता है।

यद्यपि वेदसंहिताओं में खिद् धातु के **खिदसः** (ऋ० 5.19.1); **खिद्वः** (ऋ० 6.22.4; शौ० 20.36.4); **खेदया** (ऋ० 8.72.8; 77.3); **खेदाम्** (ऋ० 10.116.4) पदों का प्रयोग हुआ है, किन्तु प्राप्त-वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार '**चिखेद**' '**चखाद**' पदों का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों ने जो उदाहरण दियें है, उनका स्थान अज्ञात है।।

137. शीर्षंश्छन्दसि।। अष्टा० 6.1.60

का०-शीर्षन्निति शब्दान्तरं शिरः शब्देन समानार्थं छन्दसि विषये निपात्यते, न पुनरयमादेशः शिरः शब्दस्य, सोऽपि हि छन्दसि प्रयुज्यत एव। शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं हरन्ति। यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम् छन्दसीति किम्? शिरः।।

सि०-शिरःशब्दस्य शीर्षन् स्यात्। शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतः (ऋ० 7.66.15)।।

शीर्षन् शब्द वेदविषय में निपातन किया जाता है। शिरस् शब्द का पर्यायवाची यह शीर्षन् शब्द पृथक् निपातित है, न कि शिरस् को शीर्षन् आदेश निपातित किया है। '**शीर्ष्णा**' यह पद तृतीया विभक्ति का है तथा '**शीर्ष्णः**' यह षष्ठी का। '**अल्लोपोऽनः**' (अष्टा० 6.4.134) से अकार लोप हो गया। वेद में इसका क्या फल है? **शिरः**। यहाँ लौकिक प्रयोग में '**शीर्षन्**' निपातन नहीं होता है।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के कतिपय प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **शीर्ष्णः।।**
   - (क) **शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य।।** ऋ० 1.164.7
   - (ख) **शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिम्।।** ऋ० 7.66.15
   - (ग) **शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।।**
     ऋ० 10.90.14; मा० 31.13; का० 35.1.13; शौ० 19.6.8

(घ) तस्मादधस्ताच्छीर्ष्णः प्राणाः।। तै० 6.2.11.1

(ङ) तस्मात् पुरुषः सर्वाण्यन्यानि शीर्ष्णोऽङ्गानि।। तै० 7.5.8.2

(च) तस्मात् शीर्ष्णश्छिन्नाद्यो रक्षोऽक्षरत्।। मै० 2.5.6

(छ) यथा शीर्ष्णः कपालान्येवं कपालानि।। मै० 4.1.9

(ज) यदिदमुत्तरार्धँ शीर्ष्णो विष्णो रराटमसि।। काठ० 25.8

(झ) अग्रे शीर्ष्णः शमोऽप्यात्।। काठ० 1.14.3

(ञ) आ शीर्ष्णः शमोऽप्यात्।। शौ० 1.14.3

(ट) शीर्ष्णस्ते असिताः परि।। शौ० 6.136.2

2. शीर्ष- शीर्ष्णम्।।

(क) अलवतेर् आर् शीर्ष्णम् अथो अस्या यन् मुखम्।। पै० 11.2.5

3. शीर्ष्णा।।

(क) शीर्ष्णाशीर्ष्णोपवाच्यः।। ऋ० 1.132.2

(ख) शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम्।। ऋ० 10.26.13

(ग) शीर्ष्णाऽग्नेः शिर उप दधामि।। तै० 5.5.8.2

(घ) शीर्ष्णा हि सोमं क्रीत हरन्ति।। मै० 3.6.8

(ङ) सोममेकेन शीर्ष्णापि बदन्।। काठ० 12.10।।

(च) यच्छीर्ष्णा हरेयुः।। काठ० 24.6

(छ) शीर्ष्णा शिरो वक्षसा वक्षो अर्धयत्।। जै० 4.10.4

(ज) शीर्ष्णा हरति धाणिकाम्।। शौ० 20.136.10

4. शीर्ष्णाम्।।

(क) शीर्ष्णामयातयामत्वाय प्राजापत्येन संस्थापयति।। तै० 5.18.3

5. शीर्ष्णे।।

(क) शीर्ष्णेशीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता।। ऋ० 7.18.24

(ख) मुखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।। मा० 37.3.6

एवं वेदसंहिताओं में इस सूत्र के छब्बीस प्रयोग उपलब्ध होते हैं।।

138. वा छन्दसि।। अष्टा० 6.1.106

का०-दीर्घात् छन्दसि विषये जसि च इचि च परतो वा पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति। मारुतीश्चतस्त्रः (काठ० सं० 11.10) पिण्डीः। मारुत्यश्चतस्त्रः। पिण्ड्यः। वाराही उपानहा (मै० सं० 4.4.6)। वाराह्यौ उपानह्यौ (लौ० गृ० 3.7)।।

सि०-दीर्घाज्जसि इचि च पूर्वसवर्णदीर्घो वा स्यात्। वाराही (मै० सं० 4.4.6)। वाराह्यौ (लौ० गृ० 3.7)। मानुषीरीळते विशः (ऋ० 5.8.3)। उत्तरसूत्रद्वयेऽपीदं वाक्यभेदेन संबध्यते, तेनामि पूर्वत्वं वा स्यात्। शमीं च शम्यं च। सूर्म्यं सुषिरामिव (ऋ० 8.69.12)। (क) सम्प्रसारणाच्च (6.1.108)। इति पूर्वरूपमपि वा। इज्यमानः-यज्यमानः।।

इस सूत्र में **'दीर्घाज्जसि च'** (अष्या० 6.1.105) की, **'नादिचि'** (अष्या० 6.1.104) से **'इचि'** की **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** की **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (अष्या० 6.1.101)। से **'दीर्घः'** की **'एकः पूर्वपरयोः'** (अष्या० 6.1.81) की, **'संहितायाम्'** (अष्या० 6.1.70) की अनुवृत्ति आ रही है। दीर्घ से उत्तर जस् तथा इच् प्रत्याहार परे रहते वेदविषय में पूर्वपर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश विकल्प से होता है। पूर्वसूत्र से नित्य निषेध प्राप्त था, उसका विकल्प करने से यहाँ विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है। **मारुतीः, पिण्डीः** आदि में जस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ है, तथा **मारुत्यः पिण्ड्यः** आदि में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हुआ है, सो यणादेश हो गया। **'औ'** परे रहते वाराही उपानही के **'वाराह्यौ' 'उपानह्यौ'** रूप बने हैं। इसी प्रकार **शमीम्। शम्यम्। सूर्म्यम्** भी बने।।

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग वेदों में प्राप्त होते हैं-

1. **शमीम्।।**
   - (क) **यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात्।।** ऋ० 5.42.10
   - (ख) **यस्याजुषन्नमस्विनः शमीमदुर्मखस्य वा।।** ऋ० 8.75.14
2. **सूर्म्यम्।।**
   - (क) **अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।।**
     ऋ० 8.69.12; शौ० 20.92.9

139. शेश्छन्दसि बहुलम्।। अष्टा० 6.1.70

का०-शि इत्येतस्य बहुलं छन्दसि विषये लोपो भवति। या क्षेत्रा। या वना (शौ० सं० 14.27)। यानि क्षेत्राणि (शौ० सं० 14.27)। यानि वनानि।।

सि०-लोपः स्यात्। या ते गात्राणाम्। ता ता पिण्डानाम्।। समन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्।। अपां त्वेमन्। अपां त्वोद्मन्।।

सूत्र में '**लोपो व्योर्वलि**' (अष्ट्या० 6.1.64) से '**लोपः**' की अनुवृत्ति आ रही है। शि का बहुल करके वेदविषय में लोप हो जाता है। '**जश्शसोः शि**' (अष्ट्या० 7.1.20) से जो शि होता है, उसका यहाँ विधान है। लोप करने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण से '**नपुसंकस्य झलचः**' (अष्ट्या० 7.1.72) से 'नुम्' होकर, तथा '**सर्वनामस्थाने:०**' (अष्ट्या० 64.8) से नकार लोप होकर 'या' बना। बहुल कहने से जिस पक्ष में शि का लोप नहीं होगा, तो पूर्ववत् '**त्यदादीनामः**' (अष्ट्या० 7.2.102) आदि सूत्र लगकर 'यानि' बना।। **एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्।।** वेद में अवर्णान्त (अ या आ) पद से परे 'एमन्' आदि शब्दों के रहने पर पररूप एकादेश होता है। यहाँ 'एमन्' एकारादि है, आदिषु पद से ओकारादि पद भी लिये जायेंगे, यथा- **ओद्मन्**। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में '**समुद्रस्येमँस्त्वेमँस्त्वोद्मन्निति च**' (वा० प्रा० 4.56) **समुद्रस्येमन्, त्वेमन्, त्वोद्मन्** में अ या आ से परे एकार या ओकार मिलकर पररूप एकादेश हो जाता है।।

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोग मिलते हैं-

1. **एता।।**
   - (क) **नाकिष्ट एता व्रता मिनन्ति।।** ऋ० 1.68.4
   - (ख) **एता वो वशम्युद्यता यजत्रा।।** ऋ० 2.31.7
   - (ग) **एता विश्वा विदुषे तुभ्यम्।।** ऋ० 4.1.16
   - (घ) **एता ज्यौत्नानि ते कृता।।** ऋ० 8.77.9
   - (ङ) **एता त्या ते श्रुत्यानि केवला।।** ऋ० 10.138.6
   - (च) **एता ते अहन्ये नामानि देवेभ्यः।।** मा० 8.43
   - (छ) **तस्मादेता अबद्धा अस्थन्त्सा।।** मै० 4.2.13
   - (ज) **एता ते अग्न उचथानि वेधः।।** मै० 4.14.15

(झ) प्रजापते न हि त्वदन्यः एता।। काठ० 158

2. काव्या।।

(क) परि विश्वानि काव्या।।

ऋ० 2.5.3; मै० 2.13.5; कौ० 2.9.4

(ख) त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषाः।।

ऋ० 4.11.3; काठ० 21.14

(ग) अधा हि काव्या युवम्।। ऋ० 5.66.4

(घ) स मुदा काव्या पुरु विश्वं भूमा।। ऋ० 8.39.7

(ङ) परि यत्काव्या कविर्नृम्णा।। ऋ० 9.7.4; कौ० 2.11.31

(च) नि काव्या वेधसः शश्वतः।। तै० 2.2.12.1

(छ) अभि प्रियाणि काव्या।। जै० 4.7.5

3. जीविता।।

(क) वि सदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा।। ऋ० 1.113.6

(ख) अनूचीना जीविता मानुषेभ्यः।।

ऋ० 4.54.2; मा० 33.54; का० 32.4.11

4. ता।।

(क) ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ।।

ऋ० 1.162.19; मा० 25.42 तै० 4.6.9.3

5. ध्रुवा।।

(क) ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत।। ऋ० 1.36.5

(ख) विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा।। ऋ० 2.5.4

(ग) वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणाम्।। ऋ० 8.17.14

6. वना।।

(क) मृगा इव हस्तिनः खादथा वना।। ऋ० 1.64.7

(ख) आ यो वना तातृषाणो न भाति।। ऋ० 2.4.6

(ग) वना वृश्चन्ति शिक्वसः।। ऋ० 6.2.6; तै० 3.1.11.6

(घ) वना वनन्ति धृषता रुजन्तः।। तै० 3.3.11.2

7. व्रता।।

(क) न किष्ट एता व्रता मिनन्ति।। ऋ० 1.69.4

(ख) व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति।। ऋ० 2.38.7

(ग) मित्रस्य व्रता वरुणस्य दीर्घश्रुत।। ऋ० 8.25.17

(घ) त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।। तै० 2.1.11.5

"एमन्नादिषु छन्दसि पररुपं वक्तव्यम्"- इस वार्तिक से प्राप्त उदाहरण-

8. एमन्।।

(क) प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।। मा० 13.17

(ख) अपां त्वेमन्त्सादयामि।। मा० 13.53

'एमन्' के मात्र दो प्रयोग ही मिलते हैं।।

140. भय्यप्रवय्ये चच्छन्दसि।। अष्टा० 6.1.82

का०-बिभेतेर्धातोः प्रपूर्वस्य च वी इत्यचेतस्य यति प्रत्यये परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते। भय्यं किलासीत् (द्र०-काठ० सं० 33.4)। वत्सतरी प्रवय्या। भय्येति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इत्यपादाने यत् प्रत्ययः। बिभेत्यस्मादिति भय्यम्। प्रवय्या इति स्त्रियामेव निपातनम्। अन्यत्र प्रवेयमित्येव भवति। छन्दसीति किम्? भेयम्। प्रवेयम्।। ह्रदय्या आप उपसंख्यानम्।। ह्रदय्या आपः। ह्रदे भवाः, 'भव छन्दसि' (4.4.110) यत् प्रत्ययः।।

सि०- बिभेत्यस्मादिति भय्यः। वेतेः प्रवय्या इति स्त्रियामेव निपातनम्। प्रवेयमित्यन्यत्र। छन्दसि किम्? भेयम्। प्रवेयम्।। ह्रदय्या उपसङ्ख्यानम्।। ह्रदे भवा ह्रदय्या आपः। 'भवे छन्दसी' ति यत्।।

'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' (अष्टा० 6.1.77) से 'धातोः' की, 'वान्तो यि प्रत्यये' (अष्टा० 6.1.76) से 'यि प्रत्यये' की तथा पूर्ववत् 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में आ रही है। भय्य तथा प्रवय्य शब्द भी वेदविषय में निपातन किये जाते हैं। ञिभी धातु से तथा प्रपूर्वक वी धातु से यत् प्रत्य परे रहते अयादेश निपातित है, संहिता के विषय में। भय्यम्। प्रवय्यम्। भय्यः, यहाँ कृत्यल्यु० (अष्टा० 3.3.113) से अपादान में यत् प्रत्यय पूर्ववत् जानें। बिभेत्स्मादिति भय्यम्। प्रवय्या स्त्रीलिङ्ग में ही निपातन है। अन्यत्र प्रवेयम्-

यह होता है। वेदविषय में – इसका क्या फल है? **भेयम्**। लौकिक प्रयोग में अय् नहीं होता है। आप् = जल अर्थ में **हृदय्या** इसका उपसंख्यान करना चाहिए। उदा०–**हृदय्या आपः**। **हृदे भवा** – इस अर्थ में **'भवे छन्दसि'** (अष्टा० 4.4.110) से यत् प्रत्यय होता है, हृद + य, अ का अय् होता है – हृदय्‌ य + टाप्।।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोग मिलता है–

1. **भय्यम्**।।
   (क) **वाश्वतरः प्रदाहादा भय्यं किल**।। काठ० 33.4
   'हृदय्या आप उपसंख्यानम्' वार्तिक के अनुसार भी कतिपय प्रयोग मिले हैं।
2. **हृदय्यम्**।।
   (क) **अग्निं हृदय्यंशोकं निर्वापयामसि**।। शौ० 6.18.1
3. **हृदय्यया**।।
   (क) **श्रद्धां हृदय्य? याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु**।।
   ऋ० 10.151.4
4. **हृदय्याय**।।
   (क) **नमो हृदय्याय च**।। मा० 16.44; तै० 4.5.9.1

'प्रवय्यः' का प्रयोग वेदसंहिताओं में प्राप्त नहीं हुआ है।।

141. प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे।। अष्टा०, 1.115

का०–एङोऽति इत्येव एङ इति यत् पञ्चम्यन्तमनुवर्तते, तदर्थादिह प्रथमान्तं भवति। प्रकृतिरिति स्वभावः कारणं वाभिधीयते। अन्तरित्यव्यय- मधिकरणभूतं मध्यमाचष्टे। पादशब्देन च ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिष्यते, न तु श्लोकपादस्य। अवकारयकारपरेऽति परत एङ् प्रकृत्या भवति। स्वभावेनाव- तिष्ठते, कारणात्मना वा भवति, न विकारमापद्यते। तौ चेद् निमित्तकार्यिणावन्तः पादमृक्पादमध्ये भवतः। ते अग्रे अश्वमायुञ्जन् (मा० सं० 9.7) ते अस्मिन् जवमादधु (मा० सं० 9.7)।। उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० 1.74.1)। शिरो अपश्यम्

(ऋ० 1.16.36)। सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० 5.79.1)। अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् (ऋ० 9.51.1)। अन्तः पादमिति किम्? कया मती कुत एतास एतेऽचन्ति (ऋ० 1.165.1)। अव्यपर इति किम्? तेऽवदन् (ऋ० 10.108.1) तेजोऽयस्मयम् (मा० सं० 12.63)। एङिति किम्? अन्वग्निरुषसामग्रमख्यत् (शौ० सं० 7.82.4)। केचिदिदं सूत्रं नान्तः पादमव्यपर इति पठन्ति ते संहितायामिह यदुच्यते तस्य सर्वस्य प्रतिषेधं वर्णयन्ति।।

सि०- ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादिति परे, न तु वकारयकारपरेऽति। उपप्रयन्तो अध्वरम् किम्? एतास एतेऽर्चन्ति (ऋ० 1.165.1) अव्यपरे किम्? तेऽवदन् (ऋ० 10.108.1) तेऽयजन्।।

प्रस्तुत सूत्र में '**एङः पदान्तादति**' (अष्या० 6.1.105) से '**एङः अति**' की तथा पूर्ववत '**संहितायाम्**' की अनुवृत्ति आ रही है। '**एङः**' यह जो पञ्चम्यन्त यहाँ अनुवृत्त होता है वह अर्थ के सामञ्जस्य के कारण प्रथमान्त हो जाता है। प्रकृति इससे स्वभाव अथवा कारण कहा जाता है। अन्तः यह अव्यय अधिकरण भूत मध्य को कहता है। पाद-शब्द से ऋक्पाद का ही ग्रहण होता है, श्लोक के पाद का नहीं। अवकार और अयकर (व, य रहित) ऐसे अत् के परे रहते एङ् प्रकृति रूप से रहता है। स्वभाव में ही रहता है, कारणरूप में ही रहता है, किसी विकार (परिवर्तन) को नहीं प्राप्त करता है। यदि वे निमित्त और कार्यो अवकार यकारपरक अकार तथा एङ, अन्तःपादम=ऋक् के पाद के मध्य में हों तो। उदा०- **ते अग्रे अश्वमायुञ्जन्** ते + अग्रे अश्वम् = यहां पूर्वरूप तथा अय् आदेश नहीं होते हैं। **ते अस्मिन् जवमादधुः**। ते+ अस्मिन यहां भी पूर्णरूप और अयादेश नही हुआ। **उपप्रयन्तो अध्वरम्**। पूर्वरूप और अवादेश नहीं होता। **सुजाते अश्वसूनृते**। पूर्णरूप और अय आदेश नहीं होता है। **अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्**। पूर्वरूप और अय् आदेश नहीं होता है। **अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्**। पूर्वरूप और अव् आदेश नहीं होता। पाद के मध्य में इसका क्या फल है? **कया मती कुत एतास एतेऽर्चयन्ति**। एते + अचर्ष्यन्ति यहां अकार पाद के आदि में है मध्य में नहीं, प्रकृतिभाव नहीं होता है। वकारपरक और यकारपरक अकार न होने पर- इसका क्या फल है? **तेऽवदन्**। **तेऽयस्मन्**

यहां वकार और यकार अकार के बाद होने से प्रकृतिभाव नहीं होता है। एङ का प्रकृतिभाव- इसका क्या फल है। **अन्वग्निरूपत्मग्रिख्यत्**। अनु + अग्निम् में एङ् नहीं है। अतः प्रकृतिभाव न होकर यण् होता है। कुछ लोग इस सूत्र को **नान्तः पादमव्यपरे** ऐसा पढ़ते हैं, वे लोग ऐसा कहते है- संहिता में यहां जो भी कहा जाता है उस सब का प्रतिषेध होता है।

वैसे इस प्रकरण में '**छन्दसि**' का निर्देश नहीं है, पुनरपि इस प्रकरण के अत्यधिक सूत्र वैदिक ही है, क्योंकि लौकिक पादबद्ध पद्यो में यहा कार्य दृष्टिगत नहीं होता। '**सर्वत्र विभाषा गो०**' (अष्य० 6.1.118) में पठित सर्वत्र पद से यही ज्ञात होता है। शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य में '**प्रकृतिभाव ऋक्षु**' (4.82) से प्रकृतिभाव होता है, 'ऋक्षु' पद का अर्थ 'ऋग्वेद में' है।

प्रस्तुत सूत्र के वेद में अनेकशः प्रयोग मिलते हैं-

(क) **इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा।।** ऋ० 7.10.4

(ख) **विश्वे देवासो अप्तुरः।।** ऋ० 1.3.8

(ग) **विश्वे देवासो अस्त्रिधः।।** ऋ० 1.3.9

(घ) **अथा ते अन्तमानाम्।।** ऋ० 1.4.3।।

(ङ) **मा नो अति ख्य आ गहि।।** ऋ० 1.4.3

142. अव्यादवधादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषुच।। अष्टा० 61.116

का०-अव्यात् अवधात् अवक्रमुः अव्रत अयम् अवन्तु अवस्यु इत्येतेषु वकारयकारपरेऽप्यति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति। अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात् (तै० सं० 2.1.11.2) मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० 4.4.15) माशिवासो अवक्रमुः (ऋ० 7.32.26)। ते नो अव्रताः शातवारो अयं मणिः (शौ० सं० 19.36.5)। ते नो अवन्तु पितरः (ऋ० 10.15.1) कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० 3.41.9)

सि०-एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या भवति। वसुभिर्नो अव्यात् (तै० सं० 2.1.11.2)। मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० 4.5.15) मा शिवासो अवक्रमुः (ऋ० 7.32.26)। ते नो अव्रताः। शतधारो अयं

मणिः (शौ० सं० 19.36.5)। ते नो अवन्तु (ऋ० 10.15.1)। कुशिकासो अवस्यव (ऋ० 3.42.9) यद्यपि बह्वचैस्तेनोऽवन्तु रथतूः सोऽयमागात् तेऽरुणेभिरित्यादौ प्रकृतिभवो न क्रियेत तथापि बाहुलकात्समाधेयम्। प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवायमर्थः।।

इस सूत्र में **'प्रकृत्यान्तःपादम्, एङः'**, अति, संहितायाम् की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। **अव्यात् अवद्यात् अवक्रमुः अव्रत, आयम् अवन्तु, अवस्यु**– इन शब्दों में जो आकार उसके परे रहते पाद के मध्य में जो एङ् उस को भी प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती। उदा०–**अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्। नो+अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात्। मित्रमहो + अवद्यात्। मा शिवासो + अवक्रमुः। ते नो + अव्रताः। शतधारो + अयं मणिः। ते नो + अवन्तु। कुशिकासो + अवस्यवः।** – इनमें 'ओ' का अवादेश और पूर्वरूप प्राप्त है, बाध करके प्रकृति–भाव होता है। यद्यपि इस सूत्र के उदाहरणों में पूर्वसूत्र से ही प्रकृतिभाव प्राप्त था। पुनरपि इस सूत्र की रचना से ज्ञात हाता है कि पूर्वसूत्र में वकार यकार परे हैं जिस अकार के, उसके परे प्रकृतिभाव नहीं होता है। यह सूत्र **'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे'** का अपवाद है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में एक नियम आता है–

अन्तः पादमकारच्चेत्संहितायां लघोर्लघु। यकाराद्यक्षरं परं वकाराद्यपि वा भवेत्।। 35।।

अर्थात् यदि संहितापाठ में लघु अकार से परे यकार से या वकार से प्रारम्भ होने वाला लघु अक्षर होवे, तब वह अकार 'अभिनिधान' (पूर्वरूप) को प्राप्त करता है। अर्थात् प्राकृत और वैकृत (एकार और ओकार) के साथ मिलकर एक हो जाता है जैसे– 'ते नोऽवन्तु रथतूः' 'सोऽयमागात्' 'तेऽरुणेभिः'। वस्तुतः 'एङः पदान्तादति' से होने वाले पूर्वरूप की स्थिति में ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'अ' अभिनिहित सन्धि (पूर्वरूप सन्धि) को प्राप्त न करके प्रकृतिभाव से रहता है। ऋग्वेद की बह्वचशाखा वाले **'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे'** की शर्तो में भी प्रकृतिभाव न मानकर अभिनिहित सन्धि (पूर्वरूप सन्धि) मानते हैं। साथ ही जिन शब्दों में आचार्य पाणिनि ने प्रकृतिभाव माना

है उन्हीं शब्दों में आचार्य शौनक ने पूर्वरूप सन्धि मानी है। शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य में भी यकार और वकार बाद में होने पर भी अकार का 'व्यपरे च' (वा० प्रा० 4.74) सूत्र से अभिनिधान हो जाता है। यहाँ 'एदोदभ्यां पूर्वमकारः' (वा०प्रा० 4.62) सूत्र से ए, ओ के परे अकार की अनुवृत्ति आ रही है। तब अर्थ हुआ - एङ् (ए, ओ) से परे वकार या यकार परक 'अ' के रहते पूर्वरूप हो जाता है। **तेऽवन्तु। ते + अवन्तु।।**

एवं ऋग्वेद के बह्वृचशाखा वालों ने जिस अर्थ को माना है, ऋक्प्रातिशाख्य में वही अर्थ है। **'गाहमान'** (वा० प्रा० 4.65) आदि वाजसनेयिप्रातिशाख्य के सूत्रों द्वारा ऋचाओं में अभिनिधान को कहा गया है। प्रकृतिभाव ऋ क्षु (वा० प्रा० 4.82) सूत्र से ऋचाओं में प्रकृतिभाव होता है।

प्रकृतसूत्र के प्राप्त-प्रयोग हम उद्धृत कर रहे हैं-

1. **अवद्यात्।।**

   (क) **द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्।।**

   ऋ० 4.4.15; तै० 1.2.14.6; मै० 4.11.5; काठ० 6.11

2. **अव्यात्।।**

   (क) **अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्।।**

   तै० 2.1.11.2; मै० 4.12.12 काठ० 10.12

   (ख) **धिय इन्वानो धिय इन्नो अव्यात्।।** मै० 4.9.11

   (ग) **नराशंसोग्नास्पतिर्नो अव्यात्।।** मै० 4.14.6

   (घ) **देवानां देवो निधिपा नो अव्यात्।।** मै० 4.14.12

3. **अवक्रमुः।।**

   (क) **माशिवासो अवक्रमुः।।**

   ऋ० 7.32.27; शौ० 20.79.2 जै० 4.307

4. **अव्रतम्।।**

   (क) **व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम्।।** ऋ० 6.14.3

5. **अवन्तु।।**

   (क) **अधि ब्रुवन्तु ते अवन्त्वस्मान्।।** तै० 26.12.3

(ख) इमं यज्ञं विश्वे अवन्तु देवाः।। काठ० 35.3

(ग) तं त्वा विश्वे अवन्तु देवाः।। पै० 15.6.9

6. अवस्यवः।।

(क) कुशिकासो अवस्यवः।। ऋ० 3.42.9; शौ० 20.24.9

वेदसंहिताओं में 'अयम्' परे रहते प्रकृतिभाव होने का प्रयोग प्रयुक्त नहीं हुआ है। उपर्युक्त पदों के मात्र इतने ही उदाहरण मिले हैं।।

143. यजुष्युरः।। अष्टा० 6.1.126

का०–उरः शब्द एङन्तो यजुषि विषयेऽति प्रकृत्या भवति। उरो अन्तरिक्षम्। अपरे 'यजुष्युरो' इति सूत्रं पठन्ति, उकारान्तमुरुशब्दं संबुद्ध्यन्तमधीयते। त इदमुदाहरन्ति– उरो अन्तरिक्षं सजूः (तै० सं० 1.3.8.1) इति। यजुषि पादानामभावादनन्तः पादार्थं वचनम्।।

सि० – उरः शब्द एङन्तोऽति प्रकृत्या यजुषि। उरो अन्तरिक्षम् (तै० स० 13.8.1) यजूषि पादाऽभावादनन्तःपादार्थं वचनम्।।

इस सूत्र में पूर्ववत् प्रकृत्या, एङः, अति, संहितायाम्, की अनुवृत्ति आ रही है। यजुर्वेद विषय में उरः शब्द से जो एङन्त उसे प्रकृतिभाव होता है, अकार परे रहते। 'उरस्' के 'स्' को पहले रुत्व करके पश्चात् 'अतो रोरप्लु०' (अष्टा० 6.1.109) से 'रु' को 'उ' हुआ। तत्पश्चात् 'आद् गुणः' (अष्टा० 6.18.4) लगकर 'उरो' एङन्त बन गया। तब 'अन्तरिक्षम्' का अकार परे रहते प्रकृतिभाव हो गया। दूसरे कतिपय विद्वान् इस सूत्र को 'यजुष्युरो' ऐसा पढ़ते हैं, उकारान्त उरु शब्द सम्बुध्यन्त (सम्बोधन एकवचनान्त) पढ़ते हैं, वे इस उदाहरण को उपस्थित करते हैं– 'उरो अन्तरिक्षं सजूरिति'। काशिका की पूर्व व्याख्या के अनुसार 'उरस्' के 'स्' का उत्व और 'आद् गुणः' से गुण होकर 'उरो' रूप बनता है। यजुर्वेद में पाद न होने के कारण अनन्तःपदार्थ (पादमध्य) से भिन्न स्थलों के लिये यह सूत्र है। क्योंकि यजुर्वेद में तो अधिकांश गद्य हैं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के–'हेऽआपो गुवोऽपाग्ने धीरासो देवास उरो रक्षा णो मो वैश्वानरो वृषभो वचः प्राणः उदानोऽङ्ग इमा मे वृष्णो दशमास्योऽन्ध आवित्तोऽरिष्टो अर्जुनः प्रत्याश्रावः स्विष्टो घासे

प्रणीतस्तेभ्यो नमो अस्तु दूरे नो अद्य यज्ञे सधस्थे सो अध्वरायेन्द्रे हिरण्यपर्णे द्वारो देवोऽब्दो रथिभ्यो महद्भ्यः संसदः' (4.85) में कहा है कि इन शब्दों के एकार और ओकार प्रकृतिभाव से रहते हैं अकार परे रहते।

इस सूत्र के जो प्रयोग वेदों में हैं, उन्हें हम स्थापित करते हैं-

1. उरो।।
   - (क) **द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षम्**।। मा० 4.7
   - (ख) **उरो अन्तरिक्षं सजूर्देवेन**।। तै० 1.3.8.1; मै० 1.2.15
   - (ग) **द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षः**।। मै० 1.2.2।।
   - (घ) **उरो अन्तरिक्ष सजूर्देवेन**।। मै० 3.9.7; काठ० 36
   - (ङ) **द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षेति**।। मै० 3.6.4।
   - (च) **आप ओषधय उरो अन्तरिक्षानु**।। काठ० 2.2

144. आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिकेपूर्वे।।
अष्टा० 6.1.118

का०-यजुषीत्येव। आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठे इत्येते शब्दा अम्बे अम्बाले इत्येतौ च यावम्बिके शब्दात् पूर्वौ यजुषि पठितौ तेऽति परतः प्रकृत्या भवन्ति। आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु (मा० सं० 4.2)। जुषाणो अप्तुराज्यस्य (मा० सं० 5.35)। वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः (मा० सं० 7.1)। वर्षिष्ठे अधिनाके (तै० सं० 1.1.8.2)। अम्बे अम्बाले अम्बिके। यजुषीदमीदृशमेव पठ्यते। अस्मादेव निपातनाद् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (7.3.107) इति ह्रस्वत्वं न भवति।।

सि०-यजुषि अति प्रकृत्या। आपो अस्मान्मातरः (मा० सं० 4.2)। जुषाणो अग्निराज्यस्य (का० 6.3.7)। वृष्णो अंशुभ्याम् (मा० सं० 7.1)। वर्षिष्ठे अधिनाके (तै० सं० 1.1.8.2)। अम्बे अम्बाले अम्बिके। अस्मादेव वचनात् अम्बार्थेति ह्रस्वो न।।

इस सूत्र में **'यजुष्युरः'** (अष्टा० 6.1.117) से **'यजुषि'** की तथा **पूर्ववत् प्रकृत्या, अति, संहितायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है। **आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे**-ये पद, तथा **अम्बिके** शब्द से पूर्व **अम्बे, अम्बाले** ये दो पद

यजुर्वेद में पठित होने पर अकार परे रहते प्रकृतिभाव से रहते हैं। सर्वत्र **'एङः पदान्ता:'**० (अष्टा० 6.1.105) से प्राप्त सन्धिकार्य नहीं होता। **आपो जुषाणो** आदि सारे पद अनुकरणरूप अविभक्त्यन्त सूत्र में पढ़े हुये हैं। **अम्बे अम्बिके अम्बाले**–ऐसा ही पाठ यजुर्वेद में है। इसी निपातन के कारण **'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः'** (अष्टा० 7.3.107) से **'अम्बे'** का ह्रस्व भी नहीं होता है। **अम्बे, अम्बाले** तथा **अम्बिके**–इन तीनों शब्दों में यह ध्यान देना चाहिये कि अम्बिके शब्द के पूर्व दोनों शब्द–**अम्बे** एवं **अम्बाले** क्रमशः एक दूसरे के एङ् के परे पड़ता है, इसका अर्थ यह है कि **'अम्बे'** सम्बोधन एकवचन के अन्तिम अच् ए (एङ्) के परे **'अम्बाले'** सम्बोधन एकवचन के अत् 'अ' के होने से इस सूत्र से प्रकृतिभाव हो गया। इसी प्रकार **'अम्बाले'** के एङ् (ए) के परे 'अत्' ('अम्बिके') के होने से प्रकृतिभाव हो गया। तात्पर्य यह है कि **'अम्बिके'** के पूर्व **'अम्बे'** तथा **'अम्बाले'** में प्रकृतिभाव हो गया। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में **'पणयो जहीमोऽम्बिके'** (4.77) अर्थात् **पणयः, जहीमः** और **अम्बिके** से परवर्ती अकार का अभिनिधान होता है–कहा गया है। साथ ही यह भी कहा है कि **'जुषाणश्चानध्वनि'** अर्थात् अध्वन् बाद में न होने पर (= अध्वन् से अन्य कोई अकारादि पद बाद में होने पर) **जुषाणः** (= जुषाणो का औकार) भी प्रकृतिभाव से रहता है।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के प्रयोग मिलते हैं–

1. **आपो।।**

(क) **आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु।।**

मा० 4.2; का० 4.1.2 तै० 1.2.1.1;

(ख) **समापो अद्भिरग्मत।।**

मा० 6.28; का० 6.7.6; तै० 1.1.8.1

(ग) **तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम।।** मा० 18.41।।

(घ) **यदापो अघन्या इति वरुणेति।।** मा० 20.18

(ङ) **अन्वापो अजिहत् जायमानम्।।** तै० 1.7.13.1

(च) **यदापो अघन्या वरुणेति।।** मै० 1.2.18; काठ० 3.8

(छ) **देवीरापो अपां नपाद्य।।** मै० 1.3.1; काठ० 3.9।।

(ज) तस्मादापो अनुष्ठन्।। मै० 2.13.1

(झ) आपो अस्मान् मातरस्सूदयन्तु।। काठ० 2.1

2. जुषाणो।।

(क) जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।। मा० 3.10; का० 3.2.3

(ख) जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा।।

मा० 5.35; का० 3.9.1; काठ० 3.1;

तै० 1.3.4.1; 6.3.2.2; मै० 1.2.1.3

(ग) जुषाणे अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा।।

मा० 10.29

(घ) देवा आज्यपा जुषाणो अग्निर्भेषजं पयः।।

मा० 21.40; मै० 3.11.2

(ङ) जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा।। का० 6.3.7

(च) जुषाणो अस्य हविषो वीहि स्वाहा।। मै० 1.8.6

(छ) जुषाणो अस्य हविषो घृतस्य वीहि स्वाहा।। काठ० 9.5

(ज) जुषाणो अप्तुरित्यप्तुमेवैनं कृत्वा।। काठ० 26.2

3. वृष्णो।।

(क) वृष्णो अंशुभ्याँ गभस्तिपूतः।।

मा० 7.1; का० 7.11.8 तै० 1.4.2.1;

काठ० 27.1

(ख) पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः।।

मा० 23.61; तै० 7.4.18.2

(ग) अयज्ज सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।।

मा० 23.62; का० 25.10.10

(घ) महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा।। मा० 33.22

(ङ) वृष्णो अश्वस्य संदानमसि।।

तै० 2.4.7.2; 2.4.9.4; मै० 2.4.7.8;

(च) प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः।।

तै० 3.1.11.7; काठ० 11.13

(छ) वृष्णो अंशुभ्यामिति।। तै० 6.4.5.3।।

(ज) वृष्णो अश्वस्य निष्पदसि।। मै० 4.9.1

(झ) वाजिन् वृष्णो अंशुभ्याम्।। काठ० 4.1

(ञ) वृष्णो अश्वस्य रेतो देवानां यातुरसि।। काठ० 37.13; 14

(ट) वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम।।

काठ० 44.7

4. वर्षिष्ठे।।

(क) वर्षिष्ठे अधिनाके।।

मा० 1.22 तै० 1.1.8.2; 1.4.43.2; 1.5.5.4; मै० 1.1.9; 4.1.9; 1.1.12; 1.3.37;

5. अम्बे।। अम्बिके।। अम्बाले।।

(क) अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।।

मा० 23.18; का० 25.5.1;

(ख) अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मा नयति कश्चन।।

तै० 7.4.19.1; काठ० 44.8

(ग) अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मा यभति कश्चन।।

तै० 7.4.19.3;

(घ) अम्बेम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन।।

मै० 3.12.20

अम्बे, अम्बाले, अम्बिके पाठ यजुर्वेद की किसी भी शाखा में नहीं है। यजुर्वेद की शाखाओं में जिस प्रकार का पाठ है, वह हमने ऊपर दिखा दिया। सम्भव है कि आचार्य पाणिनि के समय यजुर्वेद की कोई शाखा रही हो जिसमें यह पाठ हो। 'अम्बाले' का उदाहरण हमें प्राप्त नहीं हुआ।।

145. अङ्ग इत्यादौ च।। अष्टा० 6.1.119

का०–अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ चकारे यः पूर्वः स यजुषि विषयेऽति प्रकृत्या भवति। ऐन्द्र प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत्। ऐन्द्र प्राणो अङ्गे अङ्गे नि दीध्यत् (मा० सं० 6.20)। ऐन्द्र प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्।।

सि०-अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ च अकारे य एङ्पूर्वः सोऽति प्रकृत्या यजुषि। प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीव्यत्। अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्।।

इस सूत्र में **यजुषि, प्रकृत्या, एङः, अति, संहितायाम्** की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्ग' शब्द के आदि में जो अकार उसके परे रहते पूर्व एङ् (किसी शब्द में स्थित) को प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती। इति शब्द से यहाँ अङ्ग शब्द का ही प्रत्यवमर्श किया गया है। चकार से किसी शब्द में स्थित अकार परे रहते अङ्ग शब्द के एङ् को प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् अङ्ग शब्द में स्थिति ही अकार परे हो यह आवश्यक नहीं है, अतः '**अङ्गे अशोचिषम्**' में प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है और तदादि=अङ्ग शब्द के अकार के परे रहते कोई भी एङ् पूर्व हो उसे भी प्रकृतिभाव होता है, अर्थात यह आवश्यक नहीं रहा कि अङ्ग शब्द का ही एङ् हो, किसी भी शब्द में स्थित एङ् हो, इसलिये '**प्राणो अङ्गे**' में '**प्राणो**' के ओकार को प्रकृतिभाव हो जाता है।-ये दो वाच्यार्थ गृहीत होते हैं। नागेश भट्ट का कथन है कि '**सूत्रे इति शब्दः तच्छब्दसमानार्थ इति भावः**' अर्थात् सूत्र में '**इति**' शब्द तच्छब्दासमानार्थ का द्योतक है। एवं आचार्य ने जो सूत्र '**अङ्गे इत्यादौ च** 'इस रूप में पढ़ा है वह '**अङ्गे अङ्गे आदौ च**' इस रूप में स्पष्टता हेतु पढ़ना उचित था। यहाँ दूसरे '**अङ्गे**' शब्द के लिये ही आचार्य ने '**इति**' पद-प्रयुक्त किया है। आचार्य कात्यायन ने '**हेड आपो गुवोऽपाग्ने धीरासो देवास उरो रक्षा णो मो वैश्वानरो वृषभो वचः प्राणः उदानोऽङ्ग इमा मे०** ......(वा० प्रा० 4.85) सूत्र में अङ्ग पद को भी प्रकृतिभाव दर्शाया है। काशिका के अनेक संस्करणों में जो उदाहरण प्रस्तुत सूत्र के दिये हैं उनमें बहुत भिन्नता है। कहीं-कहीं प्रदत्त उदाहरण में '**अशोचिषम्**' है कहीं-कही '**अरोचिषम्**'।।

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के जो प्रयोग मिलते हैं, उन्हें हम नीचे दर्शाते हैं-

1. **अङ्गेअङ्गे**।।
   (क) **ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेअङ्गे**।।
   मा० 6.20; का० 6.4.4; तै० 1.3.10.1; 6.3. 11.2; मै० 1.2.17; काठ० 3.7
   (ख) **दश प्राणा अङ्गेअङ्गे वै पुरुषस्य**।। मै० 1.11.6

वेदसंहिताओं में सर्वत्र एक ही पद की अनकेधा आवृत्ति हुई है।।

146. अनुदात्ते च कुधपरे।। अष्टा० 6.1.120

का०-यजुषीत्येव। अनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परतो यजुषि विषय एङ् प्रकृत्या भवति। अयं नो अग्निः (मा० सं० 5.37)। अयं सो अध्वरः। अनुदात्त इति किम्? सोऽयमग्निः सहस्त्रियः (तु० मा० सं० 15.21)।।

सि०-कवर्गधकारपरे अनुदात्तेऽति परे एङ् प्रकृत्या यजुषि। अयं सो अग्निः (मा० 12.47)। अयं सो अध्वरः। अनुदात्ते किम्? अथोऽग्रे रुद्रे। अग्रशब्द आद्युदात्तः। कुधपरे किम्? सोऽयमग्निमन्तः।।

सूत्र में **यजुषि, प्रकृत्या, एङः**, अति, संहितायाम् की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। यजुर्वेद विषय में कु= कवर्ग धकारपरक अनुदात्त अकार के परे रहते भी एङ् को प्रकृतिभाव होता है। **सो अग्निः**। अग्नि शब्द अनुदात्तादि है तथा अकार के परे कवर्ग 'ग्' है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है। **अयं सो अध्वरः**। शब्द भी प्रातिपादिक स्वर से अन्तोदात्त है। अतः **'अनुदात्तं**० (अष्टा० 6.1.152) लगकर अनुदात्तादि है, अकार से परे धकार है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया। अनुदात्त परे रहते इसका क्या फल है? **अथोऽग्रे**। अग्र शब्द **'ऋज्रेन्दाग्नि'** (उणादि० 1.186) से आद्युदात्त निपातित है। अतः इसके परे रहते प्रकृतिभाव नहीं होता। कु=कवर्गपरक और धकार परक अ परे रहते-इसका क्या अभिप्राय है? **सोऽयमग्निः सो+अयम्**-यहाँ अ के बाद कवर्ग या धकार नहीं है। वास्तव में यहाँ **'अव्यादवद्यात्'**० (अष्टा० 8.1.116) में प्रदर्शित **शतधारो + अयं मणिः** के समान ही प्रकृतिभाव होना चाहिए। अतः कोई भिन्न प्रत्युदाहरण होना उचित था। नागेशभट्ट ने धकार में अकार उच्चारणार्थ माना है- **धकारे अकार उच्चारणार्थः**।।

प्रस्तुत सूत्र के अनेक उदाहरण यजुर्वेद में प्राप्त होते हैं-

1. **अग्निः**।।

   (क) **पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः**।। मा० 12.50

(ख) ये अग्नयः समनसोऽन्तरा।।

मा० 14.6; 15; 16; 27; 15; 57;

(ग) ये अग्नयः पाञ्चजन्याः।। मा०18.67।।

(घ) अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः।। मा० 33.1

ये अधिक प्रयोग कवर्ग परे रहते ही हैं, धकार परक अनुदात्त अकार के परे रहते यजुर्वेद में कोई प्रकृतिभाव का प्रयोग हमें नहीं मिला है।।

147. अवपथासि च।। अष्टा० 6.1.121

का०-यजुषीत्येव। अनुदात्त इति चशब्देनानुकृष्यते। अवपथाःशब्देऽनुदात्तेऽकारादौ परतो यजुषि विषय एङ् प्रकृत्या भवति त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः। (काठ० सं० 30.6.32)। वपेर्लङि थासि 'तिङ्ङतिङः' (8.1.28) इति निघातेनानुदात्तत्वम्। अनुदात्त इत्येव- यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः। 'निपातैर्यद्यदिहन्तः'० (8.1.130) इति निघातः प्रतिषिध्यते।।

सि०-अनुदात्ते अकारादौ अवपथाः शब्दे परतो यजुषि एङ् प्रकृत्या। त्रि रुद्रेभ्यो अवपथाः (काठ० सं० 30.6.32)। वपेस्थासि लङि 'तिङ्ङतिङः' (8.1.28) इत्यनुदात्तत्वम्। अनुदात्ते किम्? यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः। 'निपातैर्यद्यदिहन्तः'० (8.1.130) इति निघातो न।।

इस सूत्र में 'अनुदात्ते च कुधपरे' (अष्य० 6.1.120) से 'अनुदात्ते' की तथा पूर्ववत् यजुषि, प्रकृत्या, एङः, अति, संहितायाम् इनकी अनुवृत्ति आ रही है। अवपथाः शब्द में भी जो अनुदात्त अकार उसके परे रहते यजुर्वेद विषय में एङ् को प्रकृतिभाव होता है। त्रि रुद्रेभ्यो अवपथाः। वप् धातु से लङ् लकार में थास् परे रहते अट् आगम होकर 'अवपथाः' सिद्ध हुआ। 'तिङ्ङतिङः' (अष्य० 8.1.28)से अतिङ् 'रुद्रेभ्यो' से उत्तर निघात होता है, अतः अनुदात्त अकार परे है। सो 'रुद्रेभ्यो' का ओकार प्रकृतिवत् रह गया, सन्धि नहीं हुई। चकार 'अनुदात्ते' पद के अनुकर्षणार्थ है। अनुदात्त रहने पर ही-यद् रुद्रेभ्योऽवपथाः में अर्थात् क्रियापद से पूर्व यदि यत् यदि हन्त,

कुवित् नेत्, चेत् चण् (चण से बोध्य है च-'यदि' अर्थ में) **कच्चित्** तथा यत्र निपात आवे तो '**निपातैर्यद्यदिहन्त०**' (अष्ट्या० 8.1.130) सूत्र से आख्यात पद अनुदात्त नहीं होता, उदात्त ही रहता है, अतः '**निपाताः आद्युदात्ताः**' (फिट् सू० 80) भी कहा गया है। निघात का अर्थ-उदात्त स्वर का अनुदात्त में परिवर्तन होना है।

'**अवपथाः**' पद का सूत्रानुसार कतिपय स्थलों पर प्रयोग हुआ है-

1. **अवपथाः।।**

(क) **त्रिर्वसुभ्यो अवपथास्त्री रुद्रेभ्यो अवपथास्त्रिरादित्येभ्यो अवपथा येन रूपेण प्रजापतयेऽवपथास्तेन मह्यं पवस्व।।**

काठ० 30.6

(ख) **त्रिर्वसुभ्यो अवपथा इति०।।** काठ० 30.7

148. सर्वत्र विभाषा गोः।। अष्टा० 6.1.122

का०-सर्वत्र छन्दसि भाषायां चाति परतो गोरेङ् प्रकृत्या भवति विभाषा। गोऽग्रम् गो अग्रम्। छन्दसि-अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वान् (तै० सं० 5.2.9.4)।।

सर्वत्र= छन्द तथा भाषविषय दोनों में '**गो**' शब्द के पदान्त '**एङ्**' को विकल्प से अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है। प्रकृतिभाव पक्ष में **-गो+अग्रम् = गो अग्रम्।** पक्ष में पूर्वरूप-**गो+अग्रम्=गोऽग्रम्।** अग्रिम सूत्र '**अवङ् स्फोटायनस्य**' (अष्ट्या० 6.1.123) से अवङ् होने पर स्फोटयन आचार्य के मत में '**गवाग्रम्**' भी बनेगा। वेद में '**गो अश्वेभ्यः**'- में प्रकृतिभाव हुआ तथा '**गोश्वाः**' में पूर्वरूप। यद्यपि यह सूत्र भट्टोजिदीक्षित ने वैदिक प्रक्रिया में गृहीत नहीं किया, किन्तु इसमें वैदिक नियम होने से हमने इसका ग्रहण कर लिया है।।

वेदों से प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोगों को हम दिखा रहें हैं-

प्रकृतिभाव पक्ष में

(क) **गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि।।**

ऋ० 1.53.5; काठ० 10.12

(ख) सं सुष्टुती नसते सं गोअग्रया।। ऋ० 9.71.8

(ग) गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि।। शौ० 20.21.5।।

(घ) उत नो धियो गोअग्राः।। ऋ० 1.90.5

(ङ) रदा मरुद्भिः शुरुधो गोअग्राः।। ऋ० 1.169.8।।

(च) उषो युवस्व गृणते गोअग्राः।। ऋ० 6.39.1

(छ) उषो गोअग्राँ उप मासि वाजान्।। ऋ० 1.92.7

(ज) ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसम्।।
ऋ० 2.1.16; 2.2.13

(झ) अप स्तेनं वासो गोअजमुत तस्करम्।। शौ० 19.50.5

(ञ) दण्डा इवेद् गोअजनास आसन्।। ऋ० 7.33.6

(ट) गोअर्घं यजमानं गोअर्घमध्वर्युम्।। तै० 6.1.10.1

(ठ) अग्रं गच्छथो विवरे गोअर्णसः।। ऋ० 1.112.18

(ड) गोअर्णसं रयिमिन्द्र श्रवाय्यम्।। ऋ० 10.38.2

(ढ) गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि।। ऋ० 10.76.3

(ण) गोअश्वानेवास्मै समीचो दधाति।। तै० 5.2.9.4

(त) प्राचीनमृषभस्य गोअश्वानेवास्मिन्।। काठ० 20.8

(थ) अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वानेवास्मै समीचो।।
तै० 5.2.9.4

पूर्वरूप पक्ष का 'गोऽग्रम्' जैसा उदाहरण वेदसंहिताओं में अनुपलब्ध हैं।।

149. आङोऽनुनासिकश्छन्दसि।। अष्टा० 6.1.126

का०-आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो भवति स च प्रकृत्या भवति। अभ्र आँ अपः (ऋ० 5.48.1)। गम्भीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः (ऋ० 8.67.11)। केचिदाङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलमित्यधीयते। तेनेह न भवति-इन्द्रो बाहुभ्यामातरत्। आ अतरत्।।

सि०-आङोऽचि परेऽनुनासिकः स्यात् स च प्रकृत्या। अभ्र आँ अपः (ऋ० 5.48.1)। गम्भीर आँ उग्रपुत्रे (ऋ० 8.67.11)।। ईषा

अक्षीदीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः।। ईषा अक्षो हिरण्ययः (ऋ० 8.5.29)। ज्या इयम् (ऋ० 6.75.3)। पूषा अविष्टु (ऋ० 10.26.9)।।

इस सूत्र में **'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'** (अष्ट्या० 6.1.125) से **'अचि'** की तथा पूर्ववत् **प्रकृत्या, संहितायाम्**, की अनुवृत्ति आ रही है। आङ् को अच् परे रहते संहिता के विषय में अनुनासिक आदेश वेद विषय में बहुल करके होता है तथा उस अनुनासिक को प्रकृतिभाव भी होता है। बहुल ग्रहण से आङ् के अतिरिक्त भी अनुनासिक आदेश और प्रकृतिभाव दृष्टिगत होता है। कुछ लोग **'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्'** ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। अष्ट्याध्यायी प्रथमावृत्ति में भी **'बहुलम्'** का ग्रहण हुआ है। इसलिये यहाँ भी नहीं होता है– **इन्द्रो बाहुभ्यामातरत्।** बहुलग्रहण के कारण अनुनासिक नहीं हुआ। अतः प्रकृतिभाव भी नहीं होता है। दीर्घ हो जाता है। जहाँ **'आ'** अनर्थक है, वहीं अनुनासिक होता है। जैसे– **अभ्र आँ अपः।** परन्तु धातु के साथ उपसर्ग रूप में अर्थवान् हो जाता है। अतः वह न अनुनासिक होता है और न प्रकृति रूप से रहता है, दीर्घ हो जाता है। बहुल वचन के कारण अलग भी रह सकता है।

प्रस्तुत सूत्र पर भट्टोजिदीक्षित ने **'ईषा अक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः'** इस वार्तिक को अधिगृहीत कर वेद में **'ईषा अक्षः'** आदि पदों में प्रकृतिभाव माना है। यथा– **ईषा अक्षो हिरण्ययः।** प्रस्तुत उदाहरण में **ईषा + अक्षः = 'अकः सवर्णे दीर्घः'** से दीर्घ हो रहा था। किन्तु वार्तिक से प्रकृतिभाव हो गया। **ज्या + इयम्** – में **'आद्गुणः'** से गुण प्राप्त है, किन्तु इस वार्तिक से गुण का बाध और प्रकृतिभाव हो गया है।

वेदों में प्राप्त कतिपय प्रयोग उद्धृत हैं–

(क) **आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ।।** ऋ० 5.48.1

(ख) **ज्या इयं समने पारयन्ती।।** ऋ० 6.75.3

(ग) **पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः।।** ऋ० 8.67.11

(घ) **ईषा अक्षो हिरण्ययः।।** ऋ० 8.5.29।।

(ङ) **अस्माकमूर्जा रथं पूषा अविष्टु माहिनः।।** ऋ० 10.26.9

वेदसंहिताओं में इस सूत्र के अनेक प्रयोग हैं, हमने कतिपय ही दिखाये हैं।।

150. स्यश्छन्दसि बहुलम्।। अष्टा० 6.1.133

का०-स्य इत्येतस्य छन्दसि हलि परतो बहुलं सोर्लोपो भवति। उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ० 4.404)। एष स्य ते पवत इन्द्र सोमः (ऋ० 9.97.46)। न च भवति- यत्र स्यो निपतेत्।।

सि०-स्य इत्यस्य सोर्लोपः स्याद् हलि। एष स्य भानुः (4.45.1)।।

इस सूत्र में **'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि'** (अष्या० 6.1.1.32) से **'सुलोपः' 'हलिः'** की तथा पूर्ववत् **'संहितायाम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। **'स्यः'** यह षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। **स्यः** शब्द के सु का वेदविषय में हल् परे रहते बहुल करके लोप हो जाता है, संहिता के विषय में। **उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति। एष स्य ते पवत०।** यहाँ दोनों प्रयोगों में स्य=त्यत्+सु के सु का लोप हुआ है। 'तत्' का समानार्थक सर्वनाम 'त्यद्' है। 'त्यद्' का ही पुलिंग एकवचन में 'स्य' रूप होता है। 'त्यद्' शब्द से प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'सु' इस सु के परे होने पर त्यद् के स्थान पर **'त्यादीनामः'** (अष्या० 6.2.102) से अकार आदेश, **'अलोऽन्त्यस्य'** (अष्या० 1.1.52) त्य+अ+सु **'अतो गुणे'** (अष्या० 6.1.97) से 'त्य' का अकार परवर्ती से अकार से मिल गया। त्य+सु, **'तदोः सः सावनन्त्ययोः'** (अष्या० 7.2.106) से सकार आदेश पुनः रुत्व, विसर्ग **'स्यः'** बना। इसी **'स्यः'** से परे व्यञ्जन वर्ण होने से सु का लोप इस सूत्र से वेद में होता है। लोक में इस सूत्र का पूर्ववर्ती सूत्र **'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** (अष्या० 6.1.132) करता है, जैसे **सः पठति, सः लिखति।** लोप होने पर **स गच्छति।** सुलोप नहीं भी होता-**यत्र स्यो निपतेत्।**

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग वेदों में उपलब्ध हैं-

1. **अस्य।।**
   - (क) **अभूद्यः स्य दूतो न आजगन्।।** ऋ० 1.161.4
   - (ख) **उत स्य न इन्द्रो विश्वचर्षणिः।।** ऋ० 2.31.3
   - (ग) **उत स्य देवो भुवनस्य सक्षणिः।।** ऋ० 2.31.4

(घ) क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुः।। ऋ० 2.33.7

(ङ) एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः।।

ऋ० 2.36.5; शौ० 20.67.6

(च) उत स्य वाजी सहुरिर्ऋतावा।। ऋ० 4.38.7

(छ) उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति।।

ऋ० 4.40.4; मा० 9.14

(ज) एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते।। ऋ० 4.45.1

(झ) क्व स्य वीरः को अपश्यदिन्द्रम्।। ऋ० 5.30.1

(ञ) उत स्य वाज्यरुषः।। ऋ० 5.56.7

(ट) यद्ध स्य मानुषो जनः।। ऋ० 6.2.3

(ठ) उत स्य देवः सविता भगो नः।। ऋ० 6.50.13

(ड) अयमु ष्य सुमहाँ अवेदि।। ऋ० 7.23.3

(ढ) वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वा।। ऋ० 7.23.3

(ण) एष स्य मित्रावरुणा नृचक्षाः।। ऋ० 7.60.2।।

(त) एष स्य वां पूर्वगत्वेव सख्ये।। ऋ० 7.67.7

(थ) एष स्य कारुर्जरते सूक्तैः।। ऋ० 7.68.9

(द) यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्राः।। ऋ० 7.69.5

(ध) उदु ष्य शरणे दिवः।। ऋ० 8.25.19

(न) उदु ष्य वः सविता सुप्रणीतयः।। ऋ० 8.27.12

(प) क्व1स्य वृषभो युवा।। ऋ० 8.64.7

(फ) एष उ स्य पुरुव्रतः।। ऋ० 9.3.10; कौ० 2.615

(ब) एष उ स्य वृषा रथः।। ऋ० 9.38.1; कौ० 2.624

(भ) एष स्य मानुषीष्वा।। ऋ० 9.38.4; कौ० 2.626

(म) एष स्य मद्यो रसः।। ऋ० 9.38.5।।

(य) एष स्य पीतये सुतः।। ऋ० 9.38.6; कौ० 2.628

(र) एष स्य परि षिच्यते।। ऋ० 9.62.13

(ल) एष स्य सोमः पवते।। ऋ० 9.84.4

(व) एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः।।

ऋ० 9.87.4; कौ० 1.531

(स) प्रो स्य वह्निः पथ्याभिरस्यान्।। ऋ० 9.89.1

(श) एष स्य सोमो मतिभिः पुनानः।। ऋ० 9.96.15

(ष) एष स्य ते पवत इन्द्र सोमः।। ऋ० 9.97.46।।

(ह) परि ष्य सुवानो अव्ययम्।। ऋ० 9.98.2

(अ) एष स्य धारया सुतः।। ऋ० 9.108.5; कौ० 1.584

(आ) क्व1स्य पुल्वघो मृगः।। ऋ० 10.86.22

(इ) उत स्य न उशिजामुर्विया कविः।। ऋ० 10.92.12

(ई) अयमु ष्य प्र देवयुः।। ऋ० 10.176.3

(उ) एष स्य राथ्यो वृषा।। मा० 23.13

(ऊ) क्वा३स्य वृषभो युवा।। कौ० 1.142।।

(ए) परि स्य स्वानो अक्षरत्।। कौ० 2.590

(ऐ०) वि बाधिष्ट स्य रोदसी।। शौ० 20.12.3।।

(ओ०) क्व1स्य पुल्वघो मृगः।। शौ० 20.126.22

चारों वेदसंहिताओं में 'स्यः' शब्द के सु का हल् परे रहते लोप होने के ये पचास प्रयोग मिलते हैं। 'स्यः' शब्द के सु का हल् परे रहते बहुल करके लोप न हुआ हो, ऐसा कोई भी प्रयोग हमें नहीं मिला। अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों ने भी जो 'सु' के लोप होने का उदाहरण दिया है, वह लौकिकप्रतीत होता है।।

151. ह्रस्वाच् चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे।। अष्टा० 6, 1, 151

का०-चन्द्रशब्द उत्तरपदे ह्रस्वात् परः सुडागमो भवति मन्त्रविषये। सुश्चन्द्र (ऋ० 5.6.5)। ह्रस्वादिति किम्? सूर्याचन्द्रमसाविव (ऋ० 5.51.15)। मन्त्र इति किम्? सुचन्द्रा। पौर्णमासी। उत्तरपदं समास एव भवतीति प्रसिद्धम्, तत इह न भवति-शुक्रमसि चन्द्रमसि (मा० सं० 4.18)।।

सि०-ह्रस्वात्परस्य चन्द्रशब्दस्योत्तरपदस्य सुडागमः स्यान्मन्त्रे। हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः (ऋ० 9.66.26)। सुश्चन्द्र दस्म (ऋ० 5.6.5)।।

'सुट् कात् पूर्वः' (अष्टा० 6.1.1.31) से 'सुट्' की तथा पूर्ववत् संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। ह्रस्व से उत्तर चन्द्र शब्द उत्तरपद हो, तो

सुट् का आगम मन्त्रविषय में संहिता में होता है। उदा०–**सुश्चन्द्र**। '**स-चन्द्रः**' से प्रस्तुत सूत्र से सुट् आगम अनुबन्ध लोप, '**स्तोः श्चुना श्चुः**' (अष्या० 8.4.40) से श्चुत्व, **सुश्चन्द्रः**। इसी प्रकार **हरिश्चन्द्रः**। लोक में '**हरिश्चन्द्रः**' का '**प्रस्कण्वहरिचन्द्रावृषी**' (अष्या० 6.1.153) से ऋषि अर्थ में आचार्य ने निपातन किया है। काशिका के कतिपय संस्करणों में '**सुश्चन्द्र युष्मान्**' का स्थान संकेत (ऋ० 5.6.5) दिया है, जो गलत है। भट्टोजिदीक्षित ने सूत्रवृत्ति में '**चन्द्रोत्तरपदे**' पद के व्याख्यानार्थ '**चन्द्रशब्दस्य उत्तरपदस्य**' लिखा है, जिसका अर्थ है कि ह्रस्व के बाद सुट् होता है, यदि उत्तरपद में चन्द्र शब्द हो तो, तथा यह सुट् '**चन्द्र**' को ही होता है। ह्रस्व से परे–इसका क्या फल है? '**सूर्याचन्द्रमसाविव**'– यहाँ दीर्घ से परे '**चन्द्र**' पद है, अतः सुट् नहीं हो सकता। मन्त्र विषय में–इसका क्या अभिप्राय है? '**सुचन्द्रा पौर्णमासी**'–यह लौकिक वाक्य है। उत्तरपद पारिभाषिक रूप से समास में ही होता है, ऐसा प्रसिद्ध है, अतः '**शुक्रमसि चन्द्रमसि**'–इस '**मसि**' ह्रस्व पद के बाद होने पर भी परिभाषिक उत्तरपद नहीं है, सो सुट् नहीं हो सकता।

सूत्रानुसार हम वेदों में प्राप्त प्रयोगों को उपस्थापित कर रहे हैं–

1. **सुश्चन्द्रः।।**
   (क) **सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट्।।**
   ऋ० 5.6.5; कौ० 2.373
   (ख) **हव्या सुश्चन्द्र वीतये।।** ऋ०1, 74, 6।।
   (ग) **उभे सुश्चन्द्र सर्पिषः।।** ऋ० 5.6.9; मा० 15.43
   (घ) **सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्।।** ऋ० 2.34.13
   (ङ) **अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य।।** ऋ० 4.2.19
   (च) **औभे सुश्चन्द्र विश्पते।।** कौ० 2.374
2. **हरिचन्द्रः।।**
   (क) **हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः।।** ऋ० 9.66.26; कौ० 2.661

इस सूत्र के ये दस प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

152. पितरामातरा चच्छन्दसि।। अष्टा० 6.3.33

का०–पितरामातरा इति छन्दसि निपात्यते। आ मा गन्तां पितरामातरा च (मा० सं० 9.19)। पूर्वपदस्याराङादेशो निपात्यते। उत्तरपदे

तु 'सुपां सुलुक्०' (7.1.39) इति आकारोदशः। तत्र 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' (7.3.110) इति गुणः। छन्दसीति किम्? मातापितरौ।।

सि०-द्वन्द्वे निपातः। आ मा गन्तां पितरामातरा च (मा० सं० 9.19)। चात् विपरीतमपि। न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।।

'**पितरामातरा**' यह शब्द भी वेदविषय में निपातन किया जाता है। उदा०-**आ मा गन्तां पितरामातरा च। पिता च माता च**-इस अर्थ में '**चार्थे द्वन्द्वः**' (अष्ट्या० 2.2.29) से द्वन्द्व समास, तब लोक में '**पिता मात्रा**' (अष्ट्या० 1.2.60) से द्वन्द्व समास होने पर '**माता**' का लोप हुआ, तब '**पितरौ**' या विकल्प की स्थिति में लोप न होने पर '**मातापितरौ**' रूप बना। किन्तु वेदविषय में '**पितरामातरा**' शब्द निपातन से सिद्ध होता है। '**पितरामातरा**' में पूर्वपद पितृ को अराङ् आदेश निपातित किया गया '**पितरा**'। मातृ को '**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः**' (7.1.39) से आकारादेश-पितरामातर्= आ= 'पितरामातरा' बना। भट्टोजिदीक्षित ने '**च**' के सामर्थ्य से '**पितरामातरा**' का विपरीत रूप भी माना है-**न मातरापितरा नू चिदिष्टौ**। वेद विषय में -इसका क्या फल है? **मातापितरौ**। यह लौकिक प्रयोग है, अतः आनङ् ही होगा।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण मिलते हैं-

1. **पितरामातरा।।**

(क) **आ मा गन्तां पितरा मातरा च।।**

मा० 9.19; तै० 1.7.8.3; काठ० 14.1

(ख) **आ मा गतं पितरा मातरा युवम्।।** का० 10.3.12

वेदों मे इस प्रयोग की चार बार किञ्चित् परिवर्तन के साथ पुनवृत्ति ही हुई है।।

153. समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युर्केषु।। अष्टा० 6.3.84

का०-स इति वर्तते। समानस्य स इत्ययमादेशो भवति छन्दसि विषये मूर्धन् प्रभृति उदर्क इत्येतान्युत्तरपदानि वर्जयित्वा। अनु भ्राता सगर्भ्यः (मा० सं० 4.20)।

अनु सखा सयूथ्यः (मा० सं० 4.20)। यो नः सनुत्यः (ऋ० 2.30.9)। समानो गर्भः सगर्भः, तत्र भव सगर्भ्यः। 'सगर्भसयूथसनुताद् यन्' (4.4.114) इति यन् प्रत्ययः। अमूर्धप्रभृत्युदर्केष्विति किम्? समानमूर्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्काः। समानस्येति योगविभाग इष्टप्रसिद्ध्यर्थः (परि० 114) क्रियते। तेन सपक्षः, साधर्म्यम्, सजातीय इत्येमादयः सिद्धा भवन्ति।

सि०–समानस्य सः स्यान्मूर्धादिभिन्ने उत्तरपदे। सगर्भ्यः (मा० सं० 4.20)।।

'सहस्य सः संज्ञायाम्' (अष्टा० 6.3.77) से **'सः'** की तथा **'अलुगुत्तरपदे'** (अष्या० 6.3.1) से **'उत्तरपदे'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में समान शब्द को **'स'** आदेश हो जाता है। **मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क** उत्तरपद न हों तो। उदा०– **अनुभ्राता सगर्भ्यः। समानः गर्भः**– इस अर्थ में समास के बाद समान का **'स'** आदेश होने पर **सगर्भः, सगर्भे भवः**– इस अर्थ में **'सगर्भसयूथ०'** (अष्या० 4.4.114) से **'यन्'** प्रत्यय होकर **सगर्भ्यः। 'पूर्वापरप्रथम०'** (अष्या० 2.1.50) से समास। **अनुसखा सयूथ्यः। यो नः सनुत्यः।** मूर्धन्, प्रभृति तथा उदर्क–इनको छोड़कर– इसका क्या फल है **समानमूर्धा।** यहां **'मूर्धन्'** पद उत्तरपद है, इसलिये **'स'** आदेश **'समान'** को नहीं हुआ। **समानप्रभृतयः। समानोदर्काः।** इष्ट शब्दरूपों की सिद्धि के लिये **'समानस्य'** यह योग–विभाग किया जाता है। इससे ये रूप भी सिद्ध होते हैं– **सपक्षः। साधर्म्यम्। सजातीयः।** इनमें बहुव्रीहि के बाद समान का **'स'** आदेश हो जाता है।।

इस सूत्र के जो प्रयोग वेदों में मिलते हैं, उन्हें हम स्थापित कर रहे हैं–

1. **सतानूनप्त्रिणाम्।।**
   (क) **तस्माद्यः सतानूनप्त्रिणां प्रथमो दुह्यति।।** तै० 6.2.2.2
2. **सनाभयः।।**
   (क) **सनाभयो वाजिनमूर्जयन्ति।।** ऋ० 9.89.4
   (ख) **रथानां न ये1ऽराः सनाभयः।।** ऋ० 10.78.4
   (ग) **सर्वा गावस् समनस् सत्सवयस् सनाभयः।।**

पै० 20.24.3

3. सचित्ता।।
   (क) सप्तहोत्रा हतशत्रून् सचित्तान्।। पै० 10.4.1
   (ख) सर्वा सरस्वतीर् अदुस् सचित्ताः विषदूषणम्।।
   पै० 19.13.4

4. सजातः।। सबन्धुः।।
   (क) यं मे सबन्धुर्यम सबन्धुः यं मे सजातो यमसजातः।।
   मा० 5.23

5. सजात्य।। सजात्यस्य।।
   (क) सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ।। ऋ० 8.64.13

6. सजात्येन।।
   (क) सजात्येन मरुतः सबन्धवः।। कौ० 1.404

7. सयोनि-सयोनयः।।
   (क) संजानानां संमनसः सयोनयः।। शौ० 7.20.1
   (ख) सयोनिरेव सनाभिः संभ्रियते।। मै० 3.1.5।।
   (ग) सयोनिरेव सनाभिश्श्रीयत।। मै० 3.2.6

8. सगर्भ्यः। सयूथ्यः।।
   (क) अनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।।
   मा० 4.20; 6.9; तै० 1.2.4.2 मै० 1.2.4, ; 1.13.4

9. सनुत्यः।।
   (क) यो नः सनुत्य अभिदासदग्ने।।
   ऋ० 6.5.4; काठ० 35.14

153।। अ।। छन्दसि स्त्रियां बहुलमिति वत्तफव्यम्।। वा० 6.3.92

का०-विश्वाची (ऋ० 7.43.3) च घृताची (ऋ० 1.167.3) चेत्यत्र न भवति। कद्रीची (ऋ० 1.164.17) इत्यत्र तु भवत्येव।।

सि० - छन्दसि स्त्रियां बहुलम्।। (वा० 6.3.92) विष्वग्देवयोरद्र्यादेशः। विश्वाची च धृताची च (मा० 15.18) देवद्रीची नयत देवयन्तः (ऋ० 3.6.1)। कद्रीची पै० 16.67.7।।

लोक में विष्वक् (विष्वग्) एवं देव शब्दों के तथा सर्वनाम शब्दों के 'टि' को अद्रि आदेश **'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ व प्रत्यये'** (6.392) से होता है। 'व' प्रत्यान्त से क्विप् और क्विन् प्रत्यय गृहीत किये जाते हैं। जैसे- विष्वक् + अञ्चु+ क्विन्= **विष्वद्र्यङ्। देवद्र्यङ्।** स्त्रीलिङ्ग में **देवद्रीची। तद्रीची** आदि होंगे। किन्तु वेद में यह अद्रि आदेश बहुल करके दिखायी देता है। जैसे- **'विश्वाची च धृताची च'- विश्वम् अञ्चति इति।** में विश्व + अञ्चु + क्विन्। क्विन् का सर्वापहारी लोप। विश्व + अञ्चु। इत्संज्ञा, **'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति'** (अष्या० 6.4.24) से ङ् लोप। विश्व + अच् = विश्वाच। **'उगितश्च'** (अष्या० 6.3.45) से ङीप्। **'चौ'** (अष्या० 6.3.138) से पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ आदेश होकर विश्वाची। इसी प्रकार घृताची। इनमें अद्रि आदेश नहीं हुआ। बहुलरूप से अद्रि आदेश हो जाता है, यथा- **देवद्रीचीं।** देव+ अञ्चु + क्विन् = अद्रि आदेश, देव + अद्रि+ अच् + ङीप्, अलोप, दीर्घ, **देवद्रीची। कुत्सितमञ्चतीति-कद्रीची।** यदि स्त्रीलिङ्ग विवक्षित हो, तो वेद में इस प्रकार अद्रि आदेश बहुल रूप से होता है।।

प्रस्तुत वार्तिक से स्त्रीलिङ्ग में अद्रि आदेश बहुलता से प्राप्त होता है, जिन स्थलों पर अद्रि आदेश नहीं हुआ, उनका प्रयोग प्रथमतः दिखा रहे हैं-

1. **विश्वाची।।**

(क) **आ विश्वाची विदथ्यामनक्तौ।।** ऋ० 7.43.3

(ख) **विश्वाची च घृताची च।।**

मा० 15.18; का० 16.4.7; मै० 2.8.10

(ग) **स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीः।।** तै० 4.6.3.3

(घ) **स विश्वाची अभिष्टे घृताची।।**

काठ० 18.3; पै० 16.103.7

जहाँ 'अद्रि' आदेश बहुलता से होता है, वे पद-

1. देवद्रीची।।
   (क) देवद्रीचीं नयत देवयन्तः।। ऋ० 3.6.1; मै० 4.14.3
2. कद्रीची।।
   (क) सा कद्रीचीं क स्विदर्धं परागात्।।

ऋ० 1.164.17; शौ० 9.14.17; 13.1.41;

पै० 16.67.7; शौ० 18.19.1

'तद' (सर्वनाम) से भी 'अद्रि' प्रत्यय के प्रयोग मिलते हैं, किन्तु 'स्त्रीलिङ्ग' के उदाहरण नहीं मिले-

1. तद्रियच् तद्रियङ्।।
   (क) तद्रियङ्ङग्निर्दहति स्वमेव तत्।। तै० 5.5.1.2
2. इद्रियङ्।।
   (क) तस्माद्यद्रियङ् वायुर्वाति।। तै० 5.5.1.21

154. सध मादस्थयोश्छन्दसि।। अष्टा० 6.3.96

का०-छन्दसि विषये मादस्थ इत्येतयोरुत्तरपदयोः सहस्य सध इत्यमादेशो भवति। सधमादो द्युम्निनीरापः (मा० सं० 10.7)। सधस्थाः (तै० सं० 5.7.7.1)।।

सि०-सहस्य सधादेशः स्यात् मादस्थयोः परतः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे (ऋ० 8.2.3)। सोमः सधस्थम्।।

इस सूत्र में **'सहस्य सध्रिः'** (अष्या० 6.3.95) से **'सहस्य'** की तथा पूर्ववत् उत्तरपदे की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में यदि उत्तर पद में माद या स्थ शब्द हों तो सह के स्थान में सध आदेश होता है। उदा०-सधमादः। सह माद्यन्ति अस्मिनिति। सधस्थः। भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रदत्त **'सोमः सधस्थम्'** उदाहरण प्राप्त वेदसंहिताओं में अनुपलब्ध है।

इस सूत्र के वेदों में प्राप्त-प्रयोगों को हम दिखा रहे हैं-

1.सधमादम्।।

(क) **को अस्य वीर सधमादमापः।।** ऋ० 4.23.2

(ख) **आरात्तातिच्चित्सधमादं न।।**

ऋ० 7.32.1; कौ० 1.28.4; 2.16.75

(ग) नायमच्छा सधमादम्।। ऋ० 8.2.28

(घ) यमेन ये सधमादं मदन्ति।।

ऋ० 10.14.10; तै० 1.8.5.2;

(ङ) स एतमर्धमासंसधमादं देवैः सोमं पिबति।। तै० 2.5.5.5

(च) इहैवेडया वसुमत्या सधमादं मदेम।। मै० 4.13.8

(छ) इहेडया सधमादं मदन्तः।। शौ० 6.62.3

(ज) अप्सरसः सधमादं मदन्ति।। शौ० 7.114.3

(झ) गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम।। शौ० 7.114.5

(ञ) यत्र देवैः सधमादं मदन्ति।।

शौ० 18.4.10; पै० 14.3.24

(ट) तृतीये नाके सधमादं मदेम।। पै० 2.60.1

2. सधमादे।।

(क) घृतप्रयाः सधमादे मधूनाम्।। ऋ० 3.43.3

(ख) इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व।।

ऋ० 7.22.3; मै० 4.12.4; काठ० 12.15

(ग) इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे।। ऋ० 8.2.3

(घ) रेवतीर्नस्सधमाद इन्द्रे।।

काठ० 8.17; कौ० 1.153; 2.10.84;

जै० 1.16.6; 3.33.9

(ङ) मधो रसं सधमादे।। कौ० 2.10.10।।

(च) हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम्।। शौ० 20.32.2

(छ) हरी सखाया सधमाद आशू।। शौ० 20.86.1

3. सधस्थम्।।

(क) यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थम्।। ऋ० 1.154.1

(ख) सोमः सधस्थमासदत्।। ऋ० 3.62.15

(ग) सधस्थं विश्वे अभिसन्ति देवाः।। ऋ० 7.39.4

(घ) क्रत्वा सधस्थमासदत्।। ऋ० 9.16.4

(ङ) पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम्।। मा० 10, 7

(च) द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थम्।। मा० 11.20; मै० 2.7.2

(छ) प्रत्नञ्ज सधस्थमाऽसदत्।।

मा० 11.48; कौ० 2.676; जै० 3.1.5

(ज) द्रोणे सधस्थमासदत्।। मा० 26.26

(झ) देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्।। का० 31.1.1

(ञ) सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय।। तै० 1.2.13.3

(ट) प्रत्नँ सधस्थमनुपश्यमानः।। काठ० 40.12

(ठ) द्रोणे सधस्थमश्नुषे। कौ० 2.786

(ड) नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्।। शौ० 2.2.1

(ढ) अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थम्।। शौ० 6.80.3

(ण) महत्सधस्थं महती बभूविथ।। शौ० 12.1.1

(त) यो अस्कभायत् उत्तरं सधस्थम्।। पै० 20.6.9

4. सधस्थाः।।

(क) देवाः सधस्था विद रूपमस्य।।

मा० 18.60; का० 20.4.3

(ख) देवाः सधस्था विद लोकमत्र।। शौ० 6.123.2

5. सधस्थात्।।

(क) यदेदयुक्त हरितः सधस्थात्।।

ऋ० 1.115.4; मै० 4.10.2; शौ० 20.123.1

(ख) आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।।

ऋ० 1.115; मै० 4.10.2; शौ० 20.123.1

(ग) पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यम्।।

मा० 11.16; का० 12.2.5; तै० 4.1.1.4

(घ) उक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात्।। शौ० 7.65.1

6. सधस्थानि।।

(क) इन्द्राग्नी तविषाणी वां सधस्थानि प्रयांसि च।।

ऋ० 3.12.8 कौ० 2.15.78; 16.95

(ख) सधस्थानि महयमान ऊती।। ऋ० 3.25.5

वेदों में सधमादम्, सधमादे, सधस्थम्, सधस्थाः सधस्थात्, सधस्थानि पद प्रयुक्त हैं, इनका प्रयोग सडसठ स्थलों पर हुआ है।।

155. पथि च छन्दसि।। अष्टा० 6.3.108

का०-पथिशब्द उत्तरपदे छन्दसि विषये कोः कवं का इत्येतावादेशौ भवतो विभाषा। कवपथः, कापथः, कुपथः।।

सि०-पथिशब्दे उत्तरपदे कोः कवं कादेशश्च। कवपथः। कापथः। कुपथः।।

'विभाषा पुरुषे' (अष्टा० 6.3.106) से 'विभाषा' की, 'कवं चोष्णे' (अष्टा० 6.3.107) से 'कवम्' की, 'का पथ्यक्षयोः' (अष्टा० 6.3.104) से 'का' की, 'को कत्तत्पुरुषेऽचि' (अष्टा० 6.3.101) से 'कोः' की तथा पूर्ववत् 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आ रही है। पथिन् शब्द उत्तरपद रहते वेद में 'कु' को 'कव' तथा 'का' आदेश विकल्प से होता है। पक्ष में जब 'कव' एवं 'का' आदेश नहीं होगें, तो 'कु' ही रहकर 'कुपथः' बनेगा। कुत्सितः पन्था-कवपथः, कापथः, कुपथः।।

वेदसंहिताओं में कवपथः, कापथः, कुपथः पद अप्रयुक्त हैं। सम्भव है आचार्य के समय प्राप्त-वेदों में इन पदों का प्रयोग प्राप्त होता रहा हो।।

156. साढ्यै साढ्वा साढेति निगमो।। अष्टा० 6.3.113

का०-साढ्यै साढ्वा साढा इति निगमे निपात्यन्ते। साढ्यै (मै० सं० 1.6.3) समन्तात्। साढ्वा (मै० सं० 3.8.5) शत्रून्। सहेः क्त्वाप्रत्यय ओत्त्वाभावः। पक्षे क्त्वाप्रत्ययस्य ध्यैभावः। साढेति तृचि रूपमेतत्। निगम इति किम्? सोढ्वा सोढेति भाषायाम्।।

सि०-सहेः क्त्वाप्रत्यये आद्यं द्वयं, तृनि तृतीयं निपात्यते। मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा (ऋ० 7.56.23)। अचोर्मध्यस्थस्य डस्य ळः ढस्य ळ्हश्च प्रातिशाख्ये विहितः। आह हि-

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।

ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः।।

ऋ० प्रा० 1.52

वेद में **साढ्यै साढ्वा और साढा** ये शब्द निपातन किये जाते हैं। **'साढ्यै'** शब्द में सह् धातु से क्त्वा प्रत्यय को **'ध्यै'** भाव तथा **'सहिवहोरोदवर्णस्य'** (अष्टा० 6.3.112) से होने वाले ओत्व का निपातन से अभाव। इसी प्रकार **'साढ्वा'** में **'क्त्वा'** होकर ओत्व का निपातन से अभाव। **'साढा'** शब्द की प्रक्रिया में अनेक मतभेद हैं। काशिकाकार इसे **'तृच्'** प्रत्यय से निष्पन्न माना है-**'साढेति तृचि रूपमेतत्'**। किन्तु मदमञ्जरीकार इसे अपपाठ मानकर निष्ठा प्रत्यय क्त का रूप स्वीकार करते हैं- **अपपाठोऽयम् इत्यादौ निष्ठायामात्वदर्शनात्। तस्मान्निष्ठायां रूपमिति पाठः।** भट्टोजिदीक्षित ने **'तृनि तृतीयं निपात्यते'** कहकर तथा कु० प्रज्ञादेवी ने **'साढा इति तृनि रूपमेतत् (उभयथाऽपि शक्यमिह विज्ञातुम् यद्युभयप्रत्ययस्वर उपलभ्यते वेदे')** कहकर तृन् प्रत्यय का रूप माना है। भट्टोजिदीक्षित ने **'साळ्हा'** उदाहरण देकर प्रातिशाख्यकार के श्लोक को उपस्थित किया है, जिसमें कहा है कि दो स्वरों के मध्य में जब ड् या ढ् अक्षर आता है, तब उसके स्थान पर ऋग्वेद में क्रमशः ळ् और ळ्ह् हो जाते हैं-यथा-

1. **अग्निमीळे।।**
   (क) **अग्निमीळे पुरोहितम्।।** ऋ० 1.1.1
2. **मृळ।।**
   (क) **इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ।।** ऋ० 10.83.5
3. **जिहीळ।।**
   (क) **तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळ।।** ऋ० 10.83.5
4. **हव्यवाळुत।।**
   (क) **असो हव्यवाळुत नः पुरोगा।।** ऋ० 10.124.5
5. **ईळामहे।।**
   (क) **उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा।।** ऋ० 10.85.22

दोनों ओर स्वर न रहने पर यह परिवर्तन नहीं होता है, यथा-

1. **ईड्यम्।।**
   (क) **ऋभुश्चक्र ईड्यं चारु नाम।।** ऋ० 3.5.6
   (ख) **आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यम्।।** ऋ० 3.9.8

यहाँ 'ईड्यम्' में 'ड्' से पूर्व तो 'ई' स्वर है, किन्तु ड् से परे य है, जो स्वर नहीं है, अतः यहाँ ड् को ळ् नहीं हुआ–

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः।।

ऋ० प्रा० 1.52

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग प्राप्त होते है–

1. साढयै।।
   (क) तत् साढयै वावैष आधीयते।। मै० 1.6.3
2. साढवा।।
   (क) सपत्नं भ्रातृव्यं साढवा तेऽकामयन्त।। मै० 3.85
3. साढः।।
   (क) यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम्।।
4. साळ्हा–(ढ ळ्ह)।।
   (क) मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा।। ऋ० 7.56.23

ये चार प्रयोग वेदों से उपलब्ध हुए हैं।।

157. छन्दसि च।। अष्टा० 6.3.126

का०–छन्दसि विषयेऽष्टन उत्तरपदे दीर्घो भवति। आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् (मै० सं० 2.1.3)। अष्टाहिरण्या दक्षिणा। अष्टापदी देवता सुमती। अष्टौ पादावस्या इति बहुव्रीहौ पादस्य लोपे (5.4.138) कृते 'पादोऽन्यतरस्याम्' (4.1.8) इति ङीप्।। गवि च युक्ते भाषायामष्टनो दीर्घो भवतीति वक्तयम्।। अष्टागवं शकटम्।।

सि०–अष्टन् आत्वं स्यादुत्तरपदे। अष्टापदी (ऋ० 1.164.11)।।

इस सूत्र में 'अष्टनः संज्ञायाम्' (अष्ट्य० 6.3.125) से 'अष्टनः' की, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (अष्ट्य० 6.3.110) से 'पूर्वस्य दीर्घोऽणः' की तथा पूर्ववत् उत्तरपदे, संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में अष्टन् शब्द को दीर्घ हो जाता है, उत्तरपद परे रहते। अष्टाकपालम्। अष्टसु

कपालेषु संस्कृतम्= **अष्टाकपालम्**। यहाँ '**संस्कृतं भक्षाः**' (अष्या० 4.2.16) से अण् होकर उसका '**द्विगोर्लुगनपत्ये**' (अष्या० 4.1.88) से लुक्। **अष्टाहिरण्या। अष्टौ हिरण्यानि परिमाणमस्य**- इस तद्धितार्थ में समास तथा '**तदस्य परिमाणम्**' (अष्या० 5.1.56) से उत्पन्न प्रत्यय का '**अध्यर्द्धपूर्व-द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्**' (अष्या० 5.1.28) से लुक्। **अष्टापदी। अष्टौ पादा अस्याः इति**। इस बहुवीहि में '**पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः**' (अष्या० 5.4.138) से '**पाद**' शब्द के अ का लोप तथा '**पादोऽन्यतरस्याम्**' (अष्या० 4.1.8) से ङीप्। लोक में '**अष्टनः संज्ञायाम्**' (अष्या० 6.3.125) से संज्ञा में '**अष्टन्**' को आत्व होता है, जैसे-**अष्टावक्रः, अष्टापदः**।। गो शब्द परे रहते युक्त अर्थ में अष्टन् का दीर्घ है भाषा में। उदा0- **अष्टागवं शकटम्**। यहां दीर्घ हो गया।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **अष्टापदी**।।

   (क) **अष्टापदी नवपदी बभूवुषी**।।

   ऋ० 1.164.11; शौ० 9.15.21 पै० 16.99.11

   (ख) **एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी पञ्चपदी षट्पदी। सप्तपद्यष्टापदी भुवनाऽनु प्रथतांस्वाहा**।। तै० 3.3.10.2

   (ग) **अष्टाप्रूडिषरण्यं दक्षिणाऽष्टापदी ह्येषात्मा**।।

   तै० 3.4.1.4

   (घ) **ताजगार्तिमर्दन्त्ययैषाष्टापपदी**।। मै० 4.8.9

   (ङ) **यदाष्टापद्यभूदिति अनुबुध्येत धाता**।। काठ० 13.10

   (च) **अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रात्रा चतुर्हनुः**।। शौ० 5.19.7

   (छ) **सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने**।। शौ० 10.1.24

2. **अष्टापदीभिः**।।

   (क) **अष्टापदीभिराहुतः**।। ऋ० 2.1.7

3. **अष्टापदीम्**।।

   (क) **वाचमष्टापदीमहं नवस्त्रक्तिमृतस्पृशम्**।।

   ऋ० 8.76.12; कौ० 2.990

(ख) अष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताज्ज स्वाहा।।

मा० 8.30; का० 9.5.1

1. अष्टाकपालः।।

(क) द्वादशकपालोऽनुमत्या अष्टाकपालः।। मा० 29.60

(ख) पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति।। तै० 2.2.5.3

(ग) करोत्यष्टाकपालः कार्यः।। तै० 3.5.4.4

(घ) अष्टाकपालः कार्यः।। मै० 1.7.4

(ङ) आग्नेऽयोऽष्टाकपालः सौम्यश्चरुः।। मै० 1.10.1

(च) आग्नोऽयोऽष्टाकपालः माहेन्द्रम्।। मै० 2.6.1

(छ) तस्मादष्टाकपालः तत्।। काठ० 9.3

(ज) प्रातरष्टाकपालो मरुद्धयः।। काठ० 9.4

(झ) यदष्टाकपालस्तेनाग्नेयः।। काठ० 10.2

2. अष्टाकपालम्।।

(क) आग्नावैष्णमवष्टाकपालं निर्वपेत्।। तै० 2.2.9.5

(ख) आग्नयेमष्टाकपालमपश्यत्।। तै० 3.4.3.1

(ग) आग्नेययमष्टाकपालं निर्वपेत्।। तै० 5.6.5.1

(घ) अग्नये जातवेदसेऽष्टाकपालं निर्वपेत्।। मै० 2.1.7

(ङ) आग्नावैष्णवं प्रातरष्टाकपालं निर्वपते।। मै० 2.1.7

(च) अग्नये ज्योतिम्तेऽष्टाकपालं निर्वपेत्।। काठ० 11.1

(छ) अग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्।। काठ० 13.3

3. अष्टाकपालेन।।

(क) पुनरेत्यानुमत्या अष्टाकपालेन प्रचरन्ति।।

मै० 2.6.1; 4.3.1

4. अष्टाशफः/अष्टाशफान्।।

(क) यदाष्टाशफोऽष्टाशफान् पशून्।। काठ० 19.8

5. अष्टाशफाः।।

(क) अष्टावष्टावन्येषु धिष्णियेषूप दधात्यष्टाशफाः पशवः।।

तै० 5.4.11.4

(ख) प्रथमाष्टाशफाः पशवः पशूनेवावरून्द्ध।। काठ० 20.4

6. अष्टाक्षरम्।।
   (क) यदष्टाक्षरं तेन गायत्री।। मै० 3.6.5
7. अष्टाक्षरया।।
   (क) बृहस्पतिरष्टाक्षरयानुष्टुभमुदजय।। मै० 1.11.10
8. अष्टाक्षरा।।
   (क) अष्टाक्षरा गायत्री।।
   तै० 2.2.5.5; 5.1.1.2; मै० 3.1.1; 4.5.5; काठ० 18.19; 19.4
9. अष्टाक्षराणि।।
   (क) सप्ताक्षरं प्रथमं पदमष्टाक्षराणि।। तै० 6.1.2.6
   (ख) एतस्याः सत्यास्त्रीण्यष्टाक्षराणि पदानि।। मै० 3.6.5

वेदसंहिताओं में अष्टाकपालः, अष्टाकपालम्, अष्टाकपालेन, अष्टापदी, अष्टापदीम्, अष्टापदीभिः, अष्टाशफः, अष्टाशफाः, अष्टांशफान्, पदों का पैंतालिस स्थलों पर प्रयोग हुआ है।।

158. मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ।।
अष्टा० 6.3.131

का०-मन्त्रविषये सोम अश्व इन्द्रिय विश्वदेव्य इत्येतेषां मतुप्प्रत्यये परतो दीर्घो भवति। सोमावतीम् (ऋ० 10.97.7)। अश्वावतीम् (ऋ० 10.97.7)। इन्द्रियावती। (तै० सं० 2.4.2.1)। विश्वदेव्यावती (तै० सं० 4.16.1)।।

सि०-दीर्घः स्यान्मन्त्रे। अश्वावतीं सोमावतीम् (ऋ० 10.97.7)। इन्द्रियावान्मदिन्तमः। विश्वकर्मणां विश्वदेव्यावता।।

इस सूत्र में पूर्ववत् 'पूर्वस्य दीर्घोऽणः' संहितायाम् की अनुवृत्ति है। सोम, अश्व, इन्द्रिय और विश्वदेव्य शब्दों के अन्तिम वर्ण को वेदविषय में दीर्घ हो जाता है, यदि बाद में मुतप् प्रत्यय हो तो। सोमावतीम्। सोम + मतुप् 'तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्' (अष्य० 5.2.94) से मतुप्। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (अष्या० 8.2.9) अवर्णान्त सोम से परे 'मतुप्' के 'म'

का 'व' होने पर, प्रस्तुत सूत्र से 'सोम' के 'म' का दीर्घ सोमा + वत्, **'उगितश्च'** (अष्य० 4.1.6) से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' सोमावती–द्वितीया एकवचन में **'अमिपूर्वः'** (अष्य० 6.1.107) से पूर्वरूप होकर **सोमावतीम्। अश्वावतीम्।** काशिका के कतिपय संस्करणों में **सोमावती, अश्वावती** – ये उदाहरण देकर स्थान संकेत (ऋ० 10, 97, 7) का दे रखा है, जो संहिता पाठ के विपरीत उदाहरण है, वहाँ पर सोमावतीम्, अश्वावतीम् पद हैं। लोक में 'सोमवती' पद प्रयुक्त होता है, यथा– **सोमवती अमावस्या। इन्द्रियावती। विश्वदेव्यावती।** सूत्र में समागत उदाहरण अकारान्त हैं। आकारादेश पूर्ववत् तथा ङीप् भी पूर्ववत् होकर सिद्ध होगें। सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार शारदारञ्जन राय तथा सुबोधिनीकार जयकृष्णपण्डित **'विश्वदेव्य'** को **'विश्व'** और **'देव्य'** ये दो पृथक् पद मानते हैं, उनके अनुसार सूत्र में **सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्व, देव्य**–ये पाँच पद हैं। राय ने लिखा है– **''पञ्चानां शब्दानामन्त्यस्वरस्य दीर्घःस्यात्''**। किन्तु भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र पर **'विश्वदेव्यावता'** तथा काशिकाकार ने **'विश्वदेव्यावती'**– ये उदाहरण देकर **'विश्वदेव्य'** को एक ही पद स्वीकार किया है। नागेश ने सूत्र के **'मन्त्रे'** का अभिप्राय **'सोममन्त्रविषये इत्यर्थः'** – अर्थ गृहीत किया है।

वेदों में इस सूत्र के प्राप्त–प्रयोग निम्न हैं–

1. **सोमावतीम्।।**
2. **अश्वावतीम्।।**
   (क) **अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।।**
   ऋ० 10.97.7; मा० 12.81; का० 13.6.7; तै० 4.2.6. 4; मै० 2.7.13; काठ० 16.13; पै० 11.6.10
3. **अश्वावत्।।**
   (क) **गोमदश्वावद्रथवत्सुवीरम्।।** ऋ० 5.57.7
   (ख) **उषो अश्वावत्पुरुभोजो अस्मे।।** ऋ० 7.75.8
   (ग) **आ नो अश्वावदश्विना।।** ऋ० 8.22.17
   (घ) **आ पवस्व हिरण्यवदश्वावत्सोम वीरवत्।।**
   ऋ० 9.63.18

(ङ) गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना।।

मा० 20.81; का० 22.82

(च) गोमदद्धिरण्यवद्वसु यद्वाश्वावदीमहे।। काठ० 4.15

(छ) स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत्।। कौ० 2.14.52

4. अश्वावतः।।

(क) अश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः।। ऋ० 7.100.2

5. अश्वावति।।

(क) अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति।। शौ० 20.25.2

6. इन्द्रियावती।।

(क) इयमं होमुगियं विमृधायेमिन्द्रियावतीत्यब्रवीत्।।

तै० 2.4.2.1

(ख) इयमँ होमुगियमिन्द्रियावतीति।। काठ० 10.10

7. इन्द्रियावते।।

(क) प्र जनयतीन्द्रायेन्द्रियावते पुरोडाशम्।। तै० 2.2.7.1

(ख) इन्द्राय वैमृधायेन्द्रायेन्द्रियावते।। तै० 2.4.2.2

8. इन्द्रियावतः।।

(क) इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतः।। मा० 8.9

(ख) इन्द इन्द्रियावतः पत्नीवतः।। का० 8.3.1; मै० 1.3.29

(ग) इन्द्रो इन्द्रियावतः पत्नीवन्तम्।। तै० 1.4.27.1

(घ) इन्द्र इन्द्रियावता इति।। मै० 4.7.4

(ङ) इन्द्रस्याहमिन्द्रियावतः।। काठ० 5.1

(च) इन्द्र इन्द्रियावत इन्द्रपीतस्य।। काठ० 35.11

9. विश्वदेव्यावतीः।।

(क) विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे।।

मा० 11.61; का० 12.6.1–2; तै० 4.16.12; 4.1.6.2;

काठ० 16.6;

10. विश्वदेव्यावता।।

(क) विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता।। ऋ० 10.170.4

11. विश्वदेव्यावतः ।।

(क) बृहस्पतिवतो विश्वदेव्यावतः ।। मै० 4.9.6

वेदों में 'सोमावतीम्' पद सात, अश्वावतीम्, अश्वावत्, अश्वावतः, अश्वावति, पद उन्नीस, इन्द्रियावते, इन्द्रियावतः, पद नौ, विश्वदेव्यावतीः, विश्वदेव्यावता, विश्वदेव्यावतः पद अट्ठाईस स्थलों पर प्रयोग हुआ है।।

159. ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्।। अष्टा० 6.3.132

का०-मन्त्र इति वर्तते। ओषधिशब्दस्य विभक्तावप्रथमायां परतो दीर्घो भवति। ओषधीभिः पुनीतात् (ऋ० 10.30.5)। नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः (तै० आ० 2.12.1)। विभक्ताविति किम्? ओषधिपते। अप्रथमायामिति किम्? स्थिरेयमस्त्वोषधिः ।।

सि०-दीर्घः स्यान्मन्त्रे। यदोषधीभ्यः (ऋ० 7.50.3)। अदधात्योषधीषु ।।

इस सूत्र में **'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ'** (अष्या० 6.3.131) से **'मन्त्रे'** की तथा पूर्ववत् **'संहितायाम्' 'पूर्वस्य दीर्घोऽणः'** की अनुवृत्ति आ रही है। प्रथमा से भिन्न विभक्ति के परे रहते वेद विषय में औषधि शब्द के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। **ओषधीभिः पुनीतात्**। काशिका के कतिपय संस्करणों में **'ओषधीभिरपीपतत्'** पाठ है, जो संहितापाठ के विपरीत है। **ओषधीभ्यः**। विभक्ति परे-इसका क्या फल है? **ओषधिपते**। यहाँ दीर्घ नहीं होता है। प्रथमा में नहीं-इसका क्या फल है? **स्थिरेयमस्त्वोषधिः ।।** यहाँ प्रथमा में दीर्घ नहीं होता है।

वेदों में प्राप्त-प्रयोगों को हम उद्धृत कर रहे हैं-

1. **ओषधीम् ।।**

(क) **जीवन्तीमोषधीमहम् ।।** शौ० 8.2.6; 7.6;

(ख) **तां त्वा वयं खनामस्य् ओषधीं शेषहर्षणीम् ।।** पै० 4.5.6

(ग) सदान्वाघ्नीम् ओषधीं जैत्रायाच्छावदामसि ।।
पै० 17.13.10

2. **ओषधीभिः ।।**

(क) **सद्यो जात ओषधीभिर्ववक्षे ।।** ऋ० 3.5.8

(ख) पर्यन्यो न ओषधीभिर्मयोभुः।। ऋ० 6.5.2.6

(ग) जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्।। ऋ० 9.112.2

(घ) यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्।। ऋ० 10.35.5

(ङ) सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन।।
मा० 1.21

(च) समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः।। मा० 6.28

(छ) सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।। मा० 18.35; मै० 2.12.1

(ज) ऐलेनौषधीभिरोषधीर्जिन्व।। का० 16.2.4

(झ) स ओषधीभिः।। तै० 2.3.30.13 काठ० 11.7

(ञ) यदोषधीभिर्वेदिं स्तृणामि।। तै० 3.3.8.3

(ट) समापो ओषधीभिर्गच्छन्ताम्।। मै० 1.1.9

(ठ) आज्येन चौषधीभिश्चालभते।। काठ० 8.11

(ड) रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।। शौ० 4.15.2

(ढ़) प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः।। शौ० 12.3.18

(ण) ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद।। शौ० 15.14.12

(त) सोम ओषधीभिरुदक्रामताम्।। शौ० 19.19.5

3. ओषधीभ्यः।।

(क) त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यः।। ऋ० 2, 1, 1

(ख) यदोषधीभ्यः परि जायते विषम्।। ऋ० 7.50.3

(ग) शं राजन्नोषधीभ्यः।।
ऋ० 6.11.3; कौ० 2.653; जै० 3.1.5

(घ) पवस्वौषधीभ्यः।। ऋ० 9.59.2

(ङ) अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः।। मा० 6.9; मै० 1.2.15

(च) अद्भ्य ओषधीभ्यः पवते।। मा० 7.21; मा० 17.1

(छ) प्रजाभ्य ओषधीभ्यः।। मा० 12.72

(ज) सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः।।
का० 6.1.2; तै० 1.2.2.3

(झ) प्रजाभ्यः ओषधीभ्यः।। का० 13.5.12

(ञ) ओषधीभ्यः स्वाहा।। तै० 1.8.13.3

(ट) मनो हार्दियद्दौषधीभ्यस्त्वा।। मै० 1.2.18

(ठ) ओषधीभ्यो वेहतमालभेत प्रजाकामा।। मै० 2.5.4

(ड) एष ते योनिरोषधीभ्यस्त्वाद्धयः।। काठ० 30.5

(ढ) ओषधीभ्यः पशुभ्यो मे धनाय।। काठ० 35.7

(ण) नम ओषधीभ्यः।। शौ० 6.20.2

(त) रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः।। शौ० 12.3.59

(थ) वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः।। शौ० 19.3.1

(द) यद् ओषधीभ्यस् संभरन्ति।। पै० 15.17.5

ओषधीषु।।

(क) रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्।। ऋ० 5.83.1

(ख) यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम्।। ऋ० 8.9.5

(ग) स्पशो दधाथे ओषधीषु।। ऋ० 7.61.3

(घ) अग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।। मा० 11.43

(च) सोमं राजानमोषधीष्वप्सु।। का० 10.5.1

(छ) गोष्ठे गृहेष्वप्स्वोषधीषु।। तै० 2.3.13.1

(ज) या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।। तै० 2.3.14.1

(झ) ये अग्नयः समनसा ओषधीषु।। मै० 1.6.2

(ञ) तामोषधीषु न्यमार्ट्।। मै० 1.8.2

(ट) तामाहुतिमोषधीषु न्यदधात्।। काठ० 6.2

(ठ) य ओपधीषु पशुष्वाविवेश।। काठ० 7.13

(ड) पयो गोष्वदधा ओषधीषु।। कौ० 1.331; जै० 1.34.9;

(ढ) ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व1न्तः।। शौ० 1.30.2

(ण) य असिञ्चन्ति रसमोषधीषु।। शौ० 4.27.2

(त) अथाप ओषधीषु यशस्वतीः।। शौ० 6.58.2

(थ) यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत्।। शौ० 10.4.22

(द) वर्चस्वान् ओषधीष्व् असि।। पै० 1.68.1

(ध) पय पृथिव्यां पय ओषधीषु।। पै० 2.76.5

वेदों में 'ओषधीभिः' 'ओषधीभ्यः' 'ओषधीषु' पद पैंसठ बार प्रयुक्त हैं।।

160. ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्।। अष्टा० 6.3.133

का०-ऋचि विषये तु नु घ मक्षु तङ् कु त्र अरुष्य इत्येषां दीर्घो भवति। आ तू न इन्द्र वृत्रहन् (ऋ० 4.32.1)। नु- नू करणे। (घ) उत वा घा स्यालात् (ऋ० 1.109.2)। मक्षु- मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० 8.33.3)। तङ्- भरता जातवेदसम्। (ऋ० 10.176.2)। तङिति यादेशस्य ङित्त्वपक्षे ग्रहणम्, तेनेह न भवति- शृणोत ग्रावाणः (तै० सं० 1.3.13.1)। कु- कूमनः। त्र- अत्रा गौः। उरुष्य- उरुष्या णो अभिशस्ते। (ऋ० 1.91.15)।।

सि०-दीर्घ स्यात्। आ तू न इन्द्र (ऋ० 3.41.1)। नू मर्तः। उत वा घा स्यालात् (ऋ० 1.109.2)। मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० 8.33.3) भरता जातवेदसम् (ऋ० 10.176.2)। तङिति थादेशस्य ङित्त्वपक्षे ग्रहणम्। तेनेह न- शृणेत ग्रावाणः (तै० सं० 1.3.13.1) कूमनाः। अत्रा ते भद्रा (ऋ० 1.163.5)। यत्रा नश्चक्रा (ऋ० 1.89.9)। उरुष्या णः (ऋ० 1.91.15)।

सूत्र में अनुवृत्ति '**पूर्वस्य दीर्घोऽणः**' '**संहितायाम्**' की पूर्ववत् आ रही है। ऋचा-विषय में **तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र उरुष्य** इन शब्दों को दीर्घ हो जाता है, संहिता में। लोट् लकार में '**लोटो लङ्वत्**' (अष्टा० 3.4.85) से लङ्वत् अतिदेश करके मध्यमपुरुष बहुवचन '**थ**' को '**तस्थस्थमिपां तांतंतामः**' (अष्टा० 3.4.101) से जो '**त**' आदेश होता है, तथा उसको लङ्वत् होने से ङित् माना जाता है, उस '**थ**' का यहाँ '**लङ्**' से ग्रहण होता है। उदा०- **अ तू न इन्द्र वृत्रहन्। नू करणे। उत वा घा स्यालात्।** -इसमें '**घ**' शब्द ही लिया जाता है। '**तरप्तमपौ घः**' (अष्टा० 1.1.22) यह पारिभाषिक नहीं। **मक्षु गोमन्तमीमहे** '**मक्षू**' के लिये सर्वत्र दीर्घ व्यवस्था वेद में है-'**मक्ष्वित्युकारः प्लवते सर्वत्राप्यपदान्तभाक्**' (ऋ० प्रा० 7.5)। **भरता जातवेदसम्।** तङ्- यह थ के स्थान पर होने वाले आदेश के ङित्व पक्ष में लिया जाता है, इस कारण '**शृणोत ग्रावाणः**' में नहीं होता है। लोट् के **थ** का **त** आदेश '**लोटो लङ्वत्**' (अष्टा० 3.4.85) से ङित् होने से तङ् माना जाता है। '**शृणोत**' यहाँ '**तप्तनप्तनथनाश्च**' (अष्टा० 7.1.45) से तन् आदेश

है, इसका ग्रहण नहीं होता है और न तङ् इस सामान्य प्रत्याहार का ही ग्रहण होता है। **कूमना:। अत्रा गौ:। उरुष्या णो।** – रुष् इस कण्ड्वादिगणीय धातु के लोट् लकार मध्यमपुरुष का यह रूप है। '**नश्च धातुस्थोरुषुभ्य:**' (अष्या० 8.4.27) से णत्व हो गया है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त- प्रयोग निम्न हैं-

1. **तु तू।।**
   - (क) **आ तू न इन्द्र कौशिक।।** ऋ० 1.10.11
   - (ख) **आ तू भर माकिरेतत्परि ष्ठात्।।** ऋ० 3.36.9
   - (ग) **स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्।।** ऋ० 4.1.10
   - (घ) **आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।।** ऋ० 4.32.1
   - (ङ) **आ तू षिञ्च कण्वमन्तम्।।** ऋ० 8.2.2.2
   - (च) **आ तू न उप गन्तन।।** ऋ० 8.7.11
   - (छ) **आ तू सुशिप्र दंपते रथम्।।** ऋ० 8.68.16
   - (ज) **स तू पवस्व परि पार्थिवं रज:।।** ऋ० 9.72.8
   - (झ) **आ तू षिञ्चं हरिमीं द्रोरुपस्थे।।** ऋ० 10.101.10
2. **नु नू।।**
   - (क) **इन्द्रावरुण नू नु वाम्।।** ऋ० 1.17.8
   - (ख) **वाजयन्निव नू रथान्।।** ऋ० 2.8.1
   - (ग) **नू नो रास्व सहस्त्रवत्।।** ऋ० 3.13.7
   - (घ) **न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।।** ऋ० 4.6.7
   - (ङ) **नू नो अग्न ऊतये।।** ऋ० 5.10.6
   - (च) **नू नो अग्नेऽवृकेभि स्वरित।।** ऋ० 6.4.8
   - (छ) **नू मित्रो वरुणो अर्यमा न:।।** ऋ० 7.6.2.6
   - (ज) **नहि नू ते अद्रिव:।।** ऋ० 21.7
   - (झ) **नू नो रयिं महामिन्दोऽस्मभ्यं सोम विश्वत:।।** ऋ० 9.40.3
3. **घ घा।।**
   - (क) **विजामातारुत वा घा स्यालात्।।** ऋ० 1.109.2
   - (ख) **इदं वा घा पिबता मुञ्जने जनम्।।** ऋ० 1.161.8

(ग) पिबा वर्धस्व तव घा सुतासः।। ऋ० 3.36.3

(घ) अस्य घा वीर ईवतोऽग्नेरीशीत मर्त्यः।। ऋ० 4.15.5

(ङ) दिवश्चिद्घा दुहितरं महान्महीयमानाम्।। ऋ० 4.30.9

(च) यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।। ऋ० 5.85.8

(छ) निष्कं वा घा कृणवते।। ऋ० 8.47.15

4. मक्षु मक्षू।।

(क) आ वो मक्षू तनाय कम्।। ऋ० 1.39.7

(ख) मक्षू जात अविशाद्यासु वर्धते।। ऋ० 2.13.1

(ग) मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः।। ऋ० 4.16.16

(घ) मक्षू न येषु दोहसे चिदया आ।। ऋ० 6.66.5

(ङ) मक्षू रायः सुवीर्यस्य दात नू।। ऋ० 7.56.15

(च) मक्षू गोमन्तमीमहे।। ऋ० 8.33.3

(छ) आपो न मक्षू सुमतिर्भवा न।। ऋ० 9.88.7

(ज) मक्षू ता त इन्द्र दानाप्नसः।। ऋ० 10.22.11

5. भृ-भरत भरता।।

(क) अपावपद् भरता सोममस्मै।। ऋ० 2.14.6

(ख) प्र देवं देवतीतये भरता वसुवित्तमम्।। ऋ० 6.16.41

(ग) प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्।। ऋ० 10.176.2

6. पृ-पिपृत-पिपृता।।

(क) सं ते नवन्त पिपृता मदेषु।। पै० 6.1.2

(ख) मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः।। पै० 9.2.4

7. यु-युयोता।।

(क) युयोता शरुमस्मदाँ आदित्यास उपामतिम्।।
ऋ० 8.18.11

8. भू- भवत-भवता।।

(क) आदित्यासो भवता मृडयन्तः।। ऋ० 1.107.1

(ख) नि षू नमध्वं भवता सुपारा।। ऋ० 3.33.9

9. धा-दधात-दधाता।।

(क) आस्मिन्पिशङ्गमिन्दवो दधातावेनमादिशे।। ऋ० 9.21.5

10. यच्छ-यच्छत-यच्छता।।

(क) यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म।। ऋ० 2.27.6

11. कु कू।।

(क) कू चित्सतीरूर्वे गा विवेद।। ऋ० 9.87.8

(ख) कू चिज्जायते सनयासु नव्यः।। ऋ० 10.4.5

12. अत्रा।।

(क) अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति।। ऋ० 1.162.4

(ख) अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यम्।। ऋ० 1.163.5

(ग) अत्रा दधे अमृतं जातवेदाः।। ऋ० 3.23.1

(घ) अत्रा पुरंधिरजहाद रातीः।। ऋ० 4.26.7

(ङ) अत्रा दासस्य नमुचेः शिरः।। ऋ० 5.30.7

(च) अत्रा युक्तोऽवसातारमिच्छात्।। ऋ० 10.27.9

13. यत्रा।।

(क) यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।। ऋ० 1.86.9

(ख) यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजः ....।

यत्रा भयन्ते भुवनास्वर्दृशः।। ऋ० 7.83.2

4. कुत्रा।।

(क) कुत्रा चिद्यस्य समृतौ रण्वा नरो नृषदने।। ऋ० 5.7.2

(ख) कुत्रा चिद्रण्वो वसतिर्वनेजाः।। ऋ० 6.3.3

(ग) कुत्रा चिद्यामश्विना दधाना।। ऋ० 7.69.2

15. तत्रा।।

(क) तत्रा मे नाभिरातता।। ऋ० 1.105.9

(ख) तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिः।। ऋ० 6.75.17

(ग) तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्।। ऋ० 7.83.2

16. उरुष्या।।

(क) उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः।।

ऋ० 1.91.15

(ख) उरुष्या णो अघायतः समस्मात्।। ऋ० 5.24.3

(ग) उरुष्या णो मा परा दा अघायते जातवेदः।। ऋ० 8.71.7

(घ) **उरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः।।** ऋ० 10.7.1

161. इकः सुञि अष्टा० 6.3.134

का०-सूञ् निपातो गृह्यते। इगन्तस्य सुञि परतो मन्त्रविषये दीर्घो भवति। अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० 4.31.3)। ऊर्ध्व उ षु ण ऊतये (ऋ० 1.36.13)। सुञः (8.3.105) इति षत्वम्। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (8.4.26) इति णत्व्।।

सि०-ऋचि दीर्घ इत्येव। अभी षु ण सखीनाम् (ऋ० 4.31.32) 'सुञः' (8.3.107) इति षः। 'नश्च' धातुस्थोरुषुभ्यः (8.4.27) इति णः।।

इस सूत्र में **'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्'** (अष्या० 6.3.133) से **'ऋचि'** की तथा पूर्ववत् **'उत्तरपदे' संहितायाम्, दीर्घः**, की अनुवृत्ति आ रही है। इगन्त शब्द को सुञ् परे रहते ऋचा-विषय में दीर्घ हो जाता है, संहिता-विषय में। अभी षु णः सखीनाम्। **'अभि'** शब्द का अन्तिम वर्ण **'इ'** होने के कारण यह इगन्त है तथा उत्तरपद में **'सु'** है अतः प्रस्तुत सूत्र से इगन्तपद **'अभि'** को दीर्घ **'अभी'**। **'सूञः'** (अष्या० 8.3.105) से **'सु'** को मूर्धन्यादेश **'ष'** हो गया। **'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः'** (अष्या० 8.4.27) से **'णत्व'** होकर **अभि षु णः-** बनेगा। **ऊर्ध्व ऊ षु णः।** षु से पूर्व 'उ' इगन्त है, अतः प्रस्तुत सूत्र से दीर्घ हो गया।

ऋचा के अन्तर्गत इस सूत्र के अनेकशः प्रयोग हैं, किन्तु अन्वेषणोपरान्त ज्ञात हुआ कि यह सूत्र सर्वत्र कार्य नहीं करता है। कतिपय ऐसे भी स्थल हैं, जहां दीर्घ हुआ है,। हम दोनों ही स्थलों को प्रदर्शित कर रहे हैं-

सूत्रानुसार दीर्घ-विधान :

1. **सु।।**

(क) **इममू षु त्वमस्माकम्।।** ऋ० 1.27.4

(ख) **ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये।।** ऋ० 1.36.16

(ग) **न्यू3षु वाचं प्र महे।।** ऋ० 1.53.1

(घ) **ताभिरू षु ऊतिभिराश्विना गतम्।।** ऋ० 1.112.1-23

(ङ) गोमदू षु नासत्याश्वावद्यातम्।। ऋ० 2.41.7

(च) इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः।। ऋ० 3.36.1

(छ) कृधी ष्व1स्माँ अदितेरनागान्।। ऋ० 4.12.4

(ज) अभी षु णः सखीनाम्।। ऋ० 4.31.3

(झ) तदू षु वामजिरं चेति यानम्।। ऋ० 4.43.6

(ञ) तदू षु वामेना कृतम्।। ऋ० 5.73.4

(ट) शमू षु वां मधूयुवा।। ऋ० 5.74.9

(ठ) वस्वीरू षु वां भुजः।। ऋ० 4.74.10

(ड) इमामू षवासुरस्य श्रुतस्य।। ऋ० 5.85.5

(ढ) एह्यू षु ब्रवणि तेऽग्न।। ऋ० 6.16.16

(ण) ताभिरू षु वृत्रहत्येऽवीर्नः।। ऋ० 6.25.1

(त) अन्तरू षु चरतो रेरिहाणा।। ऋ० 6.27.7

(थ) वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिः।।

ऋ० 7.20.10; 21.10

(द) तमू षु समना गिरा।। ऋ० 8.81.2

(ध) शग्ध्यू3षु शचीपत इन्द्र।। ऋ० 8.61.5

(न) उदू षु णो वसो महे......। उदू षु मह्यै मघवन्...।।

ऋ० 83.21

(प) अभी षु णस्त्वं रयिम्।। ऋ० 8.83.21

(फ) पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये।। ऋ० 9.10.1

(ब) अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ्त्वाम्।। ऋ० 10.10.14

(भ) त्यमू षु वाजिनं देवजूतम्।। ऋ० 10.178.1

सूत्र- नियमोपरान्त भी जहां इगन्त को दीर्घ नहीं होता है, वे स्थल निम्न हैं-

(क) इमा उ षु श्रुधि गिरः।। ऋ० 1.16.5; 1.45.5

(ख) नि षू नमातिमतिं कयस्य।। ऋ० 11.229.5

(ग) अस्या ऊ षु ण उप सातये।। ऋ० 1.138.4

(घ) अभीद्धौ घर्मस्तदु षु प्र वोचम्।। ऋ० 1.164.26

(ङ) अस्मे ऊ षु वृषणा मादयेथाम्।। ऋ० 11.184.2
(च) वयं ते वय इन्द्र विद्धि षु णः।। ऋ० 2.20.1
(छ) वि षू मृधः शिश्रयो जीवसे नः।। ऋ० 2.20.1
(ज) प्रयम्यमानान्प्रति षू गृभाय।। ऋ० 3.36.2
(झ) उशन्नु षु णः सुमना उपाके।। ऋ० 4.20.4
(ञ) इन्द्रोविष्णू नृवदु षु स्तवाना।। ऋ० 4.55.4
(ट) वि षू मृधो जनुषा दानमिन्वन्।। ऋ० 5.307
(ठ) मध्व ऊ षु मधूयुवा।। ऋ० 5.73.8
(ड) अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभाय।। ऋ० 15.83.10
(ढ) स्था ऊ षु ऊर्ध्व ऊती अरिषण्यन्।। 6.24.9
(ण) स्त्रक्वेषु बप्सतो नि षु स्वप।। ऋ० 7.55.2
(त) दुच्छुनायसे नि षु स्वप।। ऋ० 17.55.3; 4
(थ) इमामु षु सोमसुतिमुप नः।। ऋ० 7.93.6
(द) कण्वेषु सु सचा पिब।। ऋ० 8.4.3
(ध) यून ऊ षु नविष्ठया।। ऋ० 8.20.19
(न) स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे।। ऋ० 2.4.1
(प) उग्र प्रणेतरधि षू वसो गहि।। ऋ० 8.24.7
(फ) युवोरु षू रथं हुवे।। ऋ० 8.26.1
(ब) वि षू चर स्वधा अनु।। ऋ० 8.32.19
(भ) अस्मा ऊ षु प्रभूतये।। ऋ० 41
(म) वि षु विश्वा अभियुजः।। ऋ० 8.45.8
(य) वि षु द्वेषो व्यंहतिम्।। ऋ० 8.67.21
(र) इन्द्र श्रुधि सु मे हवम्।। ऋ० 8.82.6
(ल) न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत्।। ऋ० 10.40.11
(व) त ऊ षु णो महो यजत्रा।। ऋ० 10.61.27
(श) वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषाम्।। ऋ० 10.84.14
(स) नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्।। ऋ० 10.101.11
(ष) नि षु सीद गणपते गणेषु।। ऋ० 10.112.9

(ह) **नेतार ऊ षु णस्तिरः।।** ऋ० 10.126.6

(अ) **वि षु विश्वा अरातयः।।** ऋ० 10.133.3

इगन्त शब्द को सुञ् परे रहते ऋचाओं में दीर्घविधान के सभी स्थलों का हमने अवलोकन किया है, किन्तु स्थलों को देखने के बाद ज्ञात हुआ कि आचार्य का यह सूत्र ऋचान्तर्गत पूर्णतः घटित नहीं हो रहा है। इसका प्रमाण यह है कि पैंतिस प्रयोग ऐसे हैं जिनमें सूत्र–नियम अघटित हैं तथा छब्बीस प्रयोगों में सूत्र–नियम प्रचारित हो रहा है। अतः सूत्र नियम विचारणीय है।।

162. द्व्यचोऽतस्तिङः।। अष्टा० 6.3.135

का०–ऋचीति वर्तते द्व्यचस्तिङन्तस्यात ऋग्विषये दीर्घो भवति। विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० 10.47.1)। विद्मा शरस्य पितरम् (शौ० सं० 1.2.1)। द्व्यच इति किम्? अश्वा भवत वाजिनः (मा० सं० 9.6)। अत इति किम्? आ देवान् वक्षि यक्षि च (ऋ० 5.26.1)।।

सि०–मन्त्रे दीर्घः। विद्मा हि (ऋ० 1.10.10)। चक्रा जरसम् (ऋ० 1.89.9)।।

इस सूत्र में **ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्**' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। दो अच् वाले तिङन्त के अकार को ऋचा–विषय में दीर्घ होता है, संहिता विषय में।। **विद्मा हित्वा गोपतिं शूर गोनाम्।।** काशिका के कतिपय संस्कारणों में '**विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम्**'' है। जो संहितापाठ के विपरीत है। विद्+लट्+मस् का '**विदो लटो वा**' (अष्या० 3.4.83) से वैकल्पिक '**म**' = विद्म, दीर्घ होकर '**विद्मा**' बना। **चक्रा**। कृ+लिट् (अ) मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप '**चक्रा**'। दो अचों वाले का–इसका क्या फल है? ''**अश्वा भवत वाजिनः**''। यहाँ '**भवत**' यह तीन अचों वाला है, अतः दीर्घ नहीं हुआ। अत्=ह्रस्व अकार का–इसका क्या फल है? ''**आ देवान् वक्षि यक्षि च**''। इसमें इकारान्त है अतः दीर्घ नहीं होगा।। वस्तुतः छान्दस–दीर्घ की यह व्यवस्था छन्द के प्रवाह के अनुरोध से संहितापाठ में की जाती है, पदपाठ में विद्म, चक्र रूप ही रहते हैं, दीर्घ–नियम प्रभावी नहीं होता।।

ऋचाओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं, यथा-

1. विद्मा।।
   (क) विद्मा हि त्वा वृषन्तमम्।। ऋ० 1.10.10
   (ख) विद्मा ते धाम विभृता।। मा० 12.19
   (ग) विद्मा हि त्वा वसुपतिम्।। तै० 1.7.13.3
   (घ) विद्मा शरस्य पितरम्।। शौ० 1.2.1
2. अजा।।
   (क) अजा वृत इन्द्र शूरपत्नीः।। ऋ० 1.174.3
   (ख) अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान्।। शौ० 4.37.2
3. अत्ता।।
   (क) अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिषि।।
   ऋ० 10.15.11; मा० 19.59
   (ख) अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत।। तै० 2.6.12.2

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोग प्राप्त होते हैं, हमने दिग्दर्शनार्थ कतिपय ही दिखायें हैं।।

163. निपातस्य च।। अष्टा० 6.3.136

का०-ऋचीत्येव। निपातस्य च ऋग्विषये दीर्घ आदेशो भवति। एवा ते (ऋ० 10.20.10)। अच्छा (ऋ० 1.2.2)।।

सि०-एवा हि ते।।

ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घोऽणः' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। ऋचा-विषय में निपात (च आदि) को भी दीर्घ हो जाता है। एवा ते। 'एव' का 'एवा' बन गया। यह दीर्घ-व्यवस्था केवल संहितापाठ में ही होती है, पदपाठ में 'एव' बनेगा। इसी प्रकार 'अच्छा'। काशिका के कतिपय संस्करणों में 'अच्छा ते' प्रयोग है, उभयथापि शुद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्र में उमाशंकर शर्मा ऋषि ने दो स्वर वाले निपात को ही दीर्घ माना है, इससे इन्होंने इस सूत्र में 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अष्य० 6.3.135) से 'द्व्यचः' को ग्रहण कर अर्थ किया है।

इस सूत्र के ऋचाओं में बहुशः प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **अच्छा।।**

   (क) **अच्छा बर्हि रशनाभिर्नयन्ति।।** ऋ० 9.87.1

   (ख) **अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसम्।।** मा० 33.89

   (ग) **अच्छा हि त्वा सहसः सूनूः।।** शौ० 20.103.3

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोग अन्य भी प्राप्त होते हैं।।

164. अन्येषामपि दृश्यते।। अष्टा० 6.3.137

का०-अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते, स शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः। यस्य दीर्घत्वं न विहितम्, दृश्यते च प्रयोगो, तदनेन कर्तव्यम्। केशाकेशि। कचाकचि। जलाषाट्। नारकः। पूरुषः।। शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु।। श्वादन्तः। श्वादंष्ट्रः। श्वाकर्णः। श्वाकुन्दः। श्वावराहः। श्वापुच्छः। श्वापदः।।

सि०-अन्येषामपि पूर्वपदस्थानां दीर्घः स्यात्। पूरुषः। दण्डादण्डि।।

इस सूत्र में **दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम्** की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। अन्य पदों में भी दीर्घ देखा जाता है, अर्थात् जिनकों सूत्रों से दीर्घ-विधान नहीं किया, किन्तु दृष्टिगत होता है, ऐसे शब्दों को भी शिष्टप्रयोग मानकर साधु समझना चाहिए। जैसे-**केशाकेशि। कचाकपि। जलाषाट्। नारकः। पूरुषः।।** जैसे लौकिक भाषा में **पूरुषः, , पुरुषः**- ये दोनों प्रकार के पद प्रयुक्त होते हैं, तद्वत् **'दण्डादण्डि'-'तत्र तेनेदमिति सरूपे'** (अष्य० 2.2.27) से बहुव्रीहि समास होकर सिद्ध। पदपाठ में ये दीर्घ होने वाले पद ह्रस्व रूप में प्रयुक्त होते हैं।। **दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ** तथा **पद**-इनके परे रहते **'श्वन्'** पद को दीर्घ हो जाता है, यथा- **श्वादन्तः। श्वादंष्ट्र। श्वाकर्णः। श्वाकुन्दः। श्वावराहः। श्वापुच्छः। श्वापदः।** - इन सब में बहुव्रीहि समासोपरान्त विभक्तिलोप तथा नकार लोप के बाद प्रस्तुत वार्तिक से दीर्घ हो जाता है। इनमें कहीं कहीं षष्ठीतत्पुरुष भी हो सकता है और कहीं-कहीं बहुव्रीहि भी। यथा-**श्वाकर्णः।**

प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में अनेक प्रयोग हैं-

1. **नारकम्।।**

   (क) **तथाहुर् नारकं त्व एकम्।।** पै० 17.19.6

(ख) नारकाय वीरहणम्।। मा० 30.5

2. पूरुषः।।

(क) आत्मानं तव पूरुष।। ऋ० 10.97.4; शौ० 4.9.7

(ख) सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष।। मा० 12.78

(ग) धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष।। तै० 4.2.6.3

3. श्वापदः।।

(क) पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।।

ऋ० 10.16.6; शौ० 18.3.55

(ख) घृतं आसीच् श्वापदम्।। पै० 12.3.8

(ग) सुवर्णाश् श्वापदा पतत्रिणः।। पै० 17.22.14

वेदों में 'पूरुषः' पद के प्रयोग अनेकशः होने से हमने मात्र कतिपय ही दर्शाये हैं। उपर्युक्त वार्तिकानुसार मात्र 'श्वापदः' के प्रयोग ही वेदों में प्रयुक्त हुए हैं अन्य नहीं। अष्ध्यध्यायी के वृत्तिकारों ने प्रस्तुत सूत्र के उदाहरणों का कोई भी स्थान संकेत नहीं किया है।।

165. छन्दस्युभयथा।। अष्टा० 6.4.5

का०-छन्दसि विषये तिसृचतस्त्रोर्नामि परत उभयथा दृश्यते, दीर्घश्चादीर्घश्च। तिसृणां मध्यन्दिने (काठ० सं० 27.9), तिसृणां (ऋ० 5.69.2) मध्यन्दिने। चतसृणां (काठ० सं० 27.9) मध्यन्दिने, चतसृणां मध्यन्दिने।।

सि०-नामि दीर्घो वा। धाता धातृणाम्-इति बहवृचाः। तैत्तिरीयास्तु ह्रस्वमेव पठन्ति।।

प्रस्तुत सूत्र में 'न तिसृचतसृ' (अष्ध्य० 6.4.4) से 'तिसृ-चतसृ' की 'नामि' (अष्ध्य० 6.4.3) की, 'अङ्गस्य' (अष्ध्य० 6.4.1) की तथा पूर्ववत् अर्थात् पूर्वपाद के 'द्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (अष्ध्य० 6.3.110) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आ रही है। सामान्य नियम है कि लोक में 'तिसृ' और 'चतसृ' को छोड़कर अन्य शब्दों के बाद जब नाम् (= 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (अष्ध्य० 7.1.54) से नुट् के साथ षष्ठी बहुवचन का आम्) लगता है तो अंग को दीर्घ हो जाता है जैसे अग्नीनाम्। वायूनाम्। कर्तृणाम्। रामाणाम् आदि। किन्तु

वेद में तिसृ चतसृ अङ्ग को दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ दोनों ही देखा जाता है। काशिकाकार ने इस सूत्र में 'तिसृ' और 'चतसृ' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से मानकर उदाहरण **तिसृणाम्। तिसॄणाम्। चतसृणाम्। चतसॄणाम्**- दिये हैं। किन्तु भट्टोजिदीक्षित ने वेद में नाम परे रहने पर किसी भी शब्द का विकल्प से दीर्घविधान माना है। इसीलिये उन्होनें सूत्र व्याख्यान में **'नामि दीर्घो वा'** कहकर सभी शब्दों के लिये दीर्घ–अदीर्घ को दर्शाया है। नागेशभट्ट ने काशिकाकार के मत को अस्वीकृत कर भट्टोजिदीक्षित के विचार को मान्यता प्रदान करते हुए लिखा है- **'वृत्तिकृतां तिसृचतस्त्रोरत्रानुवृत्तिस्त्व-युक्तेति भावः'**।। वस्तुतः कौमुदीकार का मत अधिक व्यापकता को लिये हुए है।

प्रस्तुत सूत्र के वेदों में प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **तिसृणाम्।।**
   (क) **तिसृणां चव धन्वनश्च जन्म**।। मै० 4.5.9
   (ख) **तिसृणां मध्यन्दिने**।। काठ० 27.9
2. **तिसॄणाम्।।**
   (क) **त्रयस्तस्थुर्वृषभासस्तिसॄणाम्**।। ऋ० 5.69.2
   (ख) **तिसॄणां सप्ततीनां श्यावः**।। ऋ० 8.19.37
   (ग) **वस्वेकं पुत्रं तिसॄणाम्**।। ऋ० 8.101.6
3. **चतसृणाम्।।**
   (क) **चतसृणां तृतीयसवने**।। काठ० 27.9
4. **धातृणाम्।।**
   (क) **धाता धातृणां भुवनस्य यस्पतिः**।। तै० 4.7.14.3
5. **धातॄणाम्।।**
   धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिः।। ऋ० 10.128.7

वेदों में **'तिसृणाम्'** के दो, **'तिसॄणाम्'** के तीन, तथा **'चतसृणाम्'** का एक प्रयोग-स्थल प्राप्त हैं। **'चतसॄणाम्'** पद का प्रयोग वेदों में क्वचिदपि नहीं हुआ है।। इसी प्रकार **'धातृणाम्'** और **'धातॄणाम्'** पद का प्रयोग भी मात्र एक-एक स्थल पर ही उपलब्ध है।।

166. नृ च।। अष्टा० 6.4.6

का०-नृ इत्येतस्य नामि पर उभयथा भवति। त्वं नृणां (पै० सं० 2.10.4) नृपते। त्वं नृणां नृपते (ऋ० 2.1.1)। केचिदत्र छन्दसीति नानुवर्तयन्ति। तेन भाषायामपि विकल्पो भवति।।

सूत्र में '**छन्दस्युभयथा**' (अष्टा० 6.4.5) की, तथा पूर्ववत् **नामि, अङ्गस्य, दीर्घः**, की अनुवृत्ति आ रही है। '**नाम्**' परे रहते '**नृ**' अङ्ग को भी वेद-विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ अदीर्घ दृष्टिगोचर होता है। उदा०-**नृणाम्**। **नृणाम्**। कुछ लोग इसमें '**छन्दसि**' (वेद में) -इस पद की अनुवृत्ति नहीं मानते हैं, इसलिए लोकभाषा में भी विकल्प होता है। यद्यपि कौमुदीकार ने इस सूत्र को वैदिक नहीं माना, किन्तु काशिकाकार इसे वैदिक मानकर उदाहरण भी तदनुरूप ही दिखाते हैं।

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त उदाहरण निम्नवत् हैं-

1. **नृणाम्।।**
   - (क) **नि धेहि शतस्य नृणाम्।।** ऋ० 1.43.7
   - (ख) **कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्।।** ऋ० 1.48.4
   - (ग) **त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः।।** मा० 11.27
   - (घ) **अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः।।** शौ० 2.9.2
2. **नृणाम्।।**
   - (क) **नृणां च भगवत्तमः।।** पै० 2.10.4

एवं वेदों में '**नृणाम्**' पद अनेकत्र तथा '**नृणाम्**' पद मात्र एक स्थल पर ही प्रयुक्त हुआ है।

167. वा षपूर्वस्य निगमे।। अष्टा० 6.4.9

का०-षपूर्वस्याचो नोपधाया निगमविषये सर्वनामस्थाने परतोऽसंबुद्धौ वा दीर्घो भवति। स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् (मै० सं० 2.4.1), स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत्। ऋभुक्षाणमिन्द्रम्, ऋभुक्षणमिन्द्रम् (ऋ० 1.111.4)। निगम इति किम्? तक्षा, तक्षाणौ, तक्षाणः।।

सि०- षपूर्वस्याच उपधाया वा दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे।

ऋभुक्षाणम्। ऋभुक्षणम् (ऋ० 1.111.4)। निगमे किम्? तक्षा। तक्षाणौ।।

इस सूत्र में '**सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ**' (अष्टा० 6.4.8) से '**सर्वनामस्थाने असंबुद्धौ**' की, '**नोपधायाः**' (अष्टा० 6.4.7) की तथा पूर्ववत् **अङ्गस्य, दीर्घः** की अनुवृत्ति आ रही है। लौकिक संस्कृत में जिस शब्द के अन्त में नकार हो जैसे राजन्, सामन्, सखिन्, आदि) उसके सर्वनाम स्थान के रूप में '**सुडनपुंसकस्य**' (अष्टा० 1.1.43) '**शि सर्वनामस्थानम्**' (अष्टा० 1.1.42) '**जश्शसोः शि**' (अष्टा० 7.1.20) संबुद्धि को छोड़कर शब्द की उपधा को '**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**' (अष्टा० 6.4.8) से दीर्घ आदेश हो जाता है। किन्तु वेद-विषय में कुछ भिन्नता है। वेद-विषय में नकारान्त अङ्ग के उपधाभूत षकार है पूर्व में जिससे, ऐसे अच् को संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे रहते विकल्प से दीर्घ हो जाता है। तक्षन् ऋभुक्षिन् शब्दों में 'क्ष' के 'अ' को विकल्प से दीर्घ हुआ है। क्योंकि इस अकार से पूर्व ष है, एवं नकार की उपधा है। ऋभुक्षिन् में पहले '**इतोत्सर्वनामस्थाने**' (अष्टा० 7.1.83) से इकार को अत्व होकर पश्चात् 'अ' को दीर्घ हुआ है। निगम (वेद) में इसका क्या फल है? **तक्षा। तक्षाणौ। तक्षाणः।** लौकिक प्रयोग में दीर्घ ही होता है। सम्बुद्धि में भी ह्रस्व '**ऋभुक्षन्**' होगा।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न उदाहरण हैं–

1. **तक्षाणः।।**
   (क) **ये तक्षाणो रथकारा कर्मारा ये मनीषिणः।।** पै० 3.13.7
2. **तक्षाणम्।।**
   (क) **धैर्याय तक्षाणम्।।** मा० 30.6
   (ख) **स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत्।।** मै० 2.4.1; काठ० 12.10
3. **ऋभुक्षणम्।।**
   (क) **ऋभुक्षणमिन्द्रमा हुव ऊतय ऋभून।।** ऋ० 1.111.4

एवं वेदों में अन्य भी प्रयोग मिलते हैं।।

168. जनिता मन्त्रे।। अष्टा० 6.4.53

का०-जनितेति मन्त्रविषय इडादौ णिलोपो निपात्यते। यो नः पिता जनिता (ऋ० 10.82.3)। मन्त्र इति किम्? जनयिता।।

सि०-इडादौ तृचि णिलोपो निपात्यते। यो नः पिता जनिता (ऋ० 10.82.3)।।

इस सूत्र में **'णेरनिटि'** (अष्य० 6.4.51) से **'णेः'** की तथा **'अतोलोपः'** अष्य० 6, 4; 48) से **'लोपः'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में जनिता-शब्द इडादि तृच् परे रहते निपातन से सिद्ध होता है जब कि जन् धातु में इट् के साथ तृच् लगने पर णिच् प्रत्यय का लोप हो जाता है। **यो नः पिता जनिता।** जनिता में जो वृद्धि करके 'जान्' बना था, उसे **'जनीज्जषः०'** से मित् होकर **'मितां ह्रस्वं'** (अष्य० 6.4.92) से ह्रस्व हो गया है। लोक में अनिट् आदि आर्धधातुक परे रहते **'णेरनिटि'** (अष्य० 6.4.51) से 'णि' का लोप होता है जब कि जन् + णिच्+इट्-इ-तृच् में सेट् आर्धधातुक तृच् प्रत्यय परे रहते णिच् का लोप किया गया है, इस प्रकार **'जनिता मन्त्रे'** यह सूत्र **'णेरनिटि'** का अपवाद है। लोक में 'जनियता' बनेगा।

वेदों में इस सूत्र के प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **जनिता।।**
   - (क) **विशां गोपा जनिता रोदस्योः।।** ऋ० 1.96.4
   - (ख) **द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र।।** ऋ० 1.164.33
   - (ग) **क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य।।** ऋ० 3.49.4
   - (घ) **द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्।।** ऋ० 4.1.10
   - (ङ) **समानो वां जनिता भ्रातरा युवम्।।** ऋ० 6.59.2
   - (च) **जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।।** ऋ० 36.4
2. **तक्षाणम्।।**
   - (क) **धैर्याय तक्षाणम्।।** मा० 30.6
   - (ख) **स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत्।।** मै० 2.4.1; काठ० 12.10
   - (छ) **सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः।।**
     ऋ० 9.96.5; कौ० 2.527; 943; जै० 1.54.9;
   - (ज) **गर्भे नु नौ जनिता दंपती कदेः।।**
     ऋ० 10.10.5; शौ० 18.1.5

(झ) यो नः पिता जनिता यो विधाता।।
ऋ० 10.82.3; तै० 4.6.2.1; काठ० 18.1

(ञ) मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्याः।। मा० 12.102

(ट) तृतीयः पिता जनितौषधीनाम्।। मा० 17.32

(ठ) स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।। मा० 32.10

(ड) अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि।। मा० 33.36

(ढ) कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिः।। मै० 3.11.9

(ण) गर्भो देवानां जनिता मतीनाम्।। मै० 4.9.6

(त) पिता देवानां जनिता सुरक्षः।। कौ० 2.678

(थ) पिता देवानां जनिता विभूवसुः।। कौ० 2.10.31

(द) स नः पिता जनिता स उत बन्धुः।। शौ० 2.1.3

(ध) त्वं विश्वेषां जनिता यथासः।। शौ० 4.1.7

(न) त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्।। शौ० 9.4.6

(प) स नो बन्धुर् जनिता स विधर्ता।। पै० 2.6.3

2. जनितारम्।।

(क) सो अपश्यज्जनितारमग्रे।। मा० 13.51; का० 14.5.5

(ख) इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव।। शौ० 10.4.18

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के जनिता, जनितारम्–ये दो वैदिक रूप मिलते हैं, जिनका प्रयोग मन्त्रों में बत्तीस स्थलों पर हुआ है।

169. शमिता यज्ञे।। अष्टा० 6.4.54

का०–यज्ञकर्मणि समितेति इडादौ तृचि णिलोपो निपात्यते। शृतं हवि३ः शमितः (तै० सं० 3.3.10.1)। तृचि संबुध्यन्तमेतत्। यज्ञ इति किम्? शृतं हविः शमयितः।।

सि०–शमयितेत्यर्थः।।

प्रस्तुत सूत्र में 'णेः' और 'लोपः' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। यज्ञकर्म में इडादि तृच् प्रत्यय परे रहते णिच् का लोप करके शमिता शब्द का निपातन किया जाता है। शमितः। शम् + णिच् + इट् + तृच्–णिलोप होकर

शमितः। 'शमितः' यह तृच्प्रत्ययान्त सम्बुध्यन्त शब्द है। यज्ञकर्म में इसका क्या फल है? श्रृतं हविः शमयितः। यह सामान्य प्रयोग है। अतः णिलोप न होकर गुण और अय् आदेश होता है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग निम्न मिलते हैं-

1. शमिता।।

(क) श्रृतंहविः शमिता।। मै० 3.10.2;

(ख) देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्।। ऋ० 2.3.10

(ग) अग्निर्हविः शमिता सूदयाति।। ऋ० 3.4.10

(घ) वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः।।

ऋ० 10.110.10; का० 31.4.11;

शौ० 5.12.10; मै० 4.13.3; काठ० 16.20;

(ङ) वीतञ्हविः शमिताञ्ज शमिता यजध्यै।। मा० 17.57

(च) त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।। मा० 20.45

(छ) शमिता नो वनस्पतिः।। मा० 21.21; मै० 3.11.11

(ज) क उ ते शमिता कविः।। मा० 23.39

(झ) अग्निर्हव्यं शमिता सूदयाति।।

का० 29.2.11; तै० 4.1.8.3; पै० 9.1.11

(ञ) वीतं शमित्रे शमिता यजध्यै।। तै० 4.6.3.3

(ट) शमितं शमिता यजध्यै।। काठ० 18.3

(ठ) अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु।। शौ० 5.27.11

(ड) इन्द्राय भागं शमिता कृणोतु।। पै० 16.100.3

2. शमितः।।

(क) श्रृतंहवीः३ शमितरिति।। तै० 6.3.10.1

वेदों में 'शमिता' एवं 'शमितः' पद का प्रयोग बीस स्थलों पर हुआ है।।

170. युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि।। अष्टा० 6.4.58

का०-यु प्लु इत्येतयोर्ल्यपि परतश्छन्दसि विषये दीर्घो भवति।

दान्त्यनुपूर्वं वियूय (ऋ० 10.131.2)। यत्रापो दक्षिणा परिप्लूय (काठ० सं० 25.3)। छन्दसीति किम्? संयुत्य। आप्लुत्य।।

सि०–ल्यपीत्यनुवर्तते। वियूय (ऋ० 10.131.2)। विप्लूय।।

इस सूत्र में **'ल्यपि लघुपूर्वात्'** (अष्या० 6.4.56) से **'ल्यपि'** की तथा अङ्गस्य (अष्या० 6.4.1) की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में यु तथा प्लु–धातुओं को दीर्घ होता है ल्यप् परे रहते। ल्यप् प्रत्यय धातु में **'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'** (अष्या० 7.1.37) से धातु से पूर्व कोई उपसर्ग होने पर लगता है। **वियूय। परिप्लूय। विप्लूय।** वेद में इसका क्या फल है? लोक में ह्रस्वान्त धातु के बाद पित् (ल्यप् क्यप् आदि)। प्रत्यय लगने पर तुक् का आगम **'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'** (अष्या० 6.1.71) से होने पर **'संयुत्य' 'आप्लुत्य' 'वियुत्य'** और **'विप्लुत्य'** रूप बनते हैं।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त–प्रयोग निम्न हैं–

1. **आ यु–आयूय।।**

   (क) **आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वम्।।** ऋ० 2.37.3

2. **वि यु–वियूया।।**

   (क) **चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।।**

   ऋ० 10.131.2; शौ० 20.125.2; मा० 10.32; 19.6; 23.38; का० 11.10.2; 21.1.5; तै० 1.8.21.1; 5.2.11.1; मै० 1.11.4; काठ० 12.9

3. **इरेश्चपरि प्लु–परिप्लूय।।**

   (क) **यत्रापो दक्षिणा परिप्लूय पश्चात्।।** काठ० 25.3

वेदसंहिताओं में **'आयूय'** एव **'परिप्लूय'** का प्रयोग मात्र एक–एक बार हुआ है। **'वियूय'** पद दस स्थलों पर एक ही मन्त्र की पुनवृत्ति के रूप में प्रयुक्त है।।

171. छन्दस्यपि दृश्यते।। अष्टा० 6.4.73

का०–छन्दसि विषये आडागमो दृश्यते। यत्र हि विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते। 'आडजादीनाम्' (6.4.72) इत्युक्तमनजादीनामपि

दृश्यते। सुरुचो वेन आवः (मा० सं० 13.3)। आनक्। आयुनक्। आव इति वृञो लुङि 'मन्त्रे घसह्वरः०' (2.4.80) इति लेर्लुकि कृते च भवति। तथा आनगिति नशेः। आयुनगिति युजेर्लङि।।

सि०-आडजादीनाम् (6.4.62)। छन्दस्यपि दृश्यते (6.4.73) अनजादीनामित्यर्थः। आनट्। आवः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'आडजादीनाम्'** (अष्ट्या० 6.4.7) से **'आट्'** की, **'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः'** (अष्ट्या० 6.4.71) से **'उदात्तः'** की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। लौकिक भाषा में साधारण नियम है कि लुङ् लङ् लृङ् लकारों में हलादि धातुओं से अट् का आगम होता है तथा अजादि धातुओं से **'आट्'** का आगम होता है। इसी प्रकार वेद में **'आट्'** का आगम अजादि धातुओं से तो होता ही है, हलादि धातुओं से भी देखा जाता है। **आवः**। स्वादिगण की वृञ् वरणे धातु से लुङ् लकार, तिप्, **'इतश्च'** (अष्ट्या० 3.4.100) से इलोप प्रस्तुत सूत्र से आट् आगम, आट् आ-व्-त। **'च्लि लुङि'** (अष्ट्या० 3.1.43) तथा **मन्त्रे घसह्वरः** (अष्ट्या० 2.4.80) से **'च्लि'** का लोप **'तिप्'** सार्वधातुक प्रत्यय, **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (अष्ट्या० 7.3.84) से गुण, **'उरणरपरः'** (अष्ट्या० 1.1.51) अण् रपरादेश-आवः।। **आनक्। आयु नक्।** ये अजादि नहीं हैं, फिर भी आट् आगम होता है।

वेदों में सूत्रानुसार कतिपय प्रयोग उद्धृत किये जा रहे हैं-

1. आनट्।।

(क) **आ यदिषे नृपतिं तेज आनट्।।**

ऋ० 1.71.8; मा० 33.11; तै० 1.3.14.6

2. आयुनक्।।

(क) **यमेन दत्तं त्रित एनमायुनक्।।**

मा० 29.13; तै० 4.6.7.1

3. आयुञ्जन्।।

(क) **ते अग्रे अश्वमायुञ्जन्।।** तै० 1.7.7.2

4. आयुक्त।।
   (क) य आयुक्त तुजा गिरा।। ऋ० 5.17.3
5. आयुक्षाताम्।।
   (क) आयुक्षातामश्विना यातवे रथम्।। ऋ० 1.157.1
6. आरिणक्।।
   (क) यो धौतीनामहिहन्नारिणक् पथः।। ऋ० 2.13.5
7. आरिरेच।।
   (क) प्रियां यमस्तन्व1मा रिरेच।। शौ० 18.3.41
8. आवेवीरन्।।
   (क) आ वेवीरञ्छों सा मोद इवेति।। तै० 3.2.9.5

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अन्य भी अनेकशः प्रयोग हैं।।

172. बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि।। अष्टा० 6.4.75

का०–छन्दसि विषये माङ्योगेऽपि बहुलमडाटौ भवतः, अमाङ्योगेऽपि न भवतः। अमाङ्योगे तावत्–जनिष्ठा उग्रः (ऋ० 10.73.1)। काममूनयीः (ऋ० 1.53.3)। काममर्दयीत्। माङ्योगेऽपि भवतः। मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः (आप० ध० 2.6.13.6)। मा अभित्थाः। मा आवः।।

सि०–अडाटौ न स्तः, माङ्योगेऽपि स्तः। जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय (ऋ० 10.73.1)। मा वः क्षेत्रे परवीजान्यवाप्सुः (आप० ध० 2.6.13.6)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (अष्टा० 6.4.71) की, 'न माङ्योगे' (अष्टा० 6.4.74) की, तथा पूर्ववत् 'आट्' 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। वेद में लुङ् लङ् लृङ् परे रहने पर माङ् का योग होने पर भी अट् तथा आट् का आगम बहुल प्रकार से होता है और माङ् का योग न होने पर भी अट् तथा आट् का आगम नहीं होता है। उदा०– जनिष्ठा उग्रः। काममूनयीः। काममर्दयीत्।–यहाँ 'मा' का प्रयोग नहीं है, पुनरपि अट् नहीं लगा, जब कि सामान्य नियम से लगना चाहिए। 'मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। मा अभित्थाः। मा आवः। – यहाँ 'मा' योग में भी अट् आट् होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग वेदसंहिताओं से उद्धृत हैं-

1. जनिष्ठाः ।।
   (क) घोरः सन् क्रत्वा जनिष्ठा अषाळ्हः ।। ऋ० 7.28.2
   (ख) जनिष्ठा उग्रस्सहसे तुराय ।। काठ० 4.8
   (ग) जनिष्ठा इह मैजाथः ।। पै० 1.3.2.9

इस सूत्र के अन्य भी अनेक प्रयोग वेदसंहिताओं उपलब्ध होते हैं ।।

173. इरयो रे ।। अष्टा० 6.4.76

का०-दूर इत्येतस्य छन्दसि विषये बहुलं रे इत्ययमादेशो भवति। गर्भे प्रथमं दध्र आपः (ऋ० 10.82.5)। याश्च परिददृश्रे (मै० सं० 4.4.1)। धाञो रेभावस्यासिद्धत्वादातो लोपः (6.4.64) भवति। न च भवति-परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे। अत्र रेशब्दस्य सेटां धातूनामिटि कृते पुना रेभावः क्रियते, तदर्थं च इरयोरित्ययं द्विवचननिर्देशः ।।

सि०-प्रथमं दध्र आपः (ऋ० 10.82.5)। रेभावस्य आभीयत्वेन असिद्धत्वादालोपः। अत्र रेशब्दस्येटि कृते पुनरपि रेभावस्तदर्थं च सूत्रे द्विवचनान्तं निर्दिष्टमिरयोरिति ।।

'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (अष्या० 6.4.75) से इस सूत्र में 'बहुलं छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। इरे के स्थान में वेद में बहुल करके रे आदेश होता है। 'इरे' पद से 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (अष्या० 3.4.81) वाला 'इरेच्' गृहीत होता है। 'हलन्त्यम्' (अष्या० 1.3.3) से इत्संज्ञा होकर 'इरे' शेष रहता है, पुनः प्रस्तुत सूत्र से 'इरे' को बहुल करके 'रे' आदेश होता है। दध्रे। धा+इरे-द्वित्व तथा उसका जश्त्व होकर दा+ध+इरे, 'ह्रस्वः' (अष्या० 7.4.59) से अभ्यास का ह्रस्व दधा+इरे। 'आतो लोप इटि च' (अष्या० 6.4.64) से आकार लोप, 'इरे' को 'रे' होना-दध्रे। लोक में 'दधिरे' बनेगा। आभीय होने से यह असिद्ध होता है। अतः अजादि परे मानकर होने वाला 'आतो लोप इटि च' (अष्या० 6.4.64) से आलोप हो ही जाता है। इरे का रे आदेश नहीं भी होता है- 'परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे'।। इसमें रे शब्द सेट् धातुओं को इट् कर लेने पर पुनः 'रे' भाव किया जाता है, इसी कारण 'इरयोः' यह

द्विवचनान्त निर्देश होता है। भाव यह है कि झ का इरे तो एक है तब 'इरयोः' यह द्विवचन क्यों? 'दूरयोः' में द्विवचन इसलिये निर्दिष्ट है कि रे भाव कर लेने के पश्चात् सेट धातुओं को इट् का आगम होने पर जो पुनः 'इरे' रूप बन जाता है, उसको भी इस सूत्र से पुनः 'रे' भाव हो जाये। अर्थात् जो 'झ' के स्थान में 'इरेच्' तथा जो बाद में 'रे' को इट् आगम करके 'इरे' बना हुआ रूप है, इन दोनों को रे भाव हो जाये। इस प्रकार यहाँ इरेश्च इरेश्च= इरयोः ऐसा एकशेष **'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'** (अष्टा॰ 1.2.64) से करके निर्देश है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **दध्रे।।**
   (क) **कं स्विदङ्गर्भं प्रथमं दध्र आपः।।**
   ऋ॰ 10.82.5; मा॰ 17.29
   (ख) **तमिदङ्गर्भं प्रथमं दध्र आपः।।**
   ऋ॰ 10.82.3; मा॰ 17.30
   (ग) **पुत्रं जैवातृकं दध्रे।।** पै॰ 5.11.7
2. **ददृश्रे।।**
   (क) **नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः।।** ऋ॰ 1.24.10
   (ख) **ददृश्र एषामवमा सदांसि।।** ऋ॰ 3.54.5
   (ग) **ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे।।** ऋ॰ 10.71.7
3. **परिददृश्रे।।**
   (क) **याश्च परिददृश्रे ता आपः।।** मै॰ 4.4.1

एवं वेदों में सूत्र के अन्य भी प्रयोग उपलब्ध होते हैं।।

174. छन्दस्युभयथा।। अष्टा॰ 6.4.86

का॰-छन्दसि विषये भू सुधी इत्येतयोरुभयथा दृश्यते। वनेषु चित्रं विभ्वं विशे (ऋ॰ 4.7.1)। विभुवं विशे (तै॰ सं॰ 1.5.5.1)। सुध्यो३नव्यमग्ने (ऋ॰ 6.1.7)। सुधियो नव्यमग्ने (तै॰ ब्रा॰ 3.6.10.3)।।

सि॰-भूसुधियोर्यण् स्यात् इयङ् उवङौ च। वनेषु चित्रं विभ्वम्

(ऋ० 4.7.1)। विभुवम् (तै० सं० 1.5.5.1) वा। सुध्यो३हव्यमग्ने (ऋ० 6.1.7)। सुधियो (तै० ब्रा० 3.6.10.3)। वा।।

प्रस्तुत सूत्र में '**न भूसुधियोः**' (अष्टा० 6.4.85) से '**भूसुधियोः**' की तथा पूर्ववत् '**अङ्गस्य**' की अनुवृत्ति आ रही है। भू सुधी इन अङ्गों के दोनों प्रकार के रूप वेद विषय में देखे जाते हैं, अर्थात् यणादेश होता भी है और नहीं भी होता है। उदा०- **विभ्वम्। सुध्यः।** यणादेश की अवस्था में ये रूप हैं। यणभाव में -उवङादेश होकर विभुवम्। इयङादेश होकर-सुधियः।। लौकिक भाषा में भू और सुधी शब्दों का, सुप् विभक्ति लगने पर, यण् आदेश नहीं होता, इयङ्-उवङ् आदेश ही होते हैं। अतः भुवम्, सुधियम् रूप बनेगें।।

प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

'यण्' आदेश होने पर निर्मित रूप-

1. **विभ्वः।।**
   (क) **वि च त्वद्यन्ति विभ्वो मनीषाः।।** ऋ० 6.34.1
2. **विभ्वम्।।**
   (क) **सद्योवृधं विभ्वं रोदस्योः।।** ऋ० 3.31.13
   (ख) **वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे।।**
   ऋ० 4.7.1; मा० 3.15; 15.26; 33.6; का० 3.3.5; 16.5.7; मै० 1.5.5;
   (ग) **अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणम्।।**
   ऋ० 10.11.4; शौ० 18.1.21
3. **सुध्यः।।**
   (क) **इन्द्रो अश्रायि सुध्यो निरेके।।** ऋ० 1.51.14
   (ख) **ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः।।** ऋ० 4.2.14
   (ग) **एतो न्व1द्य सुध्योऽभवाम।।** ऋ० 5.45.5
   (घ) **तं त्वा वयं सुध्येऽनव्यमग्ने।।** ऋ० 6.1.7; मै० 4.13.5

'उवङ्' आदेश होने पर निर्मित रूप–

1. **विभवम्।।**
   (क) **वनेषु चित्रं विभुवं विशेविशे।।** तै० 1.5.5.1
   (ख) **विभुवे स्वाहा।।** मा० 22.3

'इयङ्' आदेश होने पर निर्मित रूप–

1. **सुधियः।।**
   (क) **सुधियो नव्यमग्ने।।** तै० ब्रा० 3.6.10.3
1. **सुधियम्।।**
   (क) **यो बाणवन्तं सुधियं जघान।।** पै० 5.36.7

।। तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्।।

सि०–तन्वं पुषेम (शौ० सं० 5.3.1)। तनुवम् (तै० 1.1.8.2)। वा। त्र्यम्बकम् (ऋ० 7.59.12)। त्रियम्बकं वा।।

वेद में तन्वादिगणीय शब्दों से बहुल प्रकार से यणादेश, इयङादेश एवं उवङादेश दृष्टिगत होते हैं। यण् होने पर तन्वम्। **त्र्यम्बकम्।।** उवङ् होने पर–तनुवम्। लोक में **'अमिपूर्वः'** (6.1.107) से पूर्वरूप होकर 'तनुम्' बनता है। इयङ् आदेश होने पर त्रियम्बकम्। लोक में **'त्र्यम्बकम्'** रूप बनेगा। वेद में य् र् से मिलने वाले वर्णो का स्वरभक्ति द्वारा उच्चारण होता है, जिससे मध्य में स्वर उच्चारित किया जाता है, यथा– **वरेण्यम्, वरेणियम्। त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम्। रुद्रः, रुद्‌रः। भद्रम्, भद्‌रम्। सुध्यः, सुधियः।** लोक में कवि कालिदास ने ऐसे वैदिक पदों का स्वग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है, जैसे–**'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श।।** (कु० सं० 3.44)।

वेदों में प्रस्तुत वार्तिक से प्राप्त प्रयोग निम्न हैं–

'यण' होने पर प्राप्त प्रयोग–

1. **तन्वः।।**
   (क) **मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः।।** ऋ० 1.114.7
   (ख) **स्मा नस्तन्वो बोधि गोपाः।।** ऋ० 4.16.17

(ग) यत्किं च तन्वो रपः।। मा० 12.84
(घ) मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत्ते।। मा० 25.43
(ङ) अथो अत्र वै देवानां प्रियास्तउन्वस्ता एवावरुन्द्धे।। 3.4.4
(च) ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।।
काठ० 2.5
(छ) यद् इतस् तन्वो मम।। जै० 2.4.7
(ज) अदित्या यत्तन्वः संबभूव।। शौ० 3.22.1
(झ) नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः।। शौ० 6.49.1

2. तन्वम्।।
(क) वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने।। ऋ० 1.147.1
(ख) सुते नि यच्छ तन्वम्।। ऋ० 3.51.11
(ग) घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व।। मा० 12.44
(घ) प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्।। मा० 23.7
(ङ) इन्द्रात् परि तन्वं ममे।। कौ० 2.990
(च) यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजा च।। कौ० 2.11.11
(छ) वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।। शौ० 5.3.1
(ज) स्वया तन्वा तन्व मैरयत।। शौ० 7.3.1

3. स्वर्गः।।
(क) ज्योतिर्हि स्वर्गो लोकः।। मै० 1.4.7
(ख) स्वर्गो वै लोकः प्रत्नं स्वर्ग एव लोके प्रतितिष्ठति।।
मै० 1.5.5
(ग) एष वै मनुष्यस्य स्वर्गो लोको यदस्मिंल्लोके वसीयान् भवति।। काठ० 8.1
(घ) यस्स्वर्ग कामस्स्यात् ......संवत्सरस्वर्गो लोक ऋतुषु...।।
काठ० 9.16
(ङ) अजो३स्यज स्वर्गोसि।। शौ० 9.5.16
(च) स्वर्गो ज्योतिषावृतः।। शौ० 10.2.31
(छ) स्वर्गं पृथिवी व्यद्दतु पात्रम्।। पै० 16.71.3

4. स्वर्गम्।।

(क) यः पथः समनुयाति स्वर्गं लोकं गामिव सुप्रणीतौ।।
मै० 2.9.10

(ख) एवैनं स्वर्गं लोकं गमयति।। काठ० 25.5

(ग) संवत्सरे प्रतिष्ठाय स्वर्गं लोकमेति।। काठ० 9.16

(घ) स स्वर्गमा रोहति।। शौ० 10.9.5

(ङ) यद् उपरिशयनम् आहरन्ति स्वर्गम् एव तेन लोकम् अवरून्द्धे।। पै० 16.111.11

5. त्र्यम्बकम्।।

(क) त्र्यम्बकं यजामहे।। शौ० 7.59.12; मा० 3.60

(ख) अव देवं त्र्यम्बकम्।। मा० 3.58

'उवङ् आदेश होने पर निष्पन्न रूप-

1. तनुवः।।

(क) अनु मार्ष्टु तनुवो यद्विलिष्टम्।। तै० 1.4.44.2

(ख) घृतेन त्वं तनुवो वर्धयस्व।। तै० 3.1.44

(ग) सं या वः प्रियास्तनुवः।। तै० 4.2.4.2

(घ) मा नस्तनुवो रुद्र रीरिषः।। तै० 4.5.10.2

(ङ) या न इमाः प्रियास्तनुवस्ताः समवद्यामहे।। तै० 6.2.2.1

2. तनुवम्।।

(क) अग्निस्ते तनुवं माऽति धाक्।। तै० 1.1.8.2

(ख) सोमस्य तनुरसि तनुवं मे पाहि।। तै० 1.2.1.1

(ग) तनूपा अग्नेऽसि तनुवं मे पाहि।।
तै० 1.5.5.2; 1.5.7.4

(घ) तनुवं वरुणो आशिश्रेत्।। तै० 1.8.10.2

(ङ) वन्दारुस्ते तनुवं वन्दे अग्ने।। तै० 4.2.3.4

(च) स्वयं यजस्व तनुवं जुषाणः।। तै० 4.6.2.5।।

(छ) प्रियामेवास्य तनुवमभि पर्यावर्तते।। तै० 5.2.1.2

3. सुवर्गः।।

(क) सुवर्गो वै लोकः प्रत्नः।। तै० 1.5.7.1

(ख) सुवर्गो लोकः।। तै० 2.5.11.7

(ग) उपरीव हि सुवर्गो लोकः।। तै० 2.6.5.9

(घ) सुवर्गो लोको दिव्यं धाम।। तै० 2.6.7.6

(ङ) सुवर्गो मन्युना वृत्रहा।। तै० 4.4.8.1

4. सुवर्गम्।।

(क) सुवर्गमेव लोकं समारोहति।। तै० 1.5.7.1

(ख) सुवर्गमेवास्मै लोकं प्र रोचयति।। तै० 2.5.11.7

(ग) स मा स्तुतः सुवर्गं लोकं गमयिष्यतीति।। तै० 1.5.8.4

(घ) स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत्।। तै० 1.5.9.4

(ङ) यजमानः सुवर्गं लोकमेति।। तै० 1.5.10.2

(च) यज्ञेन देवाः सुवर्गं लोकमायन्।। तै० 1.7.1.3

(छ) अथो देवता एवान्वारभ्य सुवर्गं लोकमेति।। तै० 2.2.5.5

(ज) सुवर्गं लोकं यन्त ऊर्जं व्यभजन्त।। तै० 6.1.3.3

5. सुवर्गात्।।

(क) एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते।। तै० 2.2.5.4

(ख) एनं सुवर्गाल्लोकादन्तर्दध्यात्।। तै० 5.5.7.1

6. सुवर्गस्य।।

(क) सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै।। तै० 7.1.5.7

इस प्रकार प्रस्तुत वार्तिक के प्रयोग वेदों में बहुलता से उपलब्ध होते हैं।।

175. तनिपत्योश्छन्दसि।। अष्टा० 6.4.99

का०-तनि पति इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपाधाया लोपो भवत्यजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः। वितत्निरे कवयः (ऋ० 1.16.4.5)। शकुना इव पप्तिम (ऋ० 9.107.20)। छन्दसीति किम्? वितेनिरे। पेतिम्।।

सि०-एनयोरुपधालोपः क्ङिति प्रत्यये। वितत्निरे कवयः (ऋ० 1.164.5)। शकुना इव पप्तिम (ऋ० 9.107.20)। भाषायां वितेनिरे, पेतिम।।

प्रस्तुत सूत्र में '**गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि**' (अष्ट्या० 6.4.98) से '**लोपः क्ङिति**' की, '**उदुपधाया गोहः**' (अष्ट्या० 6.4.89) से '**अचि**' की तथा '**अङ्गस्य**' (अष्ट्या० 6.4.1) की अनुवृत्ति आ रही है। वेद में तनु (विस्तारार्थक) तनादिगण की और पत् (गतार्थक) चुरादिगण की अङ्ग की उपधा का अजादि कित्, ङित् प्रत्यय परे रहते लोप हो जाता है। उदा०–**वितत्निरे**। वि + तन् + झ। '**असंयोगाल्लिट् कित्**' (अष्ट्या० 1.2.5) से लिट् को यहाँ कित् माना जाता है। '**लिटस्तझयोरेशिरेच्**' (अष्ट्या० 3.4.81) से 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' आदेश, 'इरे' वि+ तन् + इरे। '**लिटि धातोरनभ्यासस्य**' (अष्ट्या० 6.1.8) से लिट् लकार में अभ्यस्त धातु को द्वित्व, वि + तन् + तन् + इरे। '**पूर्वोऽभ्यासः**' (अष्ट्या० 6.1.4) तन् की अभ्याससंज्ञ। '**हलादिशेषः**' (अष्ट्या० 7.4.60) से हलादि शेष। प्रस्तुत सूत्र से 'तन्' धातु की उपधा 'अ' का लोप **वितत्निरे**।। **पप्तिम**। पत् + लिट् (म)–पत् पत् इट् म- **पपत् इम पप्तिम**। वेद में इसका क्या फल है? **वितेनिरे**। **पेतिम**। प्रथम उदाहरण में उपधालोप नहीं है, द्वितीय में '**अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि**' (अष्ट्या० 6.4.120) से एत्व तथा अभ्यास का लोप होता है।।

प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में निम्न प्रयोग हैं–

1. **तन्–तत्निरे।।**
   (क) **या अकृन्तन्नवयन्याश्च तत्निरे।।**
   शौ० 14.1.45; पै० 18.5.2

2. **वितत्निरे।।**
   (क) **वि तत्निरे कवय ओतवा उ।।**
   ऋ० 1.164.5; शौ० 9.14.6।।
   (ख) **चतुस्त्रिंश्ज्ज शतन्तवो ये वितत्निरे।।** म० 4.61

3. **वितत्ने।।**
   (क) **पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।।** ऋ० 10.130.2

4. **पत्–पप्तुः।।**
   (क) **वयो न पप्तू रघुया परिज्मन्।।** ऋ० 2.28.4
   (ख) **वायो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसा।।** ऋ० 5.59.7

5. पप्तत्।।

(क) मा मौगररुर्द्यां मा पप्तत्।। काठ० 19; 31.8

(ख) अररुस्ते द्यां मा पप्तत्।। मै० 4.1.10

(ग) मेषु पप्तद् इन्द्रस्याहन्य् आगते।। पै० 19.151

6. पप्तः।।

(क) अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सः।। मा० 1.26

7. पप्तिम।।

(क) परः शकुना इव पप्तिम।।

ऋ० 9.107.20; कौ० 2.923; ऋ० 3.23.5

वेदसंहिताओं में सूत्रानुसार 'तनु' धातु के छः तथा 'पत्' धातु के नौ स्थलों पर प्रयोग प्राप्त होते हैं।

176. घसिभसोर्हलि च।। अष्टा० 6.4.100

का०-घसि भस इत्येतयोश्छन्दसि उपधाया लोपो भवति हलादावजादौ च क्ङिति प्रत्यये परतः। सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (मा० सं० 18.9)। बब्धां ते हरी धानाः (निरु० 5.12)। सग्धिरित्यदेः क्तिनि 'बहुलं छन्दसि' (2.4.39) इति घस्लादेश उपधाया लोपे च कृते 'झलो झलि' (8.2.26) इति सकारलोपः। धत्वं तकारस्य, जश्त्वं धकारस्य। ततः समाना ग्धिः सग्धिरिति समासे कृते समानस्य सभावः (6.38.84)। बब्धामिति भसेर्लोटि तामि श्लौ द्विर्वचने कृते उपधालोपसलोपधत्वजश्त्वानि कर्तव्यानि। द्विर्वचनात् परत्वाद नित्यत्वात् चोपधालोपः प्राप्नोति छान्दसत्वात् स तथा न क्रियते। अजादौ-बप्सति। क्ङितीत्येव' अंशून् बभस्ति (शौ० सं० 6.48.2)।।

सि०- सग्धिश्च मे (मा० सं० 189)। बब्धां ते हरी धानाः (निरु० 512)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'तनिपत्योश्छन्दसि' (अष्टा० 6.4.99) से 'छन्दसि' की

तथा पूर्ववत् **लोपः**, **क्ङिति**, **उपधायाः**, **अचि**, **अङ्गस्य**, की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में हलादि तथा अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते घस् तथा भस् धातुओं की उपधा का लोप हो जाता है। **सग्धिश्च मे**। घस् (अद्) अद् + क्तिन् = '**बहुलं छन्दसि**' (अष्या० 2.4.39) से घस् आदेश- घस् + ति = उपधालोप, घस् = ति '**झलो झलि**' (अष्या० 8.2.26) से स् का लोप घ् ति= '**झषस्तथोर्धोऽधः**' (अष्या० 8.2.40) से त् का ध्, घ् धि= घ् का 'झ्लां जश झसि' (अष्या० 8.4.53) से ग् ग्धिः। **समाना ग्धिः= सग्धिः**। '**समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु**' (अष्या० 6.3.84) से समान को स। बब्धाम्। भस्+लोट् (ताम्) = जुहोत्यादिगणी होने के कारण श्लु-विकरण, द्वित्व, अभ्यासकार्य-भस् भस् ताम्-भभस् ताम्-बभस् ताम्- '**अभ्यासे चर्च**' (अष्या० 8.4.54), से अभ्यास को जश्त्व। '**झलो झलि**' (अष्या० 8.2.26) से स् लोप तथा त का धा '**झषस्तथोर्धोऽधः**' (अष्या० 8.2.40) से हुआ, जश्त्व से बब्धाम्।। द्विर्वचन की अपेक्षा परवर्ती होने तथा नित्य होने के कारण उपधा का लोप प्राप्त होता है, किन्तु छान्दस प्रयोग होने के कारण वैसा द्विर्वचन से पहले नहीं किया जाता है। अतः पहले द्वित्व, अभ्यास कार्य के बाद ही उपधा का लोप होने पर भ भ स् + ताम् में अन्य पूर्वोक्त कार्य होते हैं। अजादि परे रहते - इसका क्या फल है? **बप्सति**। उपधा लोप नहीं होता।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **घस्-सग्धि।।**
   (क) **सग्धिश्च मे।।**
   मा० 18.9; 19.4.1; तै० 4.7.4.1; मै० 2.11.4
2. **सग्धिम्।।**
   (ख) **सग्धिं सपीतिमन्या।।** मै० 4.13.8
3. **सग्धीः।।**
   (क) **सम् उच्छिष्टस्य हविषा सग्धीः।।** पै० 19.22.6
4. **सध्यासम्।।**
   (क) **अश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम्।।** तै० 3.2.5.1
5. **भस्-बप्सति।।**
   (क) **दद्भिर्वनानि बप्सति।।** ऋ० 8.43.3

(ख) अद्र्यस्त्वा बप्सति गोरधि त्वचि।। ऋ० 9.79.4

6. बप्सतः।।

(क) उप स्त्रक्वेषु बप्सतः।।

ऋ० 6.55.2; 8.72.15; कौ० 2.823

(ख) वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतः।। ऋ० 10.944

(ग) पृञ्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः।। ऋ० 10.94.13

7. बप्सत्।।

(क) बप्सदग्निर्न वायति।। ऋ० 8.43.6

(ख) उत वा उ परि वृणक्षि बप्सत्।। ऋ० 10.142.3

(ग) यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्।। ऋ० 10.79.1

8. बप्सता।।

(क) हरीइवान्धासि बप्सता।। ऋ० 1.28.7

9. बप्सती।।

(क) असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः।। ऋ० 10.79.1

सूत्रानुसार 'घस्' के सात तथा 'भस्' के बारह प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

177. श्रु शृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि।। अष्टा० 6.4.102

का०-श्रु शृणु पृ कृ वृ इत्येतेभ्य उत्तरस्य हेर्धिरादेशो भवति छन्दसि विषये। श्रुधी हवमिन्द्र (ऋ० 2.11.1)। गिरः शृणुधी (ऋ० 8.13.7)। पूर्धि (ऋ० 8.78.10)। उरु णस्कृधि (ऋ० 8.75.11)। अपा वृधि (ऋ० 1.7.6)। शृणुधीत्यत्र धिभावविधानसामर्थ्याद् 'उतश्च प्रत्याद्०' (6.4.106)। इति हेर्लुग् न भवति। 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.137)। इति दीर्घत्वम्। अतोऽन्यत्र 'व्यत्ययो बहुलम्' (3.1.85)। इति शप्, तस्य 'बहुलं छन्दसि' (2.4.63) इति लुक्।।

सि०-हुझल्भ्यो हेर्धिः (अष्टा० 6.4.101) श्रु शृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि (अष्टा० 6.4.102)। श्रुधि हवम् (ऋ० 2.11.1)। गिरः शृणुधी (ऋ० 8.13.7)। रायस्पूर्धि (ऋ० 1.36.12)। उरु णस्कृधि (ऋ० 8.75.11)। अपा वृधि (ऋ० 1.7.6)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'हुझल्भ्यो हेर्धिः'** (अष्टा० 6.4.101) से **'हेर्धिः'** की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। लौकिक संस्कृत में हु तथा झलन्त से उत्तर हलादि हि के स्थान में धि आदेश होता है, जैसे- **जुहुधि, भिन्द्धि, छिन्द्धि**। प्रस्तुत सूत्र में यह दर्शाया गया है कि वेद में यह धि आदेश श्रु शृणु पॄ कृ तथा वृ से उत्तर हि को होता है। उदा०- **श्रुधि**। **शृणुधी** - इस में **'अन्येषामपि दृश्यते'** (अष्टा० 6.3.137) से दीर्घ। **रायस्पूर्धि** - पॄ के ऋकार को **'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'** (अष्टा० 7.1.102) से उत् **'हलि च'** (अष्टा० 8.2.77) से दीर्घ ऊकार- हि का धि = **पूर्धि**। **उरु णस्कृधि** - **'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः'** (अष्टा० 8.4.27) से न का ण। **'कः करत्करतिकृधि-कृतेष्वनदितः'** (अष्टा० 8.3.50) से विसर्ग का स्। कृ + हि। **कृधि** - प्रस्तुत सूत्र से। लोक में **कुरु** बनेगा। **अपावृधि**। लोक में **अपावृणु**।

अब हम वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त प्रयोगों को दिखा रहे हैं-

1. **श्रुधि**।।

   (क) **श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः**।। मा० 33.15; जै० 1.5.6

   (ख) **श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि**।। शौ० 4.30.4

2. **श्रुधी**।।

   (क) **तेषां पाहि श्रुधि हवम्**।। ऋ० 1.2.1

   (ख) **इन्द्रा गहि श्रुधि हवम्**।। ऋ०1.142.13

   (ग) **श्रुधि हवमिन्द्र मा रिषण्यः**।। ऋ० 2.11.1

   (घ) **स नो बोधि श्रुधि हवम्**।।

   ऋ० 5.24.3; मा० 3.26; का० 3.3.18

   (ङ) **श्रुधि न इन्द्र ह्वयामसि त्वा**।। ऋ० 6.26.1

   (च) **श्रुधि हवं विपिपान स्यात्**।। ऋ० 7.22.3; कौ० 2.17.98

   (छ) **श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे**।। ऋ० 10.11.9।।

   (ज) **इमं मे वरुण श्रुधि**।। मा० 21.1

   (झ) **श्रुधि हवं तिरश्च्या**।। कौ० 1.346; 2.883

   (ञ) **श्रुधि हवं गिरो मे जुषस्व**।। शौ० 2.5.4

3. **शृणुधी**।।

   (क) **अस्माकं शृणुधी हवम्**।। ऋ० 4.9.7

(ख) वेनो न शृणधी हवम्।। ऋ० 8.3.18

(ग) शृणुधी जरितुर्हवम्।। ऋ० 8.13.7

(घ) नूँ पाहि शृणुधी गिरः।।

ऋ० 8.84.3; मा० 13.22; का० 14.5.6;

मै० 1.13.11;

4. पूर्धि।।

(क) रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति।। ऋ० 1.36.12

(ख) शग्धि पूर्धि प्र यंसि च।। ऋ० 1.42.9

(ग) एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि।। ऋ० 7.24.6; 25-6

(घ) रायस्पूर्धि महाँ असि।।

ऋ० 8.95.4; कौ० 1.346; 2.883

(ङ) अप ध्वान्तमूर्णहि पूर्धि चक्षुः।।

काठ० 9.19; कौ० 1.319

(च) रायस् पूर्धि महं असि।। जै० 3.20.17

5. कृधि।।

(क) अग्ने पत्नीवतस्कृधि।। ऋ० 1.14.7

(ख) प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।। ऋ० 2.41.10

(ग) सु वाचं भागं यशसं कृधि नः।। ऋ० 3.1.19

(घ) अस्माकमुत्तमं कृधि।। ऋ० 4.31.15

(ङ) द्युमदग्ने महि अवो बृहत्कृधि।। ऋ० 5.18.5

(च) उरुं कृधि त्वायत उ लोकम्।। ऋ० 6.23.7

(छ) सत्रा कृधि सुहना शूर वृत्रा।। ऋ० 7.25.5

(ज) उरुकृदुरु णस्कृधि।। ऋ० 8.75.11; कौ० 2.16.49

(झ) महश्च रायो रेवतस्कृधी नः।। ऋ० 10.22.15

(ञ) रणं कृधि रणकृत्सत्यशुष्मा।। ऋ० 10.112.10

(ट) प्रबुधे नः पुनस्कृधि।। ऋ० 4.14

(ठ) उरु क्षयाय नस्कृधि।। मा० 5.38; 5.41; का० 2.6.8

(ड) रुचे जनाय नस्कृधि।। मा० 13.22

(ढ) पराचीना मुखाकृधि।। मा० 16.53

(ण) शं च नस्कृधि।। मा० 34.8

(त) प्रजया च बहुं कृधि।। का० 18.5.1

(थ) अधस्पदं तमीं कृधि।। तै० 1.7.12.4

(द) प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि।। तै० 2.2.12.6

(ध) सुपिप्पला ओषधीस्कृधि।। मै० 1.2.2

(न) प्रबुधे नः पुनस्कृधि।। मै० 1.2.3; काठ० 2.4

(प) मधुमतीर्न इषस्कृधि।। काठ० 27.2

(फ) ततो नो अभयं कृधि।। कौ० 1.274, ; 2.13.21

(ब) पुनानो वरिवस्कृधि।। कौ० 2.842

(भ) अथा नो वस्यसस्कृधि।।
कौ० 2.10.47; 10.50; जै० 3.31.25

(म) अधस्पदं तमीं कृधि।। कौ० 2.10.92

(य) वृत्रेषु शत्रून् सुहना कृधि नः।। जै० 2.4.9

(र) अप द्वेषांस्या कृधि।। शौ० 1.2.2

(ल) मयस्तोकेभ्यस्कृधि।। शौ० 1.13.2

(व) सा नो मधुमतस्कृधि।। शौ० 1.34.1

(श) प्राशि मामुत्तरं कृधि।। शौ० 2.27.7

(स) पतिं मे केवलं कृधि।। शौ० 3.18.2

(ष) हरिणस्या भियं कृधि।। शौ० 6.67.3

(ह) अरसं जीवले कृधि।। पै० 8.7.11

(अ) प्रजया च बहुं कृधि।। पै० 19.3.14

6. वृधि।।

(क) सत्रादावन्नपा वृधि।।
ऋ० 1.7.6; शौ० 20.70.12; कौ० 2.16.21

(ख) गवामप व्रजं वृधि।। ऋ० 1.10.7

(ग) अस्मभ्यं ताँ अपा वृधि।। ऋ० 4.31.13

(घ) दुरो न वाजं श्रुत्या अपावृधि।।
मै० 4.12.2; ऋ० 2.2.7

वेदसंहिताओं में श्रु के सत्रह, शृणु के आठ, पॄ के दस, कृ के इकतालिस तथा वृ के सात प्रयोग सूत्रानुसार प्राप्त होते हैं।।

178. वा छन्दसि।। अष्टा० 3.4.88

का०-अपित्त्वं विकल्प्यते। लादेशश्छन्दसि विषये हिशब्दो वापिद् भवति। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (ऋ० 1.189.1)। प्रीणाहि। प्रीणीहि (काठ० सं० 40.12)।।

सि०- हिरपिद् वा।।

अङितश्च।। अष्टा० 6.4.103

का०-अङितश्च हेर्धिरादेशो भवति। 'वा छन्दसि' (3.4.88) इति पित्त्वेनास्याङित्त्वम्। सोमं रारन्धि (ऋ० 1.91.13)। अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि (ऋ० 3.36.9)। युयोध्य1स्मज्जुहुराणमेनः (ऋ० 1.189.1)। अङित इति किम्? हव्यं प्रीणीहि (काठ० 40.12)। रारन्धीति रमेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्, शपः श्लुरभ्यासदीर्घत्वं छान्दसत्वात्। मलोपाभावस्तु अङित्त्वादेव। प्रयन्धीति यमेः शपो लुक्। युयोधीति यौतेः शपः श्लुः।।

प्रथम सूत्र तृतीय अध्याय का है, जो **'सेर्ह्यपिच्च'** (अष्टा० 3.4.87) के उपरान्त आया है। लौकिक संस्कृत में नियम है कि लोट् के **'सि'** के स्थान पर **'हि'** आदेश होता है, तथा वह अपित् होता है, वह **'हि'** आदेश सम्पूर्ण **'सि'** के स्थान पर **'अनेकाल्शित्सर्वस्य'** (अष्टा० 1.1.55) के अनुसार होता है। यद्यपि **'सिप्'** प्रत्यय का **'प'** इत् है, अतः उसके स्थान पर जो **'हि'** आदेश हुआ है, वह भी पित् मानना चाहिए स्थानिवद्भाव के कारण। परन्तु यहां उसे **'अपित्'** अतिदेश किया जा रहा है। अतः वेद में यही **'सि'** के स्थान पर होने वाला **'हि'** आदेश विकल्प से अपित् होता है। इस नियम से प्राप्त फल यहाँ निर्दिष्ट किया जा रहा है।

'अङितश्च' इस प्रस्तुत सूत्र में **'श्रु शृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि'** (अष्टा० 6.4.102) से **'छन्दसि'** की, तथा पूर्ववत् **'हेर्धिः'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में अङित् **'हि'** को धि आदेश होता है। तृतीय अध्याय के 'वा

छन्दसि' (अष्टा० 3.4.88) में '**सि**' के स्थान पर होने वाले '**हि**' को विकल्प से '**अपित्**' माना गया है, वेदविषय में। अतः अपित् पक्ष में '**सार्वधातुकमपित्**' (अष्टा० 1.2.4) से '**हि**' ङित्वत् होगा और पित् पक्ष में ङित् नहीं होगा। जिस पक्ष में ङित् नहीं होगा, उसी पक्ष में अङित् '**हि**' के होने से इस प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति होगी। उदा०– **रारन्धि**। रमु धातु को अनुदात्त '**उ**' की इत्संज्ञा होने से '**अनुदात्तङित्तआत्मनेपदम्**' (अष्टा० 1.3.12) से अनुदात्तेत रम् धातु आत्मनेपदी है, किन्तु '**व्यत्ययो बहुलम्**' (अष्टा० 3.1.85) से इस को परस्मैपदी माना गया, अतः रम् + लोट्। इस लोट् के स्थान में मध्यमपुरुष एकवचन में सिप् '**सेर्ह्यपिच्च**' (अष्टा० 3.4.87) से '**सि**' को '**हि**' आदेश हो गया। रमु धातु भ्वादिगणीय है, अतः '**कर्तरि शप्**' (अष्टा० 3.1.68) से '**शप्**' होना चाहिये, किन्तु '**बहुलं छन्दसि**' (अष्टा० 2.4.76) से 'शप्' को '**श्लु**' पुनः द्वित्व रम् रम् हि (धि), ररम् धि = '**तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य**' (अष्टा० 6.1.3) से अभ्यास दीर्घ, रारम् धि। '**मोऽनुस्वारः**' (अष्टा० 8.3.23) से म् को अनुस्वार। '**अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**'(अष्टा० 8.4.58) से 'धि' का परसवर्ण न् लिया– **रारन्धि**। यहाँ पर 'हि' अङित् या पित् था अतः '**अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति**' (अष्टा० 6.4.37) से अनुस्वार लोप नहीं हुआ है। लोक में 'रमस्व' बनेगा। प्रयन्धि– प्र पूर्वक √ यमु उपरमे धातु से लोट् लकार, प्र यम् + हि (पित्) शप् का लोप '**बहुलं छन्दसि**' (अष्टा० 2.4.73) से लुक्। '**अनुदात्तो०**' (अष्टा० 6.4.37) से होने वाला मलोप नहीं होगा, क्योंकि हि को अङित् माना गया है। अनुस्वार परसवर्ण होकर प्रयन्धि। लोक में 'प्रयच्छ' बनेगा। **युयोधि** '√ **यु मिश्रणामिश्रणयोः**' यह अदादिगण की है, यु+ हि (पित्)= अदादिगणीय होने पर भी शप् को '**व्यत्ययो बहुलम्**' (अष्टा० 3.1.85) से श्लु, द्वित्व, यु यु धि। क्योंकि हि '**अङित्**' है अतः '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (अष्टा० 7.3.84) से गुण, **युयोधि**। लौकिक संस्कृत में '**युहि**' रूप होगा।। अङित् का– इसका क्या फल है **हव्यं प्रीणीहि**। यहां ङित् है, अतः धि नहीं होता है।।

वेद संहिताओं में सूत्रानुसार निम्न प्रयोग है–

1. रारन्धि।।
    (क) सोम रारन्धि नो हृदि।। ऋ० 1.91.13
    (ख) रारन्धि सवनेषु णः।। ऋ० 3.41.4
2. यन्धि।।
    (क) यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्।। ऋ० 7.88.6
    (ख) स नो यन्धि महीमिषम्।। ऋ० 4.32.7
    (ग) उरु णो यन्धि जीवसे।। ऋ० 8.68.12
3. प्रयन्धि।।
    (क) अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्र यन्धि।। ऋ० 3.36.9
    (ख) अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्।। ऋ० 3.36.10
    (ग) महो रायः पुरुवार प्र यन्धि।। ऋ० 4.2.20
4. युयोधि।।
    (क) युयोध्य1स्मज्जुहुराणमेनः।।
    ऋ० 1.189.1; मा० 5.36; 7.43
    (ख). युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।। मा० 12.43

वेदों में इस सूत्र के अनेकशः प्रयोग हैं, हमने दिग्दर्शनार्थ कतिपय ही उद्धृत किये है।

179. मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः।। अष्टा० 6.4.141

का०-मन्त्रेषु आङि परत आत्मन आदेर्लोपो भवति। त्मना देवेभ्यः (शौ० सं० 5.27.11)। त्मना सोमेषु। मन्त्रेष्विति किम्? आत्मना कृतम्। आङीति किम्? यदात्मनस्तन्वो वरिष्ठा।। आङोऽन्यत्रापि दृश्यते।। त्मन्या समञ्जन् (ऋ० 10.110.10)।।

सि०- आत्मन्शब्दस्य आदेर्लोपः स्यादाङि। त्मना देवेषु (मा० 27.21)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'अल्लोपोऽनः'** (अष्टा० 6.4.134) से **'लोपः'** की, **'भस्य'** (अष्टा० 6.4.129) की, तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। मन्त्र-विषय में आङ् (=टा) परे रहते 'आत्मन्' शब्द के आदि (=आकार) का लोप होता है। 'टा' तृतीया एकवचन के लिये पूर्वाचार्यों ने 'आङ्' संज्ञा

बना रखी है। अतः यहाँ 'आङ्' उपसर्ग का ग्रहण नहीं है। **देवेभ्यः। त्मना सोमेषु।** आत्मन् + टा = **आत्मना, त्मना।** मन्त्रों में - इसका क्या फल है? **आत्मना कृतम्।** यह लौकिक संस्कृत का वाक्य है। अतः 'आ' लुक् नहीं होता। आङ् = टा परे- इसका क्या फल है? **यदात्मनः तन्नो वरिष्ठा** - यहाँ षष्ठी एकवचन परे है, तृतीया का 'टा' नहीं, अतः लोप नहीं होता है। वार्तिककार ने 'आङ्' से भिन्न स्थलों में भी 'आ' का लोप माना है, जैसे- **त्मन्या समञ्जन्।** अतः यह सूत्र व्यर्थ माना है। इसी प्रकार नागेशभट्ट ने सूत्र के 'आदेः' पद पर आपत्ति उठाते हुए कहा है कि जब इसके पूर्व में 'आतो धातोः' (अष्टा० 6.4.140) सूत्र है, तो उसी से 'आतः' की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में हो जाती है। इस प्रस्तुत सूत्र में तो केवल 'आ' का लोप करना ही अभीष्ट है। अतः '**मन्त्रेष्वाङ्यात्मनः**' कहने से कार्य सिद्ध है, एवं 'आदेः' शब्द निरर्थक है- '**त्मन्या समञ्जदिति' आङोऽन्यत्रापि लोपदर्शनात् 'आङी' ति व्यर्थम्। 'आत' इत्यनुवृत्तेः आदेरित्यपि व्यर्थम्।।** एवं वार्तिककार के मत में पूर्ण तथा नागेशभट्ट के विचार से आधा सूत्र निरर्थक पढ़ा गया है।

इस विषय पर डॉ० रमाशंकर भट्टाचार्य ने '**पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन**' नामक ग्रन्थ के पृ० 82-83 पर लिखा है- "**किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में यह सूत्र था, और पाणिनि ने अविकल रूप में इस सूत्र को ले लिया है। प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ में सूत्रस्थ 'आदि' पद सार्थक था, क्योंकि उस ग्रन्थ में इस सूत्र से पहले आकार का प्रकरण नहीं होगा, पर पाणिनि ने जब सूत्र को अविकल रूप से लेकर इस प्रकरण में पढ़ा तब अष्टाध्यायी में सूत्र से पहले आकार का प्रकरण रहने से सूत्रोपात्त 'आदि' पद व्यर्थ हो गया। यदि पाणिनि इस सूत्र के रचयिता होते, तो कदापि वे 'आदि' पद का व्यवहार नहीं करते, यदि कहा जाय कि पाणिनि ने 'आदि' पद का परित्याग कर ही क्यों नहीं सूत्र को पढा, तो उत्तर यह है कि प्राचीन आचार्यों की यह शैली है वे सिद्ध वस्तु को भी कभी-कभी पुनः कहते हैं, (स्पष्टार्थता आदि प्रयोजनों के लिये) जैसा कि भाष्यकार ने कहा है- "भवति वै किञ्चिद् आचार्याः क्रियमाणामपि चोदयन्ति" (6.1.67)अर्थात् कभी-कभी आचार्य स्वेच्छा से सिद्ध का साधन भी करते हैं। इस प्रकार यह सूत्र 'प्राक्पाणिनीय' सिद्ध है। पुनः**

दूसरा प्रमाण भी है- इस सूत्र में 'आङ्' पद का व्यवहार किया गया है, जो प्राचीन आचार्यों का है। यदि यह सर्वथा पाणिनीय होता, तो पाणिनि 'आङ्' के लिये अपने पारिभाषिक शब्द (टा) का व्यवहार करते, पर 'आङ्' को अविकल रूप से लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सूत्र ''प्राक्पाणिनीय है''।।

प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. त्मना।।

(क) विश्व तोकमुत त्मना।। ऋ० 1.4.1.6

(ख) अव त्मना धृषता शम्बरं भिनत्।। ऋ० 1.54.4

(ग) त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना।।

ऋ० 2.1.6; तै० 1.3.14.2

(घ) अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना।। ऋ० 4.53.1

(ङ) परि त्मना मितद्रुरेति होता।। ऋ० 4.6.5

(च) दाशुषे यच्छति त्मना।। ऋ० 4.53.1

(छ) विभु पोष उत त्मना।। ऋ० 5.5.9

(ज) विश्वेषां त्मना शोभिष्ठम्।। ऋ० 8.3.21

(झ) गुहा सतीरुप त्मना।। ऋ० 8.6.8

(ञ) समीचीने अभि त्मना।। ऋ० 10.102.8

(ट) समीची उरसा त्मना।। म० 11.31

(ठ) रक्षा तोकमुत त्मना।। म० 13.52; काठ० 7.16

(ड) क्षपो राजन्नुत त्मना।। मा० 15.37

(ढ) रराणस्त्मना देवेषु।। म० 27.21

(ण) हविषस्त्मना यज।। का० 6.2.7

(त) यो अभिरक्षति त्मना।। मै० 1.2.8

(थ) त्मना सहस्रपोषिणाम्।। कौ० 1.58

(द) तना त्मना सह्याम त्वोताः।। कौ० 1.316

(ध) त्मना कृण्वन्तो अर्वतः।। कौ० 2.831

(न) आ घ त्वावान् युक्त।। कौ० 2.10.85

(प) इव त्मनाग्निं धीभिर् नमस्यत।। जै० 4.21.4

(फ) त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यम्।। शौ० 5.27.11

(ब) नः सुभगा बोधतु त्मना।। शौ० 7.50.1

(भ) उदुस्त्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्।। शौ० 20.16.7

(म) दहतु शोचतु त्मना।। पै० 3.37.1

ये सब प्रयोग प्रस्तुत सुत्रानुसार हमने दिखा दिये हैं, किन्तु वार्तिककार के अनुसार यह सूत्र निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि 'आङ्' (टा) से भिन्न स्थलों में भी आत्मन् के 'आ' का लोप वेदसंहिताओं में अनेकत्र मिलता है–

1. त्मन्।।

(क) इह त्वा भूर्या चरेदुप त्मन्।। ऋ० 4.4, 9

2. त्मनम्।।

(क) त्मनमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै।। ऋ० 1.63.8

3. त्मनि।।

(क) प्र यद् वां बद्धस्त्मनि स्वादति क्षाम्।। ऋ० 1.158.4

(ख) उप त्मनि दधानो धुर्या३शून्।। ऋ० 4.29.4

4. त्मने।।

(क) त्मने तोकाय तनयाय मृळ।। ऋ० 1.114.6

(ख) वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च।। ऋ० 1.183.3

(ग) यातं वर्तिस्तनयाय त्मने च।। ऋ० 1.184.5

5. त्मन्या।।

(क) उप त्मन्या वनस्पते।। ऋ० 1.188.10

(ख) त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।। मा० 20.45

(ग) अश्वो घृतेन त्मन्या समक्त।। मा० 29.10

(घ) उपावसृज त्मन्या समञ्जन्।। मा० 29.35

6. त्मौ।।

(क) त्मौ नो मृडायिष्यति।। पै० 5.21.7

एवं आचार्य द्वारा रचित सूत्र वेदों में अप्रासङ्गिक है। यतोहि तृतीया से भिन्न विभक्तियों में भी 'आत्मन्' के 'आ' का लोप दृष्टिगत होता है।।

180. विभाषर्जोश्छन्दसि।। अष्टा० 6.4.162

का०-ऋजु इत्येतस्य ऋतः स्थाने विभाषा रेफ आदेशो भवतीष्ठेमेयस्सु परतश्छन्दसि विषये। रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् (ऋ० 1.91.1)। त्वमृजिष्ठः।।

सि०-ऋजुशब्दस्य ऋतः स्थाने रः स्याद्वा इष्ठेमेयस्सु। त्वं रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम् (ऋ० 1.91.1)। ऋजिष्ठं वा।।

प्रस्तुत सूत्र में '**र ऋतो हलादेर्लघोः**' (अष्या० 6.4.161) से '**र ऋतः**' की '**तुरिष्ठेमेयस्सु**' (अष्या० 6.4.154) से '**इष्ठेमेयस्सु**' की, तथा पूर्ववत् **भस्य**, **अङ्गस्य**, की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में '**भ**' संज्ञक ऋजु शब्द के अङ्ग ऋकार के स्थान में विकल्प से '**र**' आदेश होता है। **इष्ठन्**, **इमनिच्** तथा **ईयसुन्** प्रत्यय परे रहते। **रजिष्ठम्**। ऋजु शब्द से इष्ठन् प्रत्यय, ऋजु + इष्ठ, '**यचि भम्**' (अष्या० 1.4.18) से '**ऋजु**' शब्द की '**भ**' संज्ञा, प्रस्तुत सूत्र से '**भ**' संज्ञक '**ऋजु**' के ऋकार को '**र**' आदेश रजु + इष्ठ, '**टेः**' (अष्या० 6.4.155) से भसंज्ञक अङ्ग के टि भाग '**इ**' का लोप होकर **रजिष्ठम्**। अभाव पक्ष में '**र**' नहीं होगा- **ऋजिष्ठः**। इमनिच् प्रत्यय परे होने पर **रजिमा**- **ऋजिमा** रूप तथा ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर **रजीयान्**- **ऋजीयान्** रूप होंगे।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **रजिष्ठम्।।**

   (क) **त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।।**

   ऋ० 1.91.1; मा० 19.52; तै० 2.6.12.1; का० 21.4.2; मै० 4.10.6

2. **रजिष्ठया।।**

   (क) **रजिष्ठया रज्या पश्व आ।।** ऋ० 10.100.12

3. **रजिष्ठा।।**

   (क) **मित्रो अर्यमा वरुणो रजिष्ठाः।।** ऋ० 7.51.2

4. **रजिष्ठाम्।।**

   (क) **ऋतस्य नावम् आरुहद् रजिष्ठाम्।।** जै० 4.19.8

5. रजिष्ठैः।।

(क) नयन्नृतस्य पथिभिः रजिष्ठैः।। ऋ० 1.79.3; मै० 4.137

(ख) वेत्य् अध्वर्यु पथिभी रजिष्ठैः।। जै० 4.16.4

'ऋज्' रज् (इमनिच्)

1. रजिम्।।

(क) त्वं रजिं पिठीनसे दशस्यन्।। ऋ० 6.26.7

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के बारह प्रयोग प्राप्त होते हैं। रजियान् रूप वेदों में अप्रयुक्त है।।

181. ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानिच्छन्दसि।।
अष्टा० 6.4.175

का०-ऋत्व्य वास्त्व्य वास्त्व माध्वी हिरण्यय इत्येतानि निपात्यन्ते छन्दसि विषये। ऋतु वास्तु इत्येतयोर्यति यणादेशो निपात्यते। ऋतौ भवम् ऋत्व्यम् (पै० सं० 19.25.14)। वास्तौ भवं वास्त्व्यम्। वस्तुशब्दस्याणि यणादेशो निपात्यते। वस्तुनि भवो वास्त्वम् (मै० सं० 2.2.4)। मधुशब्दस्याणि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः (ऋ० 1.90.6)। हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते। हिरण्ययम् (ऋ० 1.25.13)।।

सि०- ऋतौ भवमृत्व्यम् (पै० सं० 19.25.14)। वास्तुनि भवं वास्त्व्यम्। वास्त्वम् (मै० सं० 2.2.4 च। मधुशब्दस्याणि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वीर्नःसन्त्वोषधीः (ऋ० 1.90.6)। हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते-हिरण्ययेन सविता रथेन (ऋ० 1.35.2)।।

वेद-विषय में ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय - ये पाँच शब्दरूप निपातन किये जाते हैं। ऋत्व्यम्। वास्त्व्यम्। ऋतु, वास्तु इन शब्दों को 'भवे छन्दसि' (अष्टा० 4.4.110) से यत् परे रहते यणादेश निपातन से हुआ है। लैकिक संस्कृत में 'ओर्गुणः' (अष्टा० 6.4.146) से 'उ' का गुण होकर 'ओ' तथा अवादेश- ऋतव्यम्। वास्तव्यम्।। वास्त्वम्। यहाँ वस्तु को

'तत्र भव' (अष्टा० 4.3.53) से अण् प्रत्यय। पुनः यणादेश निपातन से है। **'ओर्गुणः'** (अष्टा० 6.4.146) से गुण प्राप्त था, यणादेश हो गया। लोक में **'वास्तवम्'** बनेगा। **माध्वी।** यहाँ मधु **'तस्येदम्'** (अष्टा० 4.3.120) से अण् प्रत्यय, परे रहते स्त्रीलिङ्ग में यणादेश निपातन से है। **'टिड्ढाणञ्द्वय-सज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः'** (अष्टा० 4.1.15) से ङीप् हुआ है। पूर्ववत् गुण प्राप्त था, यणादेश निपातन से हो गया। लोक में **'माधवी'** बनेगा। **हिरण्ययम्।** 'हिरण्य' शब्द से **'मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याऽऽच्छादनयोः'** (अष्टा० 4.3.143) से **मयट्।** **मयट्** के मकार का निपातन से लोप होकर **'हिरण्ययम्'** बना। लौकिक संस्कृत में **'हिरणमयम्' 'दाण्डिनायनहास्ति०'** (अष्टा० 6, 4, 174) से बनेगा।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **ऋत्व्य-ऋत्व्ये।।**
   (क) **स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।।** ऋ० 10.183.2
2. **ऋत्व्यानि।।**
   (क) **यान्य ऋत्व्यानि रक्षांसि येऽराया यातुधानाः।।**
   पै० 19.25.14

1. **वास्तव्यम्।।**
   (क) **वास्तव्यं कुर्यादुदोऽस्य पशूनभिमानुकः स्यात्, पार्श्वत इतो वेतो वाधेयो न वास्तव्यं करोति।।** मै० 1.6.4
2. **वास्तव्याय।।**
   (क) **नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय।।**
   मा० 16.39; तै० 4.5.7.2 मै० 2.9.7
3. **वास्त्वम्।।**
   (क) **वास्तोर्वै वास्त्वं जातं वास्त्वमयं खुल वै रुद्रस्य।।**
   मै० 2.2.4

1. **माध्वी।।**
   (क) **माध्वीर्न सन्त्वोषधीः।।**
   ऋ० 1.90.6; मा० 13.27; का० 14.3.1; मै० 2.7.16 पै० 19.45.6

(ख) माध्वीर्गावो भवन्तु नः।।

ऋ० 1.90.8; मा० 13.29; का० 14. 3.3; तै० 4.2.9

2. माध्वीनाम्।।

(क) माध्वीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।। मै० 1.3.36

3. माध्वीषु।।

(क) माध्वीषु ककुहासु शक्वरीषु शुक्रासु ते।। तै० 3.3.3.1

4. हिरण्ययः।।

(क) इन्द्रो वज्री हिरण्ययः।।

ऋ० 1.7.2; मै० 2.13.6; कौ० 1.289

(ख) हिरण्ययो वेतसो मध्व आसाम्।।

ऋ० 4.58.5; मा० 17.93; तै० 4.39.6

(ग) उभा चक्रा हिरण्यया।। ऋ० 8.5.29

(घ) हिरण्ययो वेतसो मध्ये।। मा० 13.38; का० 14.4.1

(ङ) अथैष पुरुषो हिरण्ययः।। मै० 3.2.6

(च) योनिर्यस्ते हिरण्ययः।। काठ० 13.9

(छ) उत्सो देवो हिरण्ययः।। कौ० 1.511

(ज) साधुर् बुन्दो हिरण्ययः।। जै० 4.11.5

(झ) बृहन्निन्द्र हिरण्ययः।। शौ० 6.82.3

(ञ) गृहो हिरण्ययो मिथः।। शौ० 7.88.1

(ट) जातो हिरण्ययो मणिः।। पै० 7.5.1

5. हिरण्ययम्।।

(क) बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्।। ऋ० 1.25.13

(ख) हिरण्ययमुत भोगं ससान।। ऋ० 3.34.9

(ग) पुरुषँ हिरण्ययमुपदधाति।। काठ० 20.5

(घ) हस्ता वज्रं हिरण्ययम्।। कौ० 2.11.73

(ङ) होतृषदनं हरितं हिरण्ययम्।। शौ० 7.104.1

(च) यो वेतसं हिरण्ययम्।। शौ० 10.7.41

6. हिरण्ययात्।।

(क) हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्य।। मै० 2.13.1

7. हिरण्ययेन।।

(क) हिरण्ययेन सविता रथेना।।

ऋ० 1.35.2; तै० 3.4.11.2; मा० 33.43; 34.31; का० 32.3.14; 33.1.25

(ख) हिरण्ययेन पुरुभू रथेन।। ऋ० 4.44.4

(ग) हिरण्ययेन सुवृता रथेन।। शौ० 20.143.5

(घ) हिरण्ययेन चक्रेण भगस्यापिहितो गृहः।। पै० 8.20.11

वेदों में 'ऋत्व्यम्' के दो, 'वास्त्व्यम्' के चार, 'वास्त्वम्' का एक, 'माध्वी' के ग्यारह, 'हिरण्ययम्' के बत्तीस प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

।। इति सप्तम अध्याय।।

अष्टम अध्याय

सप्तम अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

182. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 7.1.8

का०- छन्दसि विषये बहुलं रुडागमो भवति। देवा अदुह्र (मै० सं० 4.2.13)। गन्धर्वाप्सरसो अदुह्र (मै० सं० 4.2.13)। दुहेर्लङि इकारस्यादादेशो कृते रुट्। लोपस्त आत्मनेपदेषु (7.1.41) इति तकारलोपः। न च भवति- अदुहत। बहुलवचनादन्यत्रापि भवति- अदृश्रमस्य केतवः (ऋ०1.50.30) ऋदृशोऽङि गुणः (7.4.16) इत्येतदपि बहुलवचनादेवात्र न भवति।

सि० - शीङो रुट् (7.1.6)। बहुलं छन्दसि (7.18)। रुडागमः स्यात्। लोपस्त आत्मनेपदेषु (7.1.41)। इति पक्षे तलोपः। धेनवो दुह्रे। लोपाभावे घृतं दुह्रते। अदृश्रमस्य (ऋ० 1.50. 3)।।

'बहुलं छन्दसि' (अष्य० 7.1.8) से एक सूत्र पूर्व 'शीङो रुट्' (अष्य० 7.1.6) सूत्र पढ़ा है। जिसमें 'अदभ्यस्तात्' (अष्य० 7.1.4) से 'अत्' की, 'झोऽन्तः' (अष्य० 7.1.3) से 'झः' की तथा 'अङ्गस्य' (अष्य० 6.1.4) की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है- शीङ् अङ्ग से उत्तर झकार के स्थान में हुआ जो अत् उसको रुट् का आगम होता है। शेरते। शी शप् झ, अदादिगणी धातु होने से शप् का लुक् होकर 'शी अत् अ' रहा। 'आद्यन्तौ टकितौ' (अष्य० 1.1.45) से अत् के आदि को रुट् आगम, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (अष्य० 7.4.21) से शीङ् को गुण हुआ-शेरते बना। शेरताम्, लोट लकार का, अशेरत लङ् लकार का रूप भी बने। किन्तु वेद में यह रुट् का आगम बिना किसी नियम का होता है, दूसरे धातुओं के बाद

भी झ के स्थान में अत् होने पर रुट का आगम हो सकता है। एक अन्य सूत्र **'लोपस्त आत्मेनपदेषु'** (अष्टा० 7.1.41) के कारण वेद में आत्मनेपद के तकार का लोप भी होता है, अतः रुट् के बाद भी त् का वैकल्पिक लोप सम्भव है। उदा०- **अदुह्र**-अट् दुह् शप् झ, यहाँ शप् का लुक् एवं झ को अत् होकर 'अदुह् अत्' रहा। रुट् आगम एवं **'लोपस्त आत्मनेपदेषु'** (अष्टा० 6.1.9.7) से 'त्' का लोप होकर-अदुह् रुट् अ अ = **'अतो गुणे'** (अष्टा० 6.19.7) से पररूप होकर अदुह्र बना। बहुल कहने से रुट् अभाव होकर **'अदुहत'** बना। **'अदृश्रम्'**-लुङ् के उत्तमपुरुष के एकवचन का रूप है, झादेश अत् से अन्यत्र भी बहुलवचन से रुट् होकर यह रूप बनता है। लोक में **'ऋदृशोऽङि गुणः'** (अष्टा० 7.4.16) से गुण होकर **'अदर्शम्'** बनता है। इसमें **'इरितो वा'** (अष्टा० 3.1.57) से **'च्लि'** को अङ् होता है, उसी को रुट् का आगम हुआ है। यह रूप पदमञ्जरीकार ने माना है। किन्तु न्यासकार ने **'झि'** के **'अन्ति'** को भी रुट् मानकर **'अदृश्रन्'**-इस प्रकार का रूप माना है- **दृश्योर्लुङ्, झेरन्तोदेशः 'इरितो वा' इति च्लेरङ्, तस्य रुट्, 'इतश्च' इतीकारलोपः, 'संयोगान्तस्य' इति तकारस्य च, 'अतो गुण' 'पररूपत्वम्'**। वस्तुतः दोनों ही प्रकार के रूप दृष्टिगत होते हैं। सूत्र का मुख्य निर्देश है कि 'झ' के 'अत्' आदेश के अतिरिक्त स्थलों पर भी रुट् होता है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **अदुह्र।।**

(क) **तां देवा अदुह्र हरितेन पात्रेणामृतं, अथ पितरोऽदुह्र रजतेन।।**

मै० 4.2.1

(ख) **गन्धर्वाप्सरसोऽदुह्र पुष्करपर्णेन....अथ सर्पा अदुह्रालापुना विषं दुहे।।** मै० 4.2.13

(ग) **यत्र वा अदो देवेभ्यः कामदुघां काममदुह्र।।** मै० 4.7.4

2. **अदुह्रन्।।**

(क) **ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुह्रन्ण्यचो बृहता।।**

शौ० 8.11.7

3. दुह्र।।
   (क) विश्वा इत्ते धेनवो दुह्र आशिरं घृतं दुह्रत आशिरम्।।
   का० 1.13.46
   (ख) अवरुद्धाः सर्वामाशिषं दुह्रे।। तै० 2.5.7.5
   (ग) यज्ञं पृष्ठानि संवत्सरादुह्रे।। काठ० 33.5
   (घ) सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।। शौ० 10.10.32
4. अदृश्रम्।।
   (क) अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।।
   ऋ० 1.50.3; मा० 8.40
5. अदृश्रन्।।
   (क) अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनं अनु।। मै० 1.3.33
   (ख) स्तेना अदृश्रन् रिपवो जनासः।। ऋ० 5.3.11।।
   (ग) अदृश्रन्नस्य केतवः।। शौ० 12.2.18.20.47.15
6. अजुष्रन्।।
   (क) स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रन्।। ऋ० 1.71.1
7. जुषेरत।।
   (क) तं देवासो जुषेरत।। ऋ० 1.136.4
   (ख) ब्रह्म सूक्तं जुषेरत।। ऋ० 10.65.14
8. अचक्रिरन्।।
   (क) त्वासा गर्भमचक्रिरन्।। ऋ० 6.20
9. अकृप्रन्।।
   (क) मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्।। ऋ० 4.2.18
   (ख) मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन्।। ऋ० 18.3.23
10. वि अस्थिरन्।।
   (क) द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।।
   ऋ० 1.84.11; पै० 12.1.11

(ख) **वि ते वज्रासो अस्थिरन्।।** ऋ० 1.80.8

11. **अवृत्रन्।।**

(क) **अवृत्रन्कामकातयः।।** ऋ० 8.92.14; तै० 1.4.46.1

12. **अबुध्रम्।।**

(क) **अबुध्रमु त्य इन्द्रवन्तो अग्नयः।।** ऋ० 1.169.2

13. **अयुज्रन्।।**

(क) **अयुज्रन्त इन्द्र विश्वकृष्टीः।।** ऋ० 1.169.2

(ख) **अयुज्रन् प्रातरद्रयः।।** ऋ० 3.41.2; शौ० 20.23.2

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के **अदुह्र, अदुह्रन्, दुह्र, अदृश्रम्, अदृश्रन्, अजुष्रन्, जुवेरत, अचक्रिरन्, अकृप्रन्, वि + अस्थिरन्, अवृत्रन्, अबुध्रम्, अयुज्रन्**, ये प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

183. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 7.1.10

का०- छन्दसि विषये बहुलमैसादेशो भवति। अत इत्युक्तमनतोऽपि भवति नद्यैरिति। अतो न भवति- देवेभिः सर्वेभिः प्रोक्तमिति।।

सि०- अतो भिस् ऐस् (7.1.9)। बहुलं छन्दसि (7.1.10)। अग्निर्देवेभिः (ऋ० 3.3.6)।।

लौकिक संस्कृत में अकारान्त अङ्ग के बाद भिस् (तृतीया बहुवचन) का ऐस् आदेश होता है, यह आदेश **'अनेकाल्शित्सर्वस्य'** (अष्या० 1.1.55) परिभाषा से सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर होता है। जैसे-देव + भिस् = (ऐस्) = **देवैः।।** इससे अग्रिम सूत्र **'बहुलं छन्दसि'** (अष्या० 7.1.8) की तथा **'अङ्गस्य'** (अष्या० 6.4.1) की अनुवृत्ति आती है। उसका अर्थ इस प्रकार है- वेद विषय में अकारान्त अङ्ग से उत्तर बहुल करके भिस् को ऐस् हो जाता है जहाँ होना चाहिये वहाँ नहीं भी होता है और जहाँ नहीं होना चाहिये वहाँ हो भी जाता है, बहुल से यही अभिप्रेत है। नहीं होना चाहिए अनकारान्त अङ्ग से उत्तर जैसे- **नद्यैः** पुनरपि हो जाता है। अकरान्त से उत्तर जैसे नहीं भी होता है- **कर्णेभिः, देवेभिः, सर्वेभिः।।** इस सूत्र पर भाष्यकार का वचन अवलोकनीय है। 'इदं

द्विः क्रियते एवं शक्यमकर्त्तुम्'।। इदं 'बहुलं छन्दसि' ति द्विः क्रियते एकं शक्यमकर्त्तुम्।। कथम्? यदि तावत्पूर्वं क्रियते परं न करिष्यते, 'अतो भिस् ऐस्' इत्यत्र 'बहुलं छन्दसि' त्येतदनुवर्तिष्यते।। अपर आह-।। उभे बहुलग्रहणे एकं छन्दोग्रहणं शक्यमकर्त्तुम्।। उभे बहुलग्रहणे एकं छन्दोग्रहणं शक्यमकर्त्तुम्।। कथम्? इदमस्ति 'वेत्तुर्विभाषा'।। ततः 'छन्दसि'।। छन्दसि च विभाषा। ततः (अतो भिस् ऐस्।) अतो भिस ऐस् भवति। छन्दसि विभाषेति।।

वेद संहिताओं से प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग उद्धृत हैं-

1. अदब्धेभिः।।
   (क) अदब्धेभिः प्रायुभिः पाह्यस्मान्।। ऋ० 1.85.1
   (ख) अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वम्।।
   ऋ० 6.7.13; मा० 33.69.84; का० 32.5.15; तै० 1.4. 24.1; मै० 1.3.27; काठ० 4.10
   (ग) अदब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिः।। शौ० 17.1.9
2. अदृपितेभिः।।
   (क) अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टे।। ऋ० 1.143.8
3. देवेभिः।।
   (क) देवो देवेभिरा गमत्।। ऋ० 1.1.5
   (ख) देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंसस।। ऋ० 1.159.1।।
   (ग) देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः।। ऋ० 1.1.59.1
   (घ) गमद्देवेभिरा स नः।। ऋ० 3.13
   (ङ) अग्ने विश्वेभिरा गहि।। ऋ० 26.4
   (च) सजूर्देवेभिरवरैः परैश्च।। मा० 7.5; का० 7.2.2
   (छ) परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।। मा० 17.29; का० 18.3.5
   (ज) त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः समुद ङ्गणः।। मा० 26.24।।
   (झ) विश्वेभिर्देवेभिः पृतना जयामि।। तै० 3.5.3.2
   (ञ) स्यूता देवेभिरमृतेनागात्।। मौ० 2.7.16

(ट) परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।। काठ० 18.1

(ठ) देवेभिर्मानुषे जने।। कौ० 1.2; 2.14.74; जै० 1.12

(ड) देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।। कौ 1.5.26; 2.13.99

(ढ) देवेभिर् मध्या गिरः।। जै० 4.24.9

(ण) देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे।। शौ० 3.12.5

(त) उप मा देवीर्देवेभिरेत।। शौ० 6.79.2

(थ) यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः।। शौ० 20.6.3

(द) या चेषितासुरैर् देवेभिर् इषिता च या।। पै० 5.26.9

4. पूर्वेभिः।।

(क) अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।। ऋ० 1.1.2

(ख) पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।।

ऋ० 10.96.5; शौ० 20.30.5

(ग) सत्यं पूर्वेभिर्ऋषिभिश्चाक्लृपानः।। काठ० 39.3

5. भद्रेभिः।।

(क) उषो भद्रेभिरा गाहि।। ऋ० 1.49.1

6. मानुषेभिः।।

(क) नूनं भगो हव्यो मानुषेभिः।। ऋ० 10.125.5

(ख) जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।। ऋ० 1.157.6

7. भेषजेभिः।।

(क) युवं हस्थो भिषजा भेषजेभिः।। ऋ० 1.157.6

(ख) शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।। ऋ० 2.33.2

(ग) वीरां वीरे भेषजेभिः।। पै० 1.85.1

(घ) वीरां ईरय भेषजेभिर्।। पै० 15.20.3

8. शंतमेभिः।।

(क) त्वादत्तेभिः रुद्र शंतमेभिः।। ऋ० 2.33.2

(ख) त्वज्जातेभिः रुद्र शंतमेभिश्।। पै० 15.20.1

9. नक्षत्रेभिः ।।

(क) नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।।

ऋ० 10.68.11; शौ० 20.16.11

10. शिवेभिः ।।

(क) गुहां चरन्तं सखिभिः शिवेभिः ।।

ऋ० 3.1.9

(ख) शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम् ।।

ऋ० 6.71.3; मा० 33.69.84; का० 32.5.15; 6.15; तै० 1.4.24.1

(ग) शिवेभिः पाहि पायुभिः ।। ऋ० 8.60.8

(घ) शिवेभिरार्चिभिष्ट्वम् ।।

मा० 12.32; का० 13.3.3; काठ० 16.10

(ङ) शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे ।। मा० 27.7

(च) देवं इदेषि पथिभिः शिवेभिः ।। मै० 1.2.15

(छ) स्वर्गं याहि पथिभिश् शिवेभिः ।। पै० 3.32.7

(ज) देवाँ अभीतं पथिभिश् शिवेभिर् ।। पै० 13.5.8

वेदों में इस सूत्र के अनेक प्रयोग हैं, हमने कतिपय ही उद्धृत किये हैं ।।

184. नेतराच्छन्दसि ।। अष्टा० 7.1.26

का०- इतरशब्दादुत्तरयोः स्वमोश्छन्दसि विषयेऽद्डादेशो न भवति ।। मृतमितरमाण्डमवापद्यत (मै० सं० 1.6.12)। वार्घ्नमितरम्। छन्दसीति किम्? इतरत् काष्ठम्। इतरत् कुड्यम्। 'अतोऽम्' (7.1.2) इत्यस्मादनन्तरमितराच्छन्दसीति वक्तव्ये नेतराच्छन्दसीति वचनं योगविभागार्थम्। एकतराद्धि सर्वत्र छन्दसि भाषायां प्रतिषेध इष्यते। एकतरं तिष्ठति, एकतरं पश्येति ।।

सि०- स्वमारदड् न वार्घ्नमितरम्। छन्दसि किम्? इतरत्काष्ठम् ।।

प्रस्तुत सूत्र में **'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः'** (अष्ट्या० 7.1.25) से **'अद्ड्'** की **'स्वमोर्नपुंसकात्'** (अष्ट्या० 7.1.23) से **'स्वमोः'** की तथा पूर्ववत् **अङ्गस्य** की अनुवृत्ति आ रही है। लौकिक संस्कृत में डतरादि (डतर प्रत्ययान्त, डतम प्रत्ययान्त, अन्य अन्यतर एवं इतर) - पाँच सर्वनामों के बाद सु तथा अम् प्रत्यय को अद्ड् (अत्) आदेश नहीं होता है। किन्तु वेदविषय में इतर शब्द से उत्तर सु तथा अम् के स्थान में अद्ड् (अत) आदेश नहीं होता है। पूर्वसूत्र **'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः'** (अष्ट्या० 7.1.25) से प्राप्ति थी, किन्तु वेद-विषय में निषेध कर दिया। पुनः **'अतोऽम्'** (अष्ट्या० 7.1.24) से अम् आदेश ही होगा। उदा०- **मृतमितरमाण्डमवापद्यत। वार्त्रघ्नमितरम्।** इनमें 'इतर' से 'सु' तथा अम् का 'अद्ड्' न होकर **'अतोऽम्'** (अष्ट्या० 7.1.24) से 'अम्' और पूर्वरूप ही हुआ है। छन्दसि क्यों कहा गया? **इतरत् काष्ठम्। इतरत् कुड्यम्**- लोक में तो **'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः'** (अष्ट्या० 7.1.25) से अद्ड् आदेश होगा ही। **'अतोऽम्'** (अष्ट्या० 7.1.24) इसके बाद 'इतर शब्द से वेद में होता है', ऐसा करना चाहिए था। **'नेतराच्छन्दसि'** यह प्रस्तुत सूत्र योगविभाग के लिए है। इस कारण 'न' यह अलग सूत्र बन जाता है। एकतर शब्द से सर्वत्र = लोक तथा वेद में प्रतिषेध इष्ट है। अर्थात् सु अम् का अद्ड् नहीं होता है। उदा०- **एकतरं तिष्ठति। एकतरं पश्य।** इसमें डतर होने पर भी प्रतिषेध के कारण अद्ड् न होकर अम् ही आदेश किया जाता है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **इतरम्।।**

    (क) **इममं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।।**

    ऋ० 10.16.10; शौ० 12.2.7

    (ख) **सोमं शोधयेत्येव ब्रूयाद्यदीतरम्।।** तै० 6.1.9.1

    (ग) **यदीतरमुभयेनैव।।** तै० 6.1.9.2।।

    (घ) **नेतरमुपनमति।।** मै० 1.4.11

    (ङ) **मृतमितरमाण्डमवापद्यत।** मै० 16.12

    (च) **ताभिरेवेतरं व्यूहति।।** मै० 2.2.5

(छ) यद्यस्यास्तज्जन्म यदि वेतरं तत् कामाय।। मै० 2.5.2

(ज) स सम्राडभवदथेतरं त्रेधा व्यगृह्णत।। मै० 4.5.9

(झ) निर्ऋतिर्वेत्तु स्वाहेत्यथेतरं पुनः।। काठ० 13.5

(ञ) तं तदिष्टं गच्छति नेतरमुपनमति।। काठ० 31.1

(ट) अथास्येतरमात्मान देवाः प्रायच्छन्नग्नये।।

शौ० 11.10.31

(ठ) तथास्येतरम् आत्मानं देवा प्रायच्छन्न अग्नये।।

पै० 13.88.2

(ड) उत्तमो हि प्राणो यदीतरं यदीतरमुभयमेवाजामि।।

तै० 6.3.10.5

इस सूत्र के वेदों में 'इतरम्' पद के चौदह प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

185. क्त्वापिच्छन्दसि।। अष्टा० 7.1.38

का०- समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वा इत्येतस्य क्त्वा इत्ययमादेशो भवति, अपिशब्दाल्ल्यबपि भवति छन्दसि विषये। कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा (काठ० सं० 11.10)। प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा (शौ०सं० 12.2.55)। ल्यबपि भवति-उद्धृत्य जुहुयात् (काठ० 6.6)। वा छन्दसीति नोक्तं सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम्। तेनासमासे ल्यब् भवति। अर्च्य तान् देवान् गतः। छन्दोधिकार 'आज्जसेरसुक्' (7.1.50) इति यावत्।।

सि०- समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (7.1.37)। क्त्वापिच्छन्दसि (7.1.38)। यजमानं परिधापयित्वा।।

प्रस्तुत सूत्र में 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (अष्टा० 7.1.37) की अनुवृत्ति आ रही है। लोक में नञ् से भिन्न पूर्व अवयव है जिसमें, ऐसे समास में क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश होता है, यथा- प्रकृत्य प्रहृत्य। वेदविषय में अनञ्पूर्ववाले समास में क्त्वा के स्थान में क्त्वा आदेश होता है, तथा ल्यप् आदेश भी। यथा- कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा- परि + धा + णिच्। 'अर्त्तिह्रीब्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौ' (अष्टा० 7.3.36) से

(पुगागम) + क्त्वा = **परिधापयित्वा। प्रत्यर्पयित्वा।** प्रति उपसर्ग के साथ भी ल्यप् नहीं हुआ है। ल्यप् भी होता है- **उद्धृत्य जुहुयात्।** उत् + हृ + क्त्वा = ल्यप्, तुक् आगम। **'झयो होऽन्यतरस्याम्'** (अष्या० 8.4.62) से 'ह' का धकार होता है। **'वाच्छन्दसि'** (वेद में विकल्प से होता है।) ऐसा नहीं कहा गया सभी उपाधियों के व्यभिचार के लिये। इसलिए असमास में भी ल्यप् होता है। **अर्च्य तान् देवान् गतः।** छन्दसि पद का अधिकार। **'आज्जसेरसुक्'** (अष्या० 7.1.50) सूत्र तक चलेगा।।

वेदसंहिताओं में प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **परिधापयित्वा।।**

    (क) **यजमानं परिधापयित्वान्वारम्भयित्वैतानि जुहोति।।**

    काठ० 11.10

2. **प्रत्यर्पयित्वा।।**

    (क) **प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान्पन्थां विह्या विवेश।।** शौ० 12.2.55

    (ख) **प्रत्यञ्चम् अर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्य् आ चकार।।**

    पै० 17.35.4

3. **ग्राहयित्वा।।**

    (क) **भ्रातृव्यं ग्राहयित्वा विष्णुना यज्ञेन प्रणुदत।।**

    तै० 2.1.4.4; 5

    (ख) **वरुणेनैव भ्रातृव्यं ग्राहयित्वा ब्रह्मणास्तृणुते।।**

    तै० 2.1.8.2

    (ग) **तान् वै वरुणेनैव ग्राहयित्वा विष्णुना यज्ञेन प्राणुदत।।**

    मै० 2.5.3

    (घ) **यद्वारुणो वरुणेनैवैनं ग्राहयित्वा स्तृणुते।।**

    मै० 2.5.6; 11

4. **विर्वतयित्वा।।**

    (क) **यदुच्छिष्टे विवर्तयित्वा समिध आदधाति।।** मै० 1.6.12

5. समीरयित्वा।।
   (क) यावानेव पुरुषस्तं समीरयित्वा ऽयं वाव।। मै० 2.3.5
6. वर्धयित्वा।।
   (क) क्षेमे पशून् बहुलान् वर्धयित्वा।। पै० 4.27.2
7. शमयित्वा।।
   (क) एनं शमयित्वा परानभि निर्दिशति।। मै० 2.2.2.4
   (ख) अथो शमयित्वैवाशिषमाशास्ते।। मै० 3.2.2
   (ग) भागधेयेन शमयित्वाथ।। मै० 3.2.4
   (घ) सर्वा एव शुचश्शमयित्वा रुचमात्मन् धत्ते।। काठ० 7.6

इस सूत्र के सोलह प्रयोग वेदों में प्रयुक्त हुए हैं।।

186. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः।। अष्टा० 7.1.39

का० - छन्दसि विषये सुपां स्थानं सु लुक् पूर्वसवर्ण आ आत् शे या डा ड्या याच् आल् इत्येत आदेशा भवन्ति। सु-अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः। (ऋ० 10.85.23)। पन्थान इति प्राप्ते। सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्।। धुरि दक्षिणायाः। (ऋ० 1.16.4.9) दक्षिणायामिति प्राप्ते।। तिङां तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्।। चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति (ऋ० 1.126.6)। तक्षन्तीति प्राप्ते। लुक्- आर्द्रे चर्मन् (तै० सं० 7.5.9.3)। लोहिते चर्मन् (काठ० सं० 24.2)। चर्मणीति प्राप्ते। हविर्धाने यत् सुन्वन्ति तत् सामिधेनीरन्वाह। यस्मिन् सुन्वन्ति तस्मिन् सामिधेनीरिति प्राप्ते। पूर्वसवर्णः-धीती (ऋ० 1.164.8)। मती (ऋ० 1.82.2)। सुष्टुती (ऋ० 2.32.4)। धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते। आ- द्वा यन्तारा (तै० सं० 4.6.9.3)। द्वौ यन्तारो इति प्राप्ते। आत्- न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि। न तान् ब्राह्मणानिति प्राप्ते। शे -न युष्मे वाजबन्धवः। (ऋ० 8.68.19)। अस्मे इन्द्राबृहस्पती। (ऋ० 4.49.4)। यूयं वयमिति

प्राप्ते। यूयादेशो वयादेशश्च छान्दसत्वाद् न भवति। या उरुया (मै० सं० 2.7.8)। धृष्णुया (ऋ० 1.23.11)। उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते। डा- नाभां पृथिव्याम् (शौ० सं० 7.62.1)। नाभौ पृथिव्यामिति प्राप्ते। ड्या-अनुष्ट्या च्यावयतात्। अनुष्टुभेति प्राप्ते। याच्-साधुया (ऋ० 10.66.12)। साध्विति सोर्लुकि प्राप्ते। आल्-वसन्ता यजेत (मै० सं० 2.1.4)। वसन्त इति प्राप्ते।। इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्।। इया- उर्विया परि ख्यन् (ऋ० 10.10.2)। दार्विया परिज्मन्। उरुणा, दारुणेति प्राप्ते। डियाच्-सुक्षेत्रिया (ऋ० 1.97.2), सुगात्रिया। सुक्षेत्रिणा सुगात्रिणेति प्राप्ते। ईकारः-दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् (ऋ० 7.103.2)। सरसि शयानमिति प्राप्ते।। आङ्याजयारामुसंख्या- नम्।। आ (ङ) प्र बाहवा (ऋ० 2.38.2)। प्रबाहुनेति प्राप्ते। अयाच्- स्वप्नया सचसे जनम् (शौ० सं० 5.7.8)। स्वप्नेनेति प्राप्ते। अयार्-सिन्धुमिव नावया (ऋ० 1.97.8)। नावेति प्राप्ते।।

सि०-ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० 10.85.23)। पन्थान इति प्राप्ते सुः। परमे व्योमन् (ऋ० 1.129.7)। व्योमनीति प्राप्ते ङेर्लुक्। धीती मती सुष्टुती। धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसर्वणदीर्घः। या सुरथा रथीततमोभा देवा दिविस्पृशा अश्विना (ऋ० 1.22.2)। यौ सुरथो रथीतमौ दिविस्पृशावित्यादौ प्राप्ते आ। नताद् ब्राह्मणम्। नतमिति प्राप्ते। आत् (या देव विद्म ता त्वा। यमिति प्राप्ते।) न युष्मे वाजबन्धवः (ऋ० 8.68.19)अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० 4.48.4) युष्मासु अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे। उरुया। धृष्णुया। उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या। नाभा पृथिव्याः (ऋ० 1.143.4)। नाभौ इति प्राप्ते डा। ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात् (ऐ० बा० 2.6.15)। अनुष्ठानमनुष्ठा। व्यवस्थावदङ्। आङो ड्या। साधुया- साध्विति प्राप्ते याच्। वसन्ता यजेत। वसन्ते इति प्राप्ते आल्।। इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्।। उर्विया। दाविया। दार्विया। उरुणा, दारूणेति प्राप्ते इया। सुक्षेत्रिया।

सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच्। दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् (ऋ० 7.103.2) ङेरीकार इत्याहुः। तत्राद्युदात्ते पदे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तता। वस्तुतस्तु ङीषन्तात् ङेर्लुक। इकारादेशस्य तूदाहरणान्तरं मृग्यम्।। आङयाजयारामुपसंख्यानम्।। प्र बाहवा सिसृतम् (ऋ० 2.38.2)। बाहुनेति प्राप्ते आङादेशः। 'घेर्ङिति' (7.3.111)। इति गुणः। स्वप्नया (शौ० सं० 5.7.8)। स्वप्नेनेति प्राप्तेऽयाच्। स नः सिन्धुमिव नावया (ऋ० 1.97.8)। नावेति प्राप्तेऽयार। रित्स्वरः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**क्त्वापि छन्दसि**' (अष्टा० 7.1.38) से '**छन्दसि**' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में सुपों के स्थान में सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा ड्या, याच, आल, ये आदेश होते हैं। उदा०-**अनृक्षराः ऋजवः सन्तु पन्थाः**। यहा **पन्थानः** अपेक्षित है, '**पन्थाः**' में जस् (सुप्) के स्थान में 'सु' आदेश हो गया है। अतः बहुवचन में भी सु ही होता है।। सुपों के सुप् आदेश होते हैं। ऐसा कहना चाहिए।। **धुरि दक्षिणायाः**। यहां '**दक्षिणायाम्**' ऐसा सप्तमी विभक्ति का रूप प्राप्त था, किन्तु ङि के स्थान पर ङस् यह सुप् आदेश हो जाता है।। तिङ् आदेश होते है- ऐसा कहना चाहिए।। **चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**। यहाँ '**तक्षन्ति**' प्रथमपरुष बहुवचन ऐसा प्राप्त रहते '**झि**' के स्थान पर '**ति**' होता है।। **लुक्-आर्द्रे चर्मन्, लोहिते चर्मन्**। यहाँ '**चर्मणि**' ऐसा प्राप्त रहते 'ङि' का लुक् होता है। **हविर्धाने यत् सुन्वन्ति तत्सामिधेनीरन्वाह**। यहाँ '**यस्मिन् सुन्वन्ति**' और '**तस्मिन् सामिधेनीः**' ऐसा रूप प्राप्त रहते ङि का लुक् होता है। **पूर्वसवर्णदीर्घ-धीती। मती। सुष्टुती**। यहाँ तृतीया विभक्ति के एकवचन में टा = आ परे रहते **धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या** रूप प्राप्त रहते यण् न होकर पूर्वसवर्णदीर्घ होता है। **आ-द्वा यन्तारा**। वस्तुतः यहाँ '**दौ यन्तारौ**' ऐसा रूप प्राप्त है। औ का आ आदेश करने पर उक्त रूप बनते हैं। **आत्- न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि**। यहाँ '**तान् ब्राह्मणान्**' ऐसा रूप प्राप्त है, '**आत्**'- आदेश करने पर उक्त रूप बनता है। **शे- युष्मे वाजबान्धवः। अस्मे इन्द्राबृहस्पती**। यहाँ क्रमशः '**यूयम्**' मध्यमपुरुष बहुवचन '**वयम्**' उत्तम पुरुष बहुवचन (वस्तुतः यहाँ '**युष्मासु**' 'अस्मभ्यम्') रूप प्राप्त रहते युष्मे

अस्मे रूप होते हैं। इनमें 'जस्' सम्पूर्ण का आदेश करने के लिए 'शे' इसके शकार की इत्संज्ञा है। (टिलोप हो जाने पर युष्म + ए, अस्म + ए) छान्दस पद होने से यूयं वयं आदेश नहीं होते हैं। या- उरुया। **धृष्णुया** - यहाँ 'टा' के स्थान में याच् हुआ है। डा- **नाभा पृथिव्याम्**। नाभि शब्द से परे 'ङि' को 'डा' आदेश होकर **नाभा** बनता हैं। यहाँ **'नाभौ पृथिव्याम्'**- ऐसा रूप प्राप्त था।। ड्या- **अनुष्ट्योऽच्च्यावतात्**। अनुष्टुप् से परे 'टा' का ड्या आदेश एवं टिलोप होकर अनुष्ट्या बना है। यहाँ **'अनुष्टुभा'** ऐसा रूप प्राप्त था। **याच्- साधुया**। साधु शब्द से परे प्रथमा एकवचन सु को याच् आदेश होकर **साधुया** बना। यहां **'साधु'** शब्द प्राप्त है। **आल्- वसन्ता यजेत**। यहाँ **'वसन्ते'** ऐसा शब्द प्राप्त है। किन्तु 'ङि' के स्थान में आल् आदेश होकर **'वसन्ता'** रूप बना। इया तथा डियाच् और ईकार आदेश करना चाहिए। **उर्विया परिख्यन्। दर्विया**। ये दोनों **'इया'** के प्रयोग हैं। इनमें **'उरुणो' 'दारुणा'** इन रूपों के प्राप्त रहते **'इया'** आदेश।। **डियाच्- सुक्षेत्रिया। सुगात्रिया**। यहाँ **'सुक्षेत्रिणा' 'सुगात्रिणा'** रूप प्राप्त थे, किन्तु डियाच् आदेश। **ईकार-'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्'** यहाँ **'सरसि'** रूप प्राप्त था, किन्तु इकार आदेश।। **आङ्, अयाच्** और **अयार** - का उपसंख्यान करना चाहिए।। **उदा०-आङ्- प्र बाहवा**। यहाँ **'प्र बाहुना'** रूप प्राप्त था, किन्तु टा का आङ् आदेश ङित् होने **'घेर्ङिति'** (अष्टा० 6.3.111) से 'उ' का गुण अवादेश **प्र बाहव् आ = प्र बाहवा। अयाच्-स्वप्नया सचसे जनम्**। यहाँ **'स्वप्नेन'** ऐसा रूप प्राप्त रहते अयाच् करने पर स्वप्न + अया, अ का **'अतो गुणे'** (अष्टा० 6.1.17) से पररूप। **अयार-सिन्धुमिव नावया**। यहां **'नवा'** ऐसा रूप प्राप्त है, टा का **'अयार'** नौ + अया, आव् आदेश होकर **नावया**।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के बहुशः प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **पन्थाः।।**

   (क) **ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः**।। ऋ० 1.35.11

   (ख) **प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्**।। मा० 19.90

   (ग) **यो देवयानः पन्थास्तेन यज्ञः**।। तै० 1.6.3.2

   (घ) **त्वं पन्था भवसि देवयानः**।। मै० 2.13.22

   (ङ) **यो देवयानः पन्थास्तेन गच्छ**।। काठ० 5.3

(च) सुगातो गातोत? स पन्थाः।। पै० 1.51.1

2. दक्षिणायाः।।

(क) पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्य।। ऋ० 1.123.1

(ख) एतद्योनिमालब्ध दक्षिणायाश्चात्मानम्।। मै० 3.6.8

(ग) दक्षिणाया वै वृद्धिं यजमानोऽनुवर्धत।। काठ० 8.8

(घ) प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम।। शौ० 6.58.1

(ङ) युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः।। पै० 16.66.9

(च) प्रियो दातुर् दक्षिणायास् स्याम् अहम्।। पै० 19.10.6

प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोगवश हम इतने ही दिखा रहे हैं।।

187. अमो मश्।। अष्टा० 7.1.40

का०- अम् इति मिबादेशो गृह्यते। तस्य छन्दसि विषये मशादेशो भवति। वधीं वृत्रम् (ऋ० 1.165.8)। क्रमीं वृक्षस्य शाखाम्। लुङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (6.4.75) इत्यडागमाभावः। शित्करणं सर्वदेशार्थम्। मकारस्यापि हि मकारवचनमनुस्वार निवृत्त्यर्थं स्यात्।।

सि०- मिबादेशस्यामो मश् स्यात्। अकार उच्चारणार्थः शित्त्वात्सर्वादेशः 'अस्तिसिचः'.....(7.3.96) इति ईट्। वधीं वृत्रम् (ऋ० 1.165.8)। 'अवधिषम्' इति प्राप्ते।।

इस सूत्र में 'छन्दसि' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। वेद-विषय में 'अम्' के स्थान में मश् आदेश होता है। 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (अष्या० 3.4.101) से जो मिप् के स्थान में अम् आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है। मश् में अकार उच्चारणार्थ है तथा शित्करण सर्वादेशार्थ 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (अष्या० 1.1.54) के लिये है। हन् + लुङ् (मिप् + अम्)। हन् को वध आदेश 'हनो वध लिङि' (अष्या० 2.4.42), 'लुङि च' (अष्या० 2.4.43) से हन् के स्थान पर हो गया। अट् + वध् + इट् + सिच् + ईट् + मश्। 'इट ईटि' (अष्या० 8.2.28) से स् का लोप 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (अष्या० 6.4.75) से अट् का लोप होकर वध इ ई म् = वधीम्। लौकिक संस्कृत में

'**अवधिषम्**' बना क्योंकि वहाँ ईट् नहीं लगता वहाँ अम् रहता है, जो अपृक्त नहीं है। इसी प्रकार '**क्रमीम्**'। यह लुङ् उत्तम पुरुष का रूप है। शित् करना '**अनेकाल्शित्सर्वस्य**' (अष्टा० 1.1.54) से सम्पूर्ण का आदेश करने के लिये है। मकार का भी मकार आदेश करना अनुस्वार की निवृत्ति के लिये हो सकता है। अतः शित् आवश्यक है।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं, यथा-

1. **वधीम्**।।

 (क) **वधीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण**।।

 ऋ० 1.165.8; मै० 4.11.3; काठ० 9.18

2. **क्रमीम्**।।

 (क) **अन्यन्नद्ऽययो क्रमीम्**।। पै० 5.31.6

 (ख) **यस् त्वे ग ग यास्य क्रमीम्**।। पै० 20.59.3

188. लोपस्त आत्मनेपदेषु।। अष्टा० 7.1.40

का०- आत्मनेपदेषु यस्तकारस्तस्य छन्दसि विषये लोपो भवति। देवा अदुह्र (मै० सं० 4.2.13)। गन्धर्वाप्सरसो अदुह्र (मै० सं० 4.2.13)। अदुहतेति प्राप्ते। दुहामशिवभ्यां पयो अघ्न्येयम् (ऋ० 1.164.27)। दुग्धामिति प्राप्ते। दक्षिणतः पुमान् स्त्रियमुपशये (काठ० सं० 20.6)। शेत इति प्राप्ते। अपीत्यधिकाराद् न भवति - तत्र आत्मानमनृतं कुरुते। आत्मनेपदेष्विति किम्? उत्सं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलम् (तै० ब्रा० 3.7.4.16)।।

सि०-छन्दसि। देवा अदुह्र (मै० सं० 4.2.13)। अदुहतेति प्राप्ते। दक्षिणतः ....शये (काठ०सं० 20.6)। शेते इति प्राप्ते। 'आत्मने'-इति किम्? उत्सं दुहन्ति (तै० ब्रा० 3.7.4.16)।।

पूर्ववत् इस सूत्र में '**छन्दसि**' की अनुवृत्ति आ रही है। आत्मनेपद का जो तकार उसका वेदविषय में लोप हो जाता है। **देवा अदुह्र। गन्धर्वाप्सरसो अदुह्र**''-इनमें '**अदुहत**' यह लोक में प्राप्त रूप था, वेद में '**अदुह्र**' हो गया।

दुह् + लङ्, अट्, अदादिगणीय होने से शप् का लुक् झ के स्थान पर **'आत्मनेपदेष्वनतः'** (अष्टा० 7.1.5) से 'अत्' आदेश। **'बहुलं छन्दसि'** (अष्टा० 7.1.8) से रूट् = र आगम-अदुह् र अत। 'त' का लोप करने पर दोनों अकारों का पररूप - **अदुह्र**। **'दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्'** - लोक में **'दुग्धाम्'** होता है, वेद में **'दुहाम्'** बना। दुह् लोट् = त, **'टित आत्मनेपदानां टेरे'** (अष्टा० 3.4.79) से टि का एत्व 'दुह् ते' आमेतः' (अष्टा० 3.4.90) से 'ए' का आम् दुह् त् आम्, त का लोप = दुहाम्। दक्षिणतः ..... उपशये। लोक में **उपशेते** यह रूप बनता है, किन्तु वेद में **'उपशये'**। शीङ् + लट् = त, टि का एत्व, ई का **'शीङः सार्वधातुके गुणः'** (अष्टा० 7.4.21) से गुण होकर, शे + ते, त् का लोप् शे + ए, ए का अय् आदेश = **शये** बना।। **'क्त्वापि छन्दसि'** (अष्टा० 7.1.38) से 'अपि' की अनुवृत्ति होने से लोप नहीं भी होता है, यथा-**'तत्र आत्मानमनृतं कुरुते'** यहाँ 'त्' का लोप नहीं हुआ है। आत्मनेपद प्रत्ययों में - इसका क्या फल है? **उत्सं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलम्'** - यहाँ **'दुहन्ति'** परस्मैपद के 'त' का लोप नहीं होता है।

वेदों से प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग उद्धृत हैं-

1. **अदुह।।**
   (क) **यद्यदकामयत तत्तददुह।।** मै० 3.3.4
2. **अदुह्र।।**
   (क) **कामदुघाः काममदुह्र।।** मै० 3.3.4
   (ख) **पितरोऽदुह्र रजतेन पात्रेण।।** मै० 4.2.1।।
   (ग) **देवा अदुह्र हरितेन पात्रेण।।** मै० 4.2.13
3. **दुहाम्।।**
   (क) **दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्।।**
   ऋ० 1.164.27; शौ० 7.77.8
   (ख) **मह्यं स्तुतं दुहामा मा स्तुतस्य।।** तै० 3.2.7.1
   (ग) **सा नः पयस्वती दुहाम्।।** काठ० 39.10
   (घ) **सा न पयस्वती दुहाम्।।** पै० 2.22.5
   (ङ) **सहोऽस्मै दुहां शतधारम्।।** पै० 11.5.4

4. शये।।
   (क) शये शयासु प्रयुतो वनानु।। ऋ० 3.55.4
   (ख) दक्षिणतः शय एतद्वै यजमानस्य।। तै० 6.2.5.5
5. उपशये।।
   (क) यद्दक्षिणत उपशय उपशये।। तै० 6.6.4.4

189. ध्वमो ध्वात्।। अष्टा० 7.1.42

का०- छन्दसि विषये ध्वमो ध्वादित्ययमादेशो भवति। अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात् (काठ० सं० 16.21)। वारयध्वमिति प्राप्ते।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। ध्वम् के स्थान में ध्वात् आदेश वेद-विषय में होता है। **वारयध्वात्**। वृङ् अथवा वृञ् धातु से 'हेतुमति च' (अष्या० 3.1.26) से णिच् करके लोट् का **वारयध्वात्** रूप है। वारि शप् ध्वम् = गुण '**पुगन्तलघूपधस्य च**' (अष्या० 7.3.86) से हुआ है। अयादेश तथा प्रस्तुत सूत्र से ध्वम् के स्थान पर ध्वात् आदेश होकर '**वारयध्वात्**' बना। लोक में '**वारयध्वम्**' बनता है।

इस सूत्र का प्रयोग दो स्थलों पर हुआ है।

1. अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्।। काठ० 16.21; ऐ० ब्रा० 2.6.14

190. यजध्वैनमिति च।। अष्टा० 7, 1, 83

का०- यजध्वमित्येतस्य एनमित्येतस्मिन् परतो मकारलोपो निपात्यते वकारस्य च यकारः छन्दसि विषये।यजध्वैनं प्रियमेधाः (ऋ० 8.2.37)। यजध्वमेनमिति प्राप्ते।।

सि०- एनमित्यस्मिन्परे ध्वमोऽन्तलोपो निपात्यते। यजध्वैनं प्रियमेधाः (ऋ० 8.2.37)। 'वकारस्य यकारो निपात्यते' इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दसि' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। '**यजध्वैनम्**' यह शब्द भी वेद-विषय में निपातन किया जाता है। **यजध्वैनम्**। यजध्व + एनम् = 'वृद्धिरेचि' (अष्टा० 6.1.88) वृद्धि होकर **यजध्वैनम्**। यहाँ

'यजध्वमेनम्' प्राप्त है। 'मकार' का लोप हो गया। काशिकाकार ने लिखा है-**'मकारलोपो निपात्यते वकारस्य यकारः'** -'**म**' का लोप और '**व**' का '**य**' - ये दो कार्य निपातन से प्रस्तुत सूत्र से होते है। इस चिन्तन से काशिकाकार के मत में '**यजध्यैनमिति च**' सूत्र होना चाहिये। पदमञ्जरीकार केवल 'म' लोप निपातन को ही मानते है। भट्टोजिदीक्षित ने लिखा- '**वकारस्य यकारो निपात्यते इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी**' अर्थात् काशिकाकार का कथन प्रमाद युक्त है, यतोहि '**व**' का यकार आदेश कहीं प्राप्त नहीं हुआ है। कौमुदी के सुबोधिनी व्याख्याकार जयकृष्णमौनि ने भी काशिकाकार के वचन को दूषित बताया- '**वृत्तिकारस्तु**' '**यजध्यैनमिति पाठं ज्ञात्वा वकारस्य यकारश्च निपात्यत इत्याह। तद्दूषयति-वकारस्येत्यादि। प्रामादिकीति। लक्ष्ये वकारपाठस्य निर्विवादत्वात्, वेदभाष्येऽपि प्रकृतसूत्रस्य मलोपमात्र परतोक्तेश्चेति भावः।।**

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र का मात्र एक ही प्रयोग प्राप्त होता है-

1. यजध्वैनम्।।

   (क) यजध्वैनं प्रियमेधा इन्द्रं सत्राचा मनसा।। ऋ० 8.2.37

191. तस्य तात्।। अष्टा० 7.1.44

का०- तशब्दस्य लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य स्थाने तादित्ययमादेशो भवति। गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतात् (मै० सं० 4.13.4)। कृणुतेति प्राप्ते। ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतात् (मै०सं० 4.13.4) खनतेति प्राप्ते। अस्ना रक्षः संसृजतात् (मै० सं० 4.13.4)। संसृजतेति प्राप्ते। सूर्यं चक्षुर्गमयतात् (मै० सं० 4.13.4)। गमयतेति प्राप्ते।।

सि०-लोटो मध्यमपुरुषबहुवचनस्य स्थाने तात्स्यात्। गात्रमस्यानूनं कृणुतात् (मै० सं० 4.13.4)। कृणुतेति प्राप्ते। सूर्यं चक्षुर्गमयतात् (मै० सं० 4.13.4)। गमयतेति प्राप्ते।

प्रस्तुत सूत्र में '**छन्दसि**' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। 'त' से यहाँ लोट् के मध्यम पुरुष में जो '**तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः**' (अष्टा० 3.4.101) से किया हुआ त आदेश है वह लिया गया है। एवं अर्थ होगा- वेद-विषय में

लोट् मध्यमपुरुष बहुचन का जो त उसके स्थान में तात् आदेश होता है। कृणुतात्। यहाँ '**कृणुत**' यह प्राप्त है, उसके स्थान पर वेद में '**कृणुतात्**' बना। भ्वादिगण में कृवि धातु हिंसा और करण अर्थ में पठित है। इसमें इकार की इत्संज्ञा होने से '**इदितो नुम् धातो**' (अष्या० 7.1.58) से नुम् का आगम अन्तिम अच् (कृव् में ऋ) के बाद होगा। तब कृन्व् ऐसा बनकर ऋ के बाद न् का ण् '**रषाभ्यां नो णः समानपदे**' (अष्टा० 8.4.1) से होकर '**धिन्विकृण्व्योर च**' (अष्टा० 3.1.80) से '**उ**' प्रत्यय तथा वकार का अकार आदेश, यह '**शप्**' का अपवाद है। '**अतो लोपः**' (अष्टा० 6.4.48) से अ लोप होकर **कृणुतात्** बना। लोक में **तात्** आदेश न होने से '**कृणुत**' बनेगा। खनतात्। लोक में तात् न होने '**खनत**'। **संसृजतात्**। लोक में '**संसृजत**'। 'गमयतात्'। लोक में 'गमयत' बनेगा।

प्रस्तुत सूत्र के वेदों में अनेकशः प्रयोग प्राप्त होते हैं–

1. **कृणुतात्**।।

   (क) **यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै**।।
   तै० 5.7.7.2

   (ख) **गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतात्**।। मै० 4.13.4।।

   (ग) **अस्य पदः कृणुतात्**।। काठ० 16.21

   (घ) **गात्रमस्यानूनं कृणुतात्**।। काठ० 16.21

   (ङ) **इष्टापूर्तं कृणुतादाविरस्मै**।। काठ० 40.13

2. **खनतात्**।।

   (क) **ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतात्**।।
   मै० 4.13.4; काठ० 16.21

3. **गमयतात्**।।

   (क) **सूर्यं चक्षुर्गमयताद्**।। मै० 4.13.4; काठ० 16.21

4. **आवहतात्**।।

   (क) **नासत्यावब्रुवन्देवाः पुनरा वहतादिति**।। ऋ० 10.24.5

   (ख) **तेन माम ब्रवीद्भगो जायमा वहतादिति**।। शौ० 6.82.2

5. वारयतात्।।
   (क) अन्तरेवोष्माणं वारयतात्।। मै० 4.13.4
6. वारयतात्/दूषयतात्।।
   (क) विषं वारयताद् इति विषं दूषयताद् इति।। पै० 4.21.7
   (ख) विषं वाययताद् इति विषं दूषयताद् इति।। पै० 19.23.7
7. संसृजतात्।।
   (क) अस्ना रक्षः संसृजतात्।। मै० 4.13.4
   (ख) अस्ना रक्षस्सं सृजतात्।। काठ० 16.21
8. ब्रूतात्।।
   (क) सुभृतकर्म देवेषु नः सुकृतो ब्रूतात्।। तै० 1.4.45.3
   (ख) ते अघ्नियेनामानि सुकृतं मा देवेषु ब्रूतादिति......।।
   तै० 7.1.6.8

192. तप्तनप्तनथनाश्च।। अष्टा० 7.1.45

का०- तस्येति वर्तते। छन्दसि विषये तस्य, स्थाने तप् तनप् तन थन इत्येत आदेशा भवन्ति। तप्- शृणोत ग्रावाणः (तै० स० 1.3.13.1)। शृणुतेति प्राप्ते। सुनोता (ऋ० 7.32.8)। सुनुतेति प्राप्ते। तनप्- सं वरत्रा दधातन (ऋ० 10.101.5)। धत्तेति प्राप्ते। तन-जुजुष्टन (ऋ० 4.36.7)। जुषतेति प्राप्ते। छान्दसत्वात् श्लुः। थन-यदिष्ठन। यदिच्छतेति प्राप्ते। पित्करणमङित्त्वार्थम्।।

सि०- तस्येत्येव। शृणोत् ग्रावाणः (तै० सं० 1.3.13.1)। शृणुतेति प्राप्ते तप्। सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे (ऋ० 5.34.1)। दधातन द्रविणं चित्रमस्मे। तनप्। मरुतस्तज्जुजुष्टन (ऋ० 7.59.9)। जुषध्वमिति प्राप्ते व्यत्ययेन परस्मैपदं श्लुश्च। विश्वे देवासो मरुतो यतिष्ठन। यत्संख्याकाः।। स्थेत्यर्थः। यच्छब्दाच्छान्दसोऽतिः। अस्तेस्तस्य थनादेशः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'तस्य तात्'** (अष्टा० 7.1.44) से **'तस्य'** की तथा पूर्ववत् **'छन्दसि'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में **त** के स्थान में **तप्, तनप्, तन, थन**, ये आदेश भी होते हैं। **'त'** से यहाँ भी पूर्ववत् लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन का ग्रहण किया गया है। **'शृणोत'**। शृणुत के स्थान पर हुआ है। **शृणोत** में **'श्रुवः शृ च'** (अष्टा० 3.1.74) से **'श्नु'** प्रत्यय, एवं शृ आदेश हुआ है। तप् के पित् होने से **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (अष्टा० 1.2.4) से ङितवत् न होने से गुण हो गया है। सुनोत में **'श्नु' 'स्वादिभ्यःश्नु'** (अष्टा० 3.1.73) से विकरण हुआ है। लोक में **सुनुत**। **तनप्-दधातन**। **धत्त**- इसके प्राप्त रहते धा + लोट् = त, जुहोत्यादिगणी होने से शप् का श्लु, द्वित्व, अभ्यास कार्य, दधा + त, त का तनप् पित् आदेश करने से ङित् न होने के कारण **'श्नाभ्यस्तयोरातः'** (अष्टा० 6.4.112) सूत्र से 'आ' का लोप नहीं होता है। लोक में 'त' ङित् होने से आ लोप्-दध् + त, **'दधस्तथोश्च'** (अष्टा० 8.2.38) से अभ्यास दकार का धकार आदेश धध् + त, **'झलां जश् झशि'** (अष्टा० 8.4.53) से ध् का द् **'खरि च'** (अष्टा० 8.4.55) से द् का **'त' धत्त। तन-जुजुष्टन। जुषत (जुषध्वम्)** - ऐसा प्राप्त होने पर वेद में श्लु होता है। व्यत्यय से परस्मैपद, जुष् + लोट् = थ = त, तुदादिगणी होने से 'श' इसका **'बहुलं छन्दसि'** (अष्टा० 2.4.76) से 'श्लु' आदेश। पुनः द्वित्व एवं तन आदेश होकर ष्टुत्व हुआ है। लोक में **'जुषध्वम्'** प्राप्त है, जुष धातु आत्मनेपदी होने से। **थन-यदिष्ठन। यदिच्छत** - ऐसा प्राप्त था, इष् धातु तुदादिगणी है, इष् + लोट् = थ = त, श का लुक्, इष् + त, 'त' का थन, पुनः **ष्टुत्व = इष्ठन**। इनमें पित् करना-अङित्त्व के सम्पादन के लिये है। अतः गुण निषेध न होकर गुण ही होता है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्राप्त प्रयोग निम्न हैं, यथा-

1. **शृणोत।।**

   (क) **शृणोत ग्रावाणो विदुषः।।** तै० 1.3.13.1।।

   (ख) **तृष्टदंश्मा? शृणोत नः।।** पै० 19.20.7

2. **सुनोता।।**

   (क) **सुनोता मधुमत्तमम्।।** ऋ० 9.30.6।।

(ख) सुनोता सोमपावने।। पै० 19.1.5

3. दधातन।।

(क) दधातन द्रविणं चित्रमस्मे।। ऋ० 10.36.13

(ख) श्रदस्मै नरो वचसे दधातन्।। मा० 8.5

(ग) रयिं सर्ववीरं दधातन।। तै० 2.6.12.2

(घ) त न उर्जे दधातन।। पै० 19.45.8

4. जुजुष्टन।।

(क) स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन।। ऋ० 4.36.7

(ख) हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन।।

ऋ० 7.59.9; तै० 4.3.13.3; काठ० 21.13

5. सुनोतन।।

(क) सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे।। ऋ० 5.34.1

193. इदन्तो मसि।। अष्टा० 7.1.46

का०- छन्दसि विषये मसीत्ययं शब्द इकारान्तो भवति। मसः सकारान्तस्य इकारागमो भवति, स च तस्यान्तो भवति। तद्ग्रहणेन गृह्यत इत्यर्थः। पुनस्त्वोद् दीपयामसि (शौ० सं० 12.2.5)। उद्दीपयाम इति प्राप्ते। शलभान् भञ्जयामसि (पै० सं० 5.20.4)। भञ्जयाम इति प्राप्ते। त्वयि रात्रि वसामसि (शौ० सं० 19.47.9)। वसाम इति प्राप्ते।।

सि०-मसीत्यविभक्तिको निर्देशः। इकार उच्चारणार्थः। 'मस्' इत्ययमिकाररूपचरमावयवविशिष्टः स्यात्। मस इगागमः स्मादिति यावत्। नमो भरन्त एमसि (ऋ० 1.1.7)। त्वमस्माकं तव स्मसि (ऋ० 8.92.32)। इमः, स्मः, इति प्राप्ते।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। मस् (सकारान्त शब्द) इत् = इकार अन्त = अवयववाला वेदविषय में हो जाता है अर्थात् मस् को इकार का आगम होता और वह अन्त को होता है। उसके ग्रहण से गृहीत होता है- यह अर्थ है। उदा०-दीपयामसि। लोक में दीपयामः। उत्पूर्वक

'दीपि' णिजन्त से लट्=मस्, उद् दीपि+मस्, शप्, गुण, अय आदेश उद्दीपय + मस् 'अतो दीर्घो यञि' (अष्टा० 7.3.101) से दीर्घ। प्रस्तुत सूत्र से इकार अन्त में आगम हुआ - उद्दीपयामसि। भञ्जयामसि। लोक में भञ्जयामः। वसामसि। वसामः लोक में होता है। भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि लोक में इमः, स्मः होगें।

इस सूत्र के वेदसंहितओं में अनेकशः प्रयोग हैं, यथा-

1. आ इ- आ इमसि एमसि।।

(क) नमो भरन्त एमसि।।

ऋ० 1.1.7; मा० 3.22; का० 3.3.14.तै० 1.5.6.2; कौ० 1.14

(ख) नमो भरन्ता एमसि।। मै० 1.5.3

(ग) नमो भरन्त एमसि।। काठ० 7.1; जै० 1.2.4

(घ) वयं नमो भरन्त एमसीति।। काठ० 7.8

2. क्लृप-कल्पयामसि।।

(क) आक्लान्तं संक्लान्तं स्नाव तकु? ते कल्पयामसि।।

पै० 11.2.7

3. गम्-गमयामसि।।

(क) परमेव परावक्तं सपत्नी गमयामसि।। ऋ० 10.45.4

(ख) परामेव परावतं सपत्नी गमयामसि।। शौ० 3.18.3

(ग) यतो न पुनर् आयासि तत्र त्वा गमयामसि।।

पै० 19.13.17

4. खन्-खनामसि।।

(क) इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।। शौ० 1.34.1

(ख) तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम्।। शौ० 4.4.1

(ग) तां त्वा निपत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि।।

शौ० 6.136.1

(घ) मा ते रिषन् खनिता यस्मै च त्वा खनामसि।। पै० 1.65.3

(ङ) वृषणे त्वा खनामसि।। पै० 4.5.2

(च) यस्मै च त्वा खनामसि।। पै० 9.3.2

5. गृं-गृणीमसि।।

(क) रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि।। ऋ० 1.64.12

(ख) तं ते मदं गृणीमसि।।

ऋ० 8.15.4; कौ० 1.383.2.880; जै० 1.43.3; शौ० 20.61.1

(घ) अग्निं द्वेषो योतवै नो गृणीमसि।। जै० 4:14.9

(ङ) सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि।। शौ० 20.21.2

(छ) तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि।। शौ० 20.73.6

(ज) प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि।। पै० 4.12.5

6. वस्-वासयामसि।।

(क) तं गीर्भिर्वाचमीङ्ख्यं पुनानं वासयामसि।। ऋ० 9.35.5

7. वस्-वसामसि।।

(क) त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिप्यामसि जागृहि।।

शौ० 19.47.9

8. वन-वानयामसि।।

(क) तृतीयम् अश्विनोर् वचस् तेन गां वानयामसि।।

पै० 19.26.10

9. वृत्-वर्तयामसि।।

(क) ये वातस्य प्रफर्वणि तेभिष्टं वर्तयामसि।। पै० 19.2.12

10. वृध-वर्धयामसि।।

(क) ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि।। ऋ० 1.36.11

(ख) घृतेन वर्धयामसि।।

ऋ० 6.16.11; मा० 3.3 का० 3.1.3; कौ० 2.661; जै० 3.2.2

(ग) इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि।। शौ० 19.64.2

11. उत् दीपयामसि (उत दीप्)।।

(क) तत् तव पुनस्त्वोद्दीपयामसि।।

तै० 1.5.3.2; मै० 1.7.1; का० 8.14; 12.2.5

(ख) यत्त्वा क्रुद्धः परोवयेत्याहापह्नुत एवास्मै तत् पुनस्त्वो-द्दीपयामसीति।। तै० 1.5.4.2

12. यजामसि।।

(क) ता वां मित्रावरुणा धारयत्क्षिती सुषुम्नेषितत्वता यजा-मसि।।

ऋ० 10.132.2

(ख) पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि।।

ऋ० 10.172.2

13. उप स्पृश (उपस्पृशामसि)।।

(क) ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि।। ऋ० 10.137.7

14. भरामसि।।

(क) तद्देवेभ्यो भरामसि।।

मा० 12.104; का० 13.7.3; तै० 4.2.7.1; मै० 2.7.14; काठ०16.14; पै० 15.2.7

(ख) वधुमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि।।

शौ० 9.3.24; पै० 16.41.2

194. क्त्वो यक्।। अष्टा० 7.1.44

का० - क्त्वा इत्येतस्य यगागमो भवति छन्दसि विषये। दत्त्वाय (ऋ० 10.85.33) सविता धियः। दत्त्वेति प्राप्ते। 'क्त्वापिच्छन्दसि' (7.1.38) इत्यस्यानन्तरमिदं कस्माद् नोच्यते? समास इति तत्रानुवर्तते।।

सि०- दिवं सुपर्णो गत्वाय (ऋ० 8.100.8)।।

इस सूत्र में 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। क्त्वा को यक् आगम

होता है वेद विषय में। **दत्त्वाय।** **दत्त्वा**, यहां **'आद्यन्तौ टकितौ'** (अष्य० 1.1.45) से अन्त में यक् आगम होकर दत्त्वाय बना। लोक में दत्त्वा बनता है। **'क्त्वापि छन्दसि'** (अष्य० 7.1.38) के बाद ही इस सूत्र को क्यों नहीं कहा? उस सूत्र में **'समासे'** की अनुवृत्ति होती है। वह इस सूत्र में भी सम्भव होने पर केवल समास में ही यह आगम हो पाता है। इसी प्रकार गत्वा + यक् = गत्वाय।।

प्रस्तुत सूत्र के वेदों में कतिपय प्रयोगों को हम दिखा रहे हैं-

1. कृत्वाय।।

(क) **कृत्वाय सा महीमुखाम्।।**

मा० 12.59; का० 12.5.10; तै० 4.1.5.4; तै० 2.9.6; काठ० 15.5; 16.6

(ख) **अपराञ्चं प्र हिणोमि नम कृत्वाय तक्मने।।**

पै० 13.1.5

2. गत्वाय।।

(क) **दिवं सुपर्णो गत्वाय।।** ऋ० 8.100.8

(ख) **सूर्यो दिवमिव गत्वाय।।** शौ० 20.128.5

3. जग्ध्वाय।।

(क) **स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते।।**

ऋ० 10.146.5

4. तत्त्वाय।।

(क) **युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।।**

मा० 11.1; का० 12.1.2; तै० 4.1.1.1; मै० 2.7.1; काठ० 15.11

5. दत्त्वाय।।

(क) **सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन।।** ऋ० 10.85.33

(ख) **दत्त्वायास्मभ्यं द्रविणेह भद्रम्।।** काठ० 5.3; 9.6

6. दृष्ट्वाय।।

(क) **स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवम्।।** ऋ० 10.34.11

7. वृत्वाय।।

(क) भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्।। मा० 11.19

(ख) भूमेर्वृत्वाय नो ब्रूहि।।

का० 12.2.8; तै० 4.1.2.3; मै० 2.7.2;
का० 16.2

8. हित्वाय।।

(क) हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः।।

ऋ० 10.14.8

9. हत्वाय।।

(क) हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद।।

ऋ० 10.84.2; शौ० 4.31.2

(ख) हत्वाय देवा असुरान्यदायन्।।

ऋ० 10.15.4; शौ० 20.63.2; 20.125.5

195. इष्ट्वीनमिति च।। अष्टा० 7.1.48

का०- इष्ट्वीनमित्ययं शब्दो निपात्यते छन्दसि विषये। यजेःक्त्वा-प्रत्ययान्तस्य ईनमादेशोऽन्त्यस्य निपात्यते। इष्ट्वीनं देवान्। इष्ट्वा देवानिति प्राप्ते। पीत्वीनमित्यपीष्यते। चकारस्यानुत्तफ-समुच्चयापर्थत्वात् सिद्धम्।।

सि०- क्त्वाप्रत्ययस्य ईनमन्तादेशो निपात्यते। इष्ट्वीनं देवान्। इष्ट्वा इति प्राप्ते।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दसि' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। इष्ट्वीनम् यह क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द भी वेद विषय में निपातन किया जाता है। इष्ट्वीनम्। यज + क्त्वा (ईनम्) 'वचिस्वपियजादीनां किति' (अष्य० 6.1.15) से सम्प्रसारण तथा 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' (अष्टा० 8.2.36) से ज के स्थान में ष्- इष् त्वीनम्- 'ष्टुना ष्टुः' (अष्य० 8.4.41) से त् का ट-इष्टवीनम्। लोक में इष्ट्वा रूप बनता।।'पीत्वीनम्' यह भी इष्ट

है। सूत्र में चकार अनुक्त के समुच्चय के लिए है इस कारण **'पीत्वीनम्'** यह भी सिद्ध है। अतिरिक्त वचन की आवश्यकता नही है।

सूत्रकार का अभिप्राय वेदविषय में **'इष्टवीनम्'** पद निपातन से सिद्ध करना है। यतोहि लोक में **'इष्ट्वा'** रूप क्त्वा प्रत्ययान्त बनता है। किन्तु अन्वेषणोपरान्त ज्ञात हुआ कि प्राप्त वेदसंहिताओं में क्वचिदपि **'इष्टवीनम्'** पद का प्रयोग ही नहीं हुआ है। हाँ, **'इष्ट्वा'** पद तै० 1.7.6.7; 2.5.6.1; 2. 6.1.6; 3.2.7.3; 3.4.1.4; 6.1.5.2; 6.1.5.3; काठ० 11.2; 12.6; 35.18; 36.3; क० 48.16; शौ० 9.9.2; 4; 6; 8; 12.2.54; पै० 16.114.1-4; 120.2; 17.35.2;- इन स्थलों पर अवश्य प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है विलुप्त संहिताओं में यह सूत्र कार्य करता हो, जो आचार्य के समय विद्यमान रही होगीं।।

196. स्नात्व्यादयश्च।। अष्टा० 7.1.49

का०- स्नात्वी इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते छन्दसि विषये। स्नात्वी मंलादिव (मै० सं० 3.11.10)। स्नात्वेति प्राप्ते। पीत्वी सोमस्य वावृधे (ऋ० 3.40.7)। पीत्वेति प्राप्ते। प्रकारार्थोऽयमादिशब्दः।।

सि०- आदिशब्दः प्रकारार्थः। आकारस्य ईकारो निपात्यते। स्विन्नः स्नात्वी मलादिव (मै० 3.11.10)। पीत्वी सोमस्य वावृधे (ऋ० 3.40.7)। स्नात्वा पीत्वा इति प्राप्ते।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **'छन्दसि'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में **स्नात्वी** आदि शब्द भी निपातन किये जाते हैं। ईकार अन्तादेश ही यहाँ निपातन है। उदा०- **स्नात्वी**। **स्नात्वा** रूप प्राप्त होने पर यहाँ आ का ईकार आदेश किये जाने से **'स्नात्वी'** पीत्वी आदि रूप बने। यहाँ **'आदि'** यह शब्द प्रकारवाची है। इसका अभिप्राय है कि इस प्रकार के जो भी शब्दरूप वेदों में मिलेगें, उन्हें इसी सूत्र के द्वारा ईत्व करना चाहिए। लोक में **स्नात्वा, पीत्वा** रूप बनेगें।

वेदों में ऐसे पद अनेक प्राप्त हैं, हम कतिपय उद्धृत कर रहे हैं-

1. कृत्वी।।
   (क) भ्रातरनु वः कृत्व्येमसि।। ऋ० 1.161.3
   (ख) अवाडषव्यानि सुरभीणि कृत्वी।। ऋ० 10.15.12
   (ग) अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी।। ऋ० 10.17.2
   (घ) पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी।। ऋ० 10.109.7
   (ङ) येनेन्द्रो हविषा कृत्वी।। ऋ० 10.159.4.174.4
   (च) कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।। मा० 19.66
   (छ) इव कृत्वी करदेवं देवो।। मा० 19.66।।
   (ज) वाडषव्यानि सुरभीणि कृत्वी।। का० 21.4.16
   (झ) कृत्वी करदेवं देवो वनस्पति.....।।

   मै० 4.13.7; काठ० 18.21
2. खात्वी।।
   (क) तया ज्योतिरजस्त्रमिदग्निं खात्वी।। तै० 4.1.1.4
3. गत्वी।।
   (क) सा नो दुहीयद्यवसेव।। ऋ० 4.41.5; 10.101.9
4. गूढ्वी।।
   (क) गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि।। ऋ० 7.80.2
5. जनित्वी।।
   (क) यज्ञं जनित्वी तन्वी3निमामृजु।। ऋ० 10.65.7
6. जुष्ट्वी।।
   (क) जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य।। ऋ० 1.118.5
   (ख) जुष्ट्वी दशस्य सोमिनः सखायम्।। ऋ० 8.62.6
   (ग) जुष्ट्वी न इन्द्रो सुपथा सुगान्युरौ।। ऋ० 9.97.16
7. विष्ट्वी।।
   (क) विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो।। ऋ० 1.110.4
   (ख) विष्ट्वी शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया।। ऋ० 3.60.3

(ग) विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया।। ऋ० 1.52.6

8. वृत्वी।।

(क) अपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत्।। ऋ० 1.52.6

9. वृक्त्वी।।

(क) क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन्।। ऋ० 10.87.2

10. वृष्ट्वी।।

(क) वृष्ट्वी शं योराप उस्रि भेषजं।। ऋ० 5.53.14

11. स्नात्वी।।

(क) स्विन्नः स्नात्वी मलादिव।। ऋ० 3.12.10; काठ० 38.5

12. हत्वी।।

(क) वज्रेण हत्व्यवृणक्तुविष्वाणिः।। ऋ० 2.17.6

(ख) हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नि तारित्।। ऋ० 2.20.8

(ग) ज्योगभूवन्ननुधूपितासो हत्वी।। ऋ० 2.30.10

(घ) हत्वी दस्यूप्रार्यं वर्णमावत्।।

ऋ० 3.34.9; शौ० 20.11.9

13. हित्वी।।

(क) हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्।।

ऋ० 6.56.6; मा० 33.96

(ख) हित्वी वव्रिं हरितो वृष्टिमच्छ।। ऋ० 9.69.9

(ग) हित्वी गयमारे अवद्य आगात्।। ऋ० 10.99.5

14. पूत्वी।।

(क) अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्।।

ऋ० 8.91.7; पै० 4.26.7

15. भूत्वी।।

(क) वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिः।। ऋ० 7.104.1

(ख) उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नी मे सहावहै।। ऋ० 10.145.5

16. पीत्वी।।

(क) पीत्वी सोमस्य वावृधे।। ऋ० 3.40.7; शौ० 20.6.7

(ख) पीत्वी शिप्रे अवेपयः।।

ऋ० 8.76.10; मा० 8.69; का० 8.14; शौ० 20.42.3

अन्य भी अनेक प्रयोग हैं, ये हमने कतिपय ही उद्धृत किये हैं।।

197. आज्जसेरसुक्।। अष्टा० 7.1.50

का०- अवर्णान्तादङ्गादुत्तरस्य जसेरसुगागमो भवति छन्दसि विषये। ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः (ऋ० 6.75.10)। ब्राह्मणाः सोम्या इति प्राप्ते। ये पूर्वासो य उपरासः (ऋ० 10.15.2) इत्यत्र परत्वादसुकि पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् (परि० 39) शीभावः प्राप्तः, 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' (परि० 40) इति न भवति।।

सि०- अवर्णादङ्गात्परस्य जसोऽसुक् स्यात्। देवासः (ऋ० 1.36.4)। ब्राह्मणासः (ऋ० 6.75.10)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'छन्दसि'** तथा **अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। वेदविषय में अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर जस् को असुक् आगम होता है। **देवासः। ब्राह्मणासः। सोम्यासः।** देव + अस्, प्रस्तुत सूत्र से असुक् आगम देव + अस् + अस् = **'अकः सवर्णे दीर्घः** (अष्टा० 6.1.101) से दीर्घ देवासः बना। इसी प्रकार **ब्राह्मणासः, सोम्यासः** आदि बने। लोक में **ब्राह्मणाः सोम्याः देवाः** रूप बनेंगे। **'ये पूर्वासः य उपरासः'**-यहाँ पर परवर्ती होने से जस् के शी आदेश से पहले इस सूत्र से असुक् का आगम कर देने पर पुनः प्रसङ्गवश जस् का शी आदेश प्राप्त है किन्तु **'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव'** अर्थात् सकृदगति में विप्रतिषेध में जिसका एक बार बाध हो गया है, उसका हो ही गया-इस न्याय से जस् का शी नहीं होता है। वैदिक विधियाँ बहुल रूप से हो जाती हैं, अतः वैकल्पिक हैं, इसी कारण असुक् के बिना भी रूप मिलते हैं। आचार्य ने जस् प्रत्यय माना है, उसी को प्राचीन आचार्य **'जसि'** मानते हैं उसी का **'जसेः'** रूप प्रस्तुत सूत्र में है।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग होने से हम कतिपय उद्धृत कर रहे हैं-

1. देवासः।।

(क) देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा।। ऋ० 1.36.4

(ख) देवासो रण्वमवसे।। ऋ० 1.128.8

(ग) विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः।। ऋ० 4.19.1

(घ) देवासो दूतमक्रत।। ऋ० 5.21.3

(ङ) देवासश्च मर्तासश्च।। ऋ० 8.15.8

(च) विश्वे देवास इह मादयान्ताम्।।

मा० 2.13; का० 2.3.12

(छ) गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।।

मा० 17.92; का० 19.1.6

(ज) यद्देवासो ललामगुम्।। मा०-23.29

(झ) विश्वे देवासो अदितिः सजोषाः।। तै० 3.3.11.3

(ञ) तं देवासः प्रति गृभ्णत्यश्वम्।। तै० 4.6.9.2

(ट) विश्वे देवासो असिधा।। मै० 4.10.3

(ठ) विश्वे देवासः परमे।। मै० 4.12.4

(ड) विश्वे देवासो अदिति सजोषाः।। मै० 4.12.6

(ढ) भूर्णिं देवास इह सुश्रियं दधुः।। काठ० 7.12

(ण) तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो।। कौ० 1.109; 2.16.87

(त) त्रिकदुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।। कौ० 2.724

(थ) यं देवास इति द्विता।। कौ० 2.12.45

(द) स्वाना देवास इन्दवः।। कौ० 2.19.92

(ध) इति देवासो अब्रुवन्।। जै० 3.20.7

(न) देवासश् च मर्तासश् च।। जै० 4.16.2

(प) देवासो विश्वधायसः।। शौ० 3.22.2

(फ) देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम्।। शौ० 7.29.1

(ब) देवासो यज्ञमत्नत।। शौ० 20.110.3
(भ) इति देवासो अब्रुवन्।। शौ० 20.137.5
(म) विश्वे देवास इहमादयध्वम्।। पै० 5.4.9
(य) विश्वे देवासो अदुहः।। पै० 6.17.3

2. ब्राह्मणास।। 3. सोम्यासः।।
(क) ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः।।
ऋ० 6.75.10; मै० 3.16.3; काठ० 46.1; पै० 15.10.10

3. जनासः।।
(क) यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो।। ऋ० 2.12.9

नोट- 'स जनास इन्द्रः' यह मन्त्रांश ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के बारहवें सूक्त के प्रथम (1.14) चौदह मन्त्रों में उपलब्ध है। यह सम्बोधन रूप है।

(ख) विश्वे जनासो अश्विना हवन्ते।। ऋ० 3.58.4
(ग) अनीकमस्य न मिनज्जनासः।। ऋ० 5.2.1
(घ) सुतावन्तो वायुं द्युम्ना जनासः।। ऋ० 8.26.22
(ङ) यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति।। ऋ० 10.4.2
(च) मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास।। मै० 2.10.2
(छ) मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास।। काठ० 21.13
(ज) यं जनासो हविष्मन्तो।। कौ० 2.15.65
(झ) यं जनासो हविष्मन्तो।। जै० 4.15.8
(ञ) तव व्रते नि विशन्ते जनासः।। शौ० 4.25.3
(ट) त्वा वो चन्नराधसं जनासः।। शौ० 5.11.7
(ठ) यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो।। शौ० 20.34.9
(ड) द्यौस् स ते वें व राञ् जनासः।। पै० 5.6.4

4. पूर्वासः।।
(क) ते नः पूर्वास उपरास इन्दवो।। ऋ० 9.77.3
(ख) ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।।

ऋ० 10.15.2; तै० 2.6.12.4; शौ० 18.1.46; मै० 4.10.6

(ग) ये पूर्वासो येऽपरास परेयुः।। पै० 2.30.3

5. प्रियासः।।

(क) सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे।। ऋ० 4.1.123

(ख) अस्य प्रियासः सख्ये स्याम।। ऋ० 4.17.9

(ग) प्रियासः सन्तु सूरयः।।

ऋ० 7.16.7; मा० 33.14; का० 32.1.14

(घ) तव प्रियासो अर्यमन्गृणन्तः।। ऋ० 7.60.1

(ङ) तव प्रियासः सूरिषु स्याम।। तै० 1.6.12.6

(च) ते स्याम वरुणः प्रियासः।। मै० 4.14.3

(छ) ते स्याम वरुण प्रियासः।। काठ० 23.12

(ज) प्रियासः सन्तु सूरयः।। कौ० 1.38

(झ) अस्य प्रियासः सख्ये स्याम।। जै० 4.11.2

(ञ) वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः।। शौ० 20.34.18

(ट) तव प्रियासः सूरिषु स्याम्।। शौ० 20.37.7

7. समुद्रासः।।

(क) समुद्रासो न सवनानि विव्यचुः।। ऋ० 9.80.1

8. सुवीरासः।।

(क) सुवीरासो विदथमा वदेम।। ऋ० 1.117.25

(ख) सुवीरासो अभिमातिषाहः।। ऋ० 2.4.9

(ग) सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः।। ऋ० 7.1.4

(घ) सुवीरासो वयं धना।। ऋ० 9.61.23

(ङ) सुवीरासो अदाभ्यम्।। तै० 1.5.5.4

(च) सुवीरासो अदाभ्यम्।। मै० 1.5.2

(छ) सुवीरासो अदाभ्यमग्ने।। काठ० 6.9

(ज) सुवीरासो वयं धना।। जै० 3.44.8

(झ) सुवीरासो विदथमा वदेम।। शौ० 20.34.8

(ञ) सुवीरासो विदथमा वदेम।। शौ० 20.34.18

(ट) सुवीरासो विदथम् आ वदेम।। पै० 17.32.2

9. स्तुतासः।।

(क) स्तुतासो नो मरुतो मृडयन्तु।। ऋ० 1.171.3

(ख) विश्वे स्तुतासो भूता यजत्रा।। ऋ० 6.50.15

(ग) उत स्तुतासो मरुतो व्यन्तु।। ऋ० 7.57.6

10. जीवासः।।

(क) जीवासो विदथमा वदेम।।

शौ० 12.3.30; पै० 17.32.10

11. अजरासः।।

(क) अजरासस्ते सख्ये स्याम।। ऋ० 7.54.2

(ख) अस्याजरासो दमामरित्रा।।

ऋ० 10.46.7; मा० 33.1; का० 32.1.1

(ग) प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठाः।। शौ० 8.3.19

12. अश्वासः।।

(क) आ वामश्वासः शुचयः पयस्पा।। ऋ० 1.181.2

(ख) यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो।।

ऋ० 2.12.7; शौ० 20.34.7

(ग) अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः।।

ऋ० 6.16.43; मा० 13.36; काठ० 22.5; कौ० 1.25;

कौ० 2.13.83; तै० 4.5.9.6

(घ) अश्वासो ये वामुप।। ऋ० 7.74.4

(ङ) यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो।।

ऋ० 10.61.14; मा० 20.78; का० 22.7.12

(च) **यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो।।** मै० 3.11.4

13. **उभयास:।।**

(क) **उभयासो जातवेदः स्याम।।** ऋ० 2.2.12

(ख) **त्वां राय उभयासो जनानाम्।।**

ऋ० 6.1.5; मै० 4.13.6; काठ० 18.20

(ग) **रातौ स्यामोभयास आ ते।।** ऋ० 7.1.25

एवं वेदों में **'देवास:'** के उनतीस, **'ब्राह्मणास:'** के छः, **'जनास:'** के पच्चीस, **'पूर्वास:'** के आठ, **'प्रियास:'** के तेरह, **'समुद्रास:'** का एक, **'सुवीरास:'** के ग्यारह, **'स्तुतास:'** के तीन, **'जीवास:'** के दो, **'अजरास:'** के पाँच, **'अश्वास:'** के चौदह तथा **'उभयास:'** के पाँच प्रयोग स्थल मिले हैं। अन्य भी अनेक प्रयोग हैं।।

198. श्रीग्रामण्योश्छन्दसि।। अष्टा० 7.1.56

का०- **श्री ग्रामणी इत्येतयोश्छन्दसि विषय आमो नुडागमो भवति। श्रीणामुदारो धरूणो रयीणाम् (ऋ० 10.45.5)। अपि तत्र सूतग्रामणीनाम् (काठ० सं० 28.3)। श्रीशब्दस्य 'वामि' (1.4.5) इति विकल्पेन नदीसंज्ञा, तत्र नित्यार्थं वचनम्। सूतग्रामणी- नामिति यदा सूताश्च ते ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यो भवन्ति तदर्थमिदं वचनम्। यदा तु सूतश्च ग्रामणीश्च सूतग्रामणि, सूतग्रामणि च सूतग्रामणि च सूतग्रामणि चेति सूतग्रामणीनामिति, तदा ह्रस्वादित्येव सिद्धम्।।**

सि०- **आमो नुट्। श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम् (ऋ० 10.45.5)। अपि सूत्रग्रामणीनाम्।।**

प्रस्तुत सूत्र में **'ह्रस्वनद्यापो नुट्'** (अष्टा० 7.1.54) से **'नुट'** की, **'आमि सर्वनाम्नः सुट'** (अष्टा० 7.1.52) से **'आमि'** की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में श्री तथा ग्रामणी अङ्ग के आम् को नुट् का आगम होता है। उदा०- **श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्-** श्री शब्द की **'वामि'** (अष्टा० 1.4.5) से विकल्प से नदी -संज्ञा प्राप्त है।

उसमें नित्य नुट् करने के लिये श्री शब्द का ग्रहण है। **अपि तत्र सूतग्रामणीनाम्।** **'सूताश्च ग्रामण्यश्च' – सूतग्रामण्यः तेषां सूतग्रामणीनाम्**– इसमें इतरेतरद्वन्द्व है। इतरेतरद्वन्द्व में ह्रस्व न होने से पूर्ववत् नुट् की प्राप्ति नहीं थी, इसलिये यह सूत्र पढ़ा गया है।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग मिलते हैं–

1. **श्रीणाम्।।**

   (क) **श्रीणामुदारो।।**

   ऋ० 10.45.5; मा० 12.22; का० 13.2.5; तै० 4.2.2. 1; मै० 2.7.9; 4.11.2; काठ० 2.15

2. **सूतग्रामणीनाम्।।**

   (क) **तत्र सूतग्रामणीनां गायत्र्या वै।।** काठ० 28.3

वेद संहिताओं में **'श्रीणाम्'** पद की सात स्थलों पर पुनरावृत्ति ही हुई है, **'सूतग्रामणीनाम्'** मात्र एक स्थल पर ही प्रयुक्त हुआ है।।

199. गोः पादान्ते।। अष्टा० 7.1.57

का०– गो इत्येतस्मादृक्पादान्ते वर्तमानादुत्तरस्यामो नुडागमो भवति। विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० 10.47.1)। पादान्त इति किम्? गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः (ऋ० 2.23.18)। 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परि० 35) इति पादान्तेऽपि क्वचिद् न भवति। हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् (ऋ० 10.166.1)।।

सि०– विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० 10.47.1)।। पादान्ते किम्? गवां शता पृक्षयामेषु। पादान्तेऽपि क्वचिन्न। छन्दसि सर्वेषां वैकल्पिकत्वात्। विराजं गोपतिं गवाम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'श्रीग्रामण्योश्छन्दसि'** (अष्टा० 7.1.56) से **'छन्दसि'** की तथा पूर्ववत् नुट्, आमि, अङ्गस्य की अनुवृत्ति आ रही है। ऋचा के पाद के अन्त में वर्त्तमान गो शब्द से उत्तर आम् को नुट् आगम वेद-विषय में होता है। विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्। गो + नुट् + आम् = **गोनाम्।** यह ऋचा के अन्त में प्रयुक्त हुआ है। पादान्त के अन्त में-इसका क्या फल है? **गवां**

गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः। गवां शता पृक्षयामेषु। यहाँ पाद के आदि में नुट् नहीं होता है। 'सभी विधियाँ वेद में विकल्प से होती हैं-इसके अनुसार कहीं-कहीं पाद के अन्त में भी नहीं होता है- '**हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्**'। यहाँ अन्त में होने पर भी नुडागम नहीं हुआ।

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार वेद संहिताओं में जो प्रयोग मिले हैं, वे निम्न हैं-

1. **गोनाम्।।**

(क) **अस्माँ अर्धं कृणुतादिन्द्र गोनाम्।।** ऋ० 230.5

(ख) **उत व्रजमपवर्तासि गोनाम्।।** ऋ० 4.20.8

(ग) **तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्।।** ऋ० 5.3.3

(घ) **उर्वान्दयन्त गोनाम्।।** ऋ० 7.16.7

(ङ) **ददत्सहस्रा दश गोनाम्।।** ऋ० 8.5.37

(च) **कक्षीवते शतहिमाय गोनाम्।।** ऋ० 9.74.8

(छ) **गोपतिं शूर गोनाम्।।** ऋ० 10.47.1।।

(ज) **वि भजन्त गोनाम्।।** ऋ० 10.108.8

(झ) **उर्वान् दयन्त गोनाम्।।** मा० 33.14; का० 32.2.14

(ञ) **गोपतिंशूर गोनाम्।।** मै० 4.14.5

(ट) **वामदेवो वा एतदङ्गोनामपश्यत्।।** काठ० 32.2

(ठ) **उर्वं दयन्त गोनाम्।।** कौ० 1.38

(ड) **विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्।।** कौ० 1.317

(ढ) **पवमान पवसे धाम गोनाम्।।** कौ० 1'534

(ण) **अपीच्यांऽगुह्यं नाम गोनाम्।।** कौ० 2.679

(त) **ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां।।** जै० 2.1.7

(थ) **सहस्रा दश गोनाम्।।** शौ० 20.127.3

एवं '**गोनाम्**' पद के संहिताओं में अट्ठारह प्रयोग प्राप्त हुए हैं।।

200. छन्दस्यपि दृश्यते।। अष्टा० 7.1.76

का०-अस्थिदधिसक्थ्यक्षणामनङ् छन्दस्यपि दृश्यते। यत्र

विहितस्ततोऽ- न्यत्रापि दृश्यते। अचीत्युत्तफमनजादावपि दृश्यते। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० 1.84.13)। भद्रं पश्येमाक्षभिः (मा० सं० 25.21)। तृतीयादिष्वित्युत्तफमतृतीयादिष्वपि दृश्यते। अस्थान्युत्कृत्य जुहोति। विभत्तफावित्युत्तफमविभत्तफा- वपि दृश्यते। अक्षण्वता लाङ्गलेन। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति (ऋ० 1.164.4)।।

सि०- अस्थ्यादीनामनङ्। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० 1.84.13)

प्रस्तुत सूत्र में **'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ्ङुदात्तः'** (अष्या० 7.1.75) की, **'नपुंसकस्य झलचः'** (अष्या० 7.1.72) से **'नपुंसकस्य'** की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि-इन नपुंसकलिङ्ग वाले अङ्गों को भी अनङ् देखा जाता है। अर्थात् जहाँ विधान है, वहाँ से अन्यत्र भी दिखायी देता है। जैसे **'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा- मनङ्ङुदात्तः'** (अष्या० 7.1.75) इस पूर्व सूत्र में अजादि परे कहा है, अतृतीयादि में भी दृष्टिगत होता है यथा-**अस्थामि**। तथा 'विभक्तौ' कहा है अविभक्ति परे भी मिलता है- **अक्षण्वता**। अर्थात् **'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनुङ्ङुदात्तः'** (अष्या० 7.175) के जो नियम हैं उनके विपरीत भी **'अनङ्'** मिला है।

प्रस्तुत सूत्र के वेदसंहिताओं में निम्न प्रयोग मिलते हैं-

'अस्थि' को अनङ् (आदेश होकर)।। अतृतीयादि विभक्ति परे रहते -

1. **अस्थानि।।**
   (क) **शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मे ऽस्थानिच...।।**
   तै० 4.7.1.2
   (ख) **प्रामेषतास्थानि शातया इति०।।** तै० 6.2.8.5
   (ग) **केशा नक्षत्राणि रूपं तारका अस्थानि नमो...।**
   तै० 7.5.25.1
   (घ) **आग्नेयानि वै पुरुषस्यास्थानि।।** मै० 2.5.2
   (ङ) **यानि वा अऽदोऽग्निरस्थान्यधूनुतस पूतुदुरभवद्।।**
   मै० 3.8.5

(च) ते वै स्वर्यन्तोऽस्थानि शरीराण्यधून्वत।। मै० 3.9.6

(छ) वारुणमस्थान्याग्ने यानि माँसानि....।। काठ० 13.2

(1) अस्थन्वन्तम्।।

(क) को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। भूम्या असुर सृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्।।

ऋ० 1.164.4; शौ० 9.14.4

(ख) अथो अस्थन्वन्तमेवैनं कृत्वा प्रतिष्ठापयति।। मै० 2.3.1

(2) अस्थन्वन्तः।।

(क) तेन प्रीणाति सोऽमन्यतास्थन्वन्तो मे पूर्वे भ्रातरः.....।।

तै० 9.2.8.5

(ख) तस्मादनस्थकाद्रेतसोऽस्थन्वन्तो गर्भाः प्रजायन्ते....।।

काठ० 24.5

(3) अस्थभिः।।

(क) इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।।

ऋ० 1.48.13; शौ० 20.41.2

(ख) तदृषिरभ्यनूवाचेन्द्रो दधीचो अस्थभिरिति...।।

तै० 5.6.6.3

(ग) ओजो ग्रीवाभि निर्दतिमस्थभिरिन्द्रं स्वपसा।।

तै० 5.718.1

(घ) इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।।

मै० 2.13.6; काठ० 39.12

(ङ) आजो ग्रीवाभि निर्ऋतिमस्थभिरिन्द्राँ स्वपसा।।

काठ० 53.8

(च) इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।।

कौ० 1.179; 2.913; जै० 1.19.5

(4) अस्थभ्यः।।

(क) शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव।।

मा० 23.44; का० 25.8.6

(ख) अस्थभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहा।

मा० 39.10; का० 39.8.1

(5) अक्षाणि।।

(क) तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा।।

7.55.6; पै० 4.6.5

(6) अक्षण्वन्तः।।

(क) अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो।। ऋ० 10.71.7

(7) अक्षण्वते।।

(क) अक्षण्वते स्वाहा। तै० 7.5.12.1; काठ० 45.3

(8) अक्षभिः।।

(क) भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।।

ऋ० 1.89.8; कौ० 2.18.74 मा० 25.21; का० 27.11.8; मै० 4.14.2

(ख) शतं चक्षाणो अक्षभिः।। ऋ० 1.128.3; काठ० 39.16

(ग) क्रत्वा शुक्रेभिरक्षभि।। ऋ० 9.102.8

(घ) तस्मै सहस्त्रमक्षभिविः।। ऋ० 10.79.5

(ङ) पुरुषा देव्यक्षभिः।। ऋ० 10.79.5

(च) शतं चक्षाणो अक्षभिः।। काठ० 39.16

(9) सक्थानि।।

(क) वि सक्थानि नरो यमुः।। ऋ० 5.61.3

(ख) सक्थान्युत्कर्तमपचत।। काठ० 10.6

(10) दधन्वतः।।

(क) अच्छिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः।।

ऋ० 6.48.18

201. ई च द्विवचने।। अष्टा० 7.1.77

का०- द्विवचने परतश्छन्दसि विषयेऽस्थ्यादीनामीकारादेशो भवति, स चोदात्तः। अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले कपेरिव। अक्षीभ्या ते नासिकाभ्याम् (ऋ० 10.163.1)। अक्षी इत्यत्र नुम् परत्वादीकारेण बाध्यते। तत्र कृते 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' (परि० 40)इति पुनर्नुम् न क्रियते।।

सि०- अस्थ्यादीनामित्येव। अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम् (ऋ० 10.163.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दस्यपि दृश्यते' (अष्टा० 7.1.76) से 'छन्दसि' की तथा पूर्ववत् 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् उदात्तः' 'नपुंसकस्य' 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में द्विवचन विभक्ति परे रहते अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि शब्दों को ईकारादेश होता है। और वह उदात्त होता है। उदा०- अक्षी ते पिङ्गले कपेरिव। अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्। इसमें परवर्ती होने के कारण ईत्व आदेश द्वारा नुम का बाध कर लिया जाता है और ऐसा होने पर विप्रतिषेध में एक बार बाध हो जाने पर बाध ही रहता है, पुनः प्रवृत्ति नहीं होती हैं- इस नियमानुसार पुनः नुम् नहीं किया जाता।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. अक्षि अक्षी।।
   (क) अक्षि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन्।। ऋ० 1.72.10
   (ख) अक्षी इत चक्षुषा यातमर्वाक्।। ऋ० 2.39.5
   (ग) अक्षी कामेन शुष्यताम्।। पै० 6.6.2
   (घ) याव् अस्याक्षी तौ सूर्याचन्द्रमसौ।। पै० 17.29.2

2. अक्षीभ्याम्।।
   (क) अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्।।
   ऋ० 10.163.1; शौ० 2.33.1; 20.66.17
   (ख) अक्षीभ्याँ स्वाहा।। तै० 7.3.16.1

(ग) तौ सिँहा अभवतां यदक्षीभ्याम्।। काठ० 12.10

(घ) सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम्।। शौ० 11.4.3

(ङ) यैनम् अक्षीभ्यां प्रा शी।। पै० 16.553

(च) ततश् चैनम् अन्याभ्याम् अक्षीभ्याम्।। पै० 16.56.3

वेदों में 'अक्षी' और 'अक्षीभ्याम्' के ग्यारह प्रयोग प्राप्त होते हैं, अन्य पदों के उदाहरण नहीं मिले हैं।।

202. दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि।। अष्टा० 7.1.83

का०- दृक् स्ववस् स्वतवस् इत्येतेषां सौ परतो नुमागमो भवति छन्दसि विषये। ईदृङ्। तादृङ्। यादृङ्। सदृङ् (ऋ० 1.94.7)। स्ववान् (ऋ० 10.92.9)। स्वतवाँः पायुरग्ने (ऋ० 4.2.6)।।

सि०- एषां नुम् स्यात्सौ। कीदृङ्ङिन्द्रः (ऋ० 10.108.3)। स्ववान् (ऋ० 1.35.10)। स्वतवान् (ऋ० 4.2.6)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'सावनडुहः'** (अष्या० 7.1.8.2) से **'सौ'** की तथा पूर्ववत् नुम्, अङ्गस्य की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में दृक्, स्ववस्, स्वतवस् इन अङ्गों को सु परे रहते नुम् आगम होता है। उदा०- ईदृङ्, ईदृश् में क्विन् करने के बाद सु परे नुम्, हल्ङ्यादिलोप होकर संयोगान्तलोप, **'क्विन् प्रत्ययस्य कुः'** (अष्या० 8.2.62) से न् का कुत्व करने पर ङ् बना। तादृङ्, यादृङ्, सदृङ् में भी इसी प्रकार हुआ। स्ववान्। स्वव नुम् स् सु = स्ववन्स् स् हल्ङ्यादि लोप, संयोगादिलोप, **'सान्तमहतः संयोगस्य'** (अष्या० 6.4.10) से दीर्घ होकर स्ववान्। स्वतवान्। बनेगें। संहितापाठ में **'स्वतवाँ पायुः'** के नकार को रु **'स्वतवान्पायौ'** (अष्या० 8.3.11) से बनकर विसर्ग होगा। **'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा'** (अष्या० 8.3.2) से पूर्व को अनुनासिक आदेश होकर सिद्ध होगा।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग निम्न हैं-

1. ईदृङ्।।

(क) ईदृङ् चान्यादृङ् च।।

मा० 17.81; का० 18.7.2; तै० 4.6.5.5

(ख) ईदृङ् चान्यादृङ् चैतादृङ् च।।

तै० 1.8.13.2; काठ० 18.6

(ग) अबिभेदीदृङ् वै राष्ट्रं विपर्यावर्तयतीति।। तै० 2.5.11

(घ) ईदृङ् चैतादृङ् च।। मै० 2.11.1

2. एतादृङ्।।

(क) एतादृङ् च प्रतिदृङ्। तै० 1.8.13.2; 4.6.5.5

(ख) ईदृङ् चैतादृङ् च प्रतिदृङ् च।। मै० 2.11.1

3. कीदृङ्।।

(क) कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का।। ऋ० 1.108.3

4. तादृङ्।।

(क) तादृङ् पुनर्भवति यादृक् सन्यजते।।

(ख) यस्य तादृङ्ङृषभो भवति...स्य तादृङ्ङृषभो भवति...।।

मै० 4.2.14

5. यादृङ्।।

(क) ततः पापीयान् भवति यादृङ् सन् यजते।। काठ० 30.3

6. सदृङ्।।

(क) यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्ङसि।। ऋ० 1.94.7

(ख) पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि।। ऋ० 8.11.8; कौ० 2.11.67

(ग) सदृङ् च प्रतिसदृङ् च।। मा० 17.81; का० 18.7.2

(घ) इन्द्रो वै सदृङ् देवताभिरासीत्....।।

तै० 2.2.8.5; 7.2.5.2; 7.3.6.1

(ङ) यदि नावविध्यति सदृङ्।। तै० 2.5.5.6

(च) भ्रातृव्येण सदृङ्ङसीत्यहंवेदा।। मै० 1.4.12

(छ) सदृङ् च प्रतिसदृङ् च।। मै० 2.11.1

(ज) य एनेन सदृङ् प्रभूरसि ..।। काठ० 7.6

(झ) यदि मन्येत सदृङ् मयेति।। काठ० 20.6

(ञ) यो विश्वतस् सुपतीकस् सदृङ्ङ्।। पै० 12.1.7

7. स्ववान्।।

(क) सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।।

ऋ० 1.35.10; मा० 34.26; का० 33.1.20

(ख) सुकृत्सुपाणिः स्ववां ऋतावा।। ऋ० 3.54.12

(ग) इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः।।

ऋ० 6.47.12; मा० 20.51; का० 22.5.5

(घ) येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिः।। ऋ० 10.62.6

(ङ) स सुत्रामा स्ववाँ।।

तै० 1.7.13.5; मा० 20.52; का० 22.56;
काठ० 8.16; शौ० 7.66.1; शौ० 20.125.6;
शौ० 20.125.7

8. स्ततवान्।।

(क) भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने।। ऋ० 4.2.6

(ख) गिरिर्न यः स्वतवाँ ऋष्व।। ऋ० 4.2.6

(ग) स्वतवाँश्च प्रघासी च।। मा० 17.85; का० 18.7.6

वेदों में 'ईदृङ्' के सात, 'एतादृङ्' के तीन, 'कीदृङ्' का एक, 'तादृङ्' के दो, 'यादृङ्' का एक, 'सादृङ्' तथा 'स्ववान्' के पन्द्रह-पन्द्रह, 'स्वतवान्' के चार प्रयोग प्राप्त हुए हैं।।

203. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 7.1.103

का०- छन्दसि विषय ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य बहुलमुकारादेशो भवति। ओष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्तफम्, अनोष्ठ्यपूर्वस्यापि भवति। मित्रावरुणा ततुरिम् (ऋ० 4.39.2)। दूरे ह्यध्वा जगुरिः (ऋ० 10.108.1)। आष्ठ्यपूर्वस्यापि न भवति- पप्रितमम्। वव्रितमम्। क्वचिद् भवतिपपुरिः (ऋ० 1.46.4)।।

सि०- उदोष्ठ्यपूर्वस्य (7.1.102)। बहुलं छन्दसि (7.1.103)। ततुरिः। जगुरिः पराचैः।।

प्रस्तुत सूत्र में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (अष्य० 7.1.102) से 'उत्' की 'ऋत

इद्धातोः' (अष्या॰ 7.1.100) से **'ऋतः'** **'धातोः'** की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। ओष्ठ्य वर्ण पूर्व है जिस ऋकार से, तदन्त धातु को उकारादेश होता है, **'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'** (अष्या॰ 6.1.102) यह बताता है। **'उरणरपरः'** (अष्या॰ 1.1.51) परिभाषा से यह उकार रपर 'उर' होकर आदेश होगा। जैसे- **पूर्त्ताः पिण्डाः, पुपूर्षति, मुमूर्षति**। किन्तु वेद में ऋकारान्त धातु अङ्ग को बहुल करके उकारादेश होता है। ओष्ठ्य है पूर्व जिससे ऐसे ऋ का आदेश कहा गया है अब अनोष्ठ्य पूर्व का भी होता है- **मित्रावरुणा ततुरिम्**। तॄ धातु से **'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च'** (अष्टा॰ 3.2.171) से कि या किन् प्रत्यय, ऋ को उत्व, रपर **'द्विर्वचनेऽचि'** (अष्या॰ 1.1.59) से स्थानिवद्भाव से तॄ मानकर ही द्वित्व **'उरत्'** (अष्या॰ 6.4.66) से अभ्यास के ऋ का अत्व, हलादिशेषादि होकर **ततुरिम्**।। **दूरे ह्यध्वा जगुरिः**। गॄ + कि अथवा किन् शेष पूर्ववत्। ओष्ठ्य जिससे पूर्व है, उसका नहीं भी होता- **पप्रितमम्**। **वव्रितमम्**। यहां पॄ और वॄ धातु से कि अथवा किन्, पपॄ + इ, ववॄ + इ, उत्व न होकर यण्- **पप्रि, वव्रि**। **'अतिशायने तमविष्ठनो'** (अष्या॰ 5.3.55) से अतिशायन अर्थ में तमप् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुए। कहीं-कहीं होता है- **पपुरिः**। पॄ + कि अथवा किन् = इ, में पूर्ववत् सब करने के बाद पपॄ + इ में ऋ का उत्व तथा रपर होता है- पपुर् + इ, प्रातिपदिक संज्ञा, विसर्ग होकर पपुरिः सिद्ध हुआ। इसी प्रकार ततुरिः। जगुरिः।। ये रूप लिट् के अर्थ में हैं, इसीलिये भूतकालादि की भी इसी से प्रतीति हो जायेगी।

वेद में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. ततुरिः।।
   (क) **पुरुप्रैषस्ततुरिर्यज्ञसाधनः**।। ऋ॰ 1.145.3
   (ख) **ततुरिर्वीरो नर्यो विचेताः**।। ऋ॰ 6.24.2
   (ग) **प्र सद्यो द्युम्ना तिरते ततुरिः**।। ऋ॰ 6.68.7
2. ततुरिम्।।
   (क) **ददथुर्मित्रावरुणा ततुरिम्**।। ऋ॰ 4.39.2
   (ख) **नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्**।। ऋ॰ 6.22.2

3. जगुरिः।।
   (क) दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।। ऋ० 10.108.1
4. पप्रितमम्।।
   (क) पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्।।
   मा० 1.8; काठ० 1.4; तै० 1.1.4.1
   (ख) जुष्टतमं वह्नितमं पप्रितमं स्वस्तितमम्।। पै० 16.70.2
5. पपुरि।।
   (क) ओजिष्ठं पपुरि श्रवः।। ऋ० 6.46.5
6. पपुरिः।।
   (क) पिपर्ति पपुरिर्नरा।। ऋ० 1.46.4
7. पपुरिम्।।
   (क) पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवः।।
   ऋ० 1.125.4; काठ० 11.12

वेदों में इस सूत्र के अनेक प्रयोगवश हमने कतिपय ही दिये हैं।।

204. ह्रु ह्वरेश्छन्दसि।। अष्टा० 7.2.31

का०- ह्वरतेर्धातोर्निष्ठायां ह्रु इत्ययमादेशो भवति। ह्रुतस्य चाह्रुतस्य च। अह्रुतमसि हविर्धानम् (मा० सं० 1.9)। छन्दसीति किम्? ह्वृतम्।।

सि० - ह्वरेर्निष्ठायां ह्रु आदेशःस्यात्। अह्रुतमसि हविर्धानम्।।(यजु० 1.9)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (अष्ट्य० 7.2.14) से 'निष्ठायाम्' की तथा पूर्ववत् 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में 'ह्वृ कौटिल्ये' धातु को निष्ठा परे रहते ह्रु आदेश होता है। उदा०- ह्रुतस्य चाह्रुतस्य च। अह्रुतमसि हविर्धानम्। ह्वृ धातु अनुदात्त है, अतः 'एकाच उपदेशे०' (7.2.10) से इट्प्रतिषेध प्राप्त था, किन्तु प्रस्तुत सूत्र आदेशार्थ ही है। वेद विषय में ही क्यों यह वचन है? क्योंकि लोक में ह्वृतम्, अह्वृतम् रूप बनते हैं,

यहाँ ह्रु आदेश नहीं होगा। नागेश भट्ट का कथन है कि किन्हीं आचार्यों के यहाँ ङकार विशिष्ट 'ह्रु' इस प्रकार का पाठ है, तथा अन्यों के यहां ऋकार पाठ प्राप्त होता है। शुद्ध पाठ क्या है, इस बारे में तो देवता ही जानते हैं- ''ह्रु इत्युकारविशिष्टोऽत्र पाठः केषांचित्। 'हृ' इति ऋकारपाठोऽप्येषाम्। तत्त्वं तु देवा जानन्ति।।

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. अह्रुत :।।
   (क) यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः।। ऋ० 6.61.8
   (ख) अह्रुतो महो धरुणाय देवान्।। ऋ० 10.56.2
   (ग) अध्वरो दिविस्पृशमह्रुतो यज्ञः।। तै० 1.1.12.1
   (घ) अह्रुतो यज्ञो यज्ञपतेः।।
   मै० 1.1.13; काठ० 1.12; 31.11
   (ङ) ईशाताह्रुतोऽयं यज्ञो अप्येतु देवान्।। काठ० 35.5
2. अह्रुतम्।।
   (क) अह्रुतमसि हविर्धानम्।।
   मा० 1.6; का० 1.3.5; तै० 1.1.4.1; मै० 1.1.5; काठ० 1.4; 39.3

एवं वेदों में प्रस्तुत सूत्र के 'अह्रुत्' 'अह्रुतम्' ये रूप प्राप्त होते हैं, जिनके पन्द्रह स्थलों पर प्रयोग उपलब्ध हुए हैं।।

205. अपरिह्वृताश्च।। अष्टा० 7.2.32

का०- पूर्वेण प्राप्तस्यादेशास्याभावो निपात्यते। अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम् (ऋ० 1.100.19)।।

सि०- पूर्वेण प्राप्तस्यादेशस्याभावो निपात्यते। अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम् (ऋ० 1.100.19)

प्रस्तुत सूत्र में 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' (अष्टा० 7.2.31) से 'छन्दसि' की तथा पूर्ववत् निष्ठायाम्, छन्दसि की अनुवृत्ति आ रही है। अपरिह्वृता यह शब्द

भी वेदविषय में निपातन किया जाता है। पूर्व सूत्र '**ह्रु ह्वरेश्छन्दसि**' (अष्टा० 7.2.31) से '**ह्रु**' आदेश प्राप्त था, उसका अभाव निपातन है। वेद-विषय में अपरिह्वृताः शब्द बहुवचनान्त प्राप्त होने से सूत्र में बहुवचनान्त ही निर्दिष्ट है। नागेशभट्ट ने कहा है- '**बहुवचननिर्देशः छन्दसि तस्यैव प्रयोगदर्शनात्**'। 'अपरिह्वृताः'। नञ् + परि + ह्वृ + क्त + जस् = **अपरिह्वृताः**।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. अपरिह्वृतः।।

(क) **अपरिह्वृतो अत्यो न सप्तिः।।**

ऋ० 10.6.2; मै० 4.14.15

2. अपरिह्वृता।।

(क) **सुदात्वपरिह्वृता।।** ऋ० 8.78.8

3. अपरिह्वृताः।।

(क) **अपरिह्वृताः सनुयाम् वाजम्।।**

ऋ० 1.100.16; 1.102.11; काठ० 12.14

(ख) **अपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।।** ऋ० 10.63.5

नागेशभट्ट ने लिखा है कि वेद-विषय में '**अपरिह्वृताः**' शब्द बहुवचनान्त प्राप्त होता है, अतः सूत्र में इसका बहुवचन ही निर्देश है- '**बहुवचननिर्देशः छन्दसि तस्यैव प्रयोगदर्शनात्**'। इसी प्रकार कु० प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्य ने भी अष्टाध्यायी-भाष्य प्रथमावृत्ति में लिखा- **वेद में यह शब्द बहुवचनान्त ही देखा जाता है। अतः सूत्र में बहुवचनान्त निर्देश हैं।** वस्तुतः इन दोनों के ये उपर्युक्त वचन वेदसहिंताओं के विरुद्ध हैं। यतोहि अभी हमने ऊपर देखा कि वेद में 'अपरिह्वृतः' 'अपरिह्वृता' 'अपरिह्वृताः' इनका प्रयोग हुआ है।।

206. सोमे ह्वरितः।। अष्टा० 7.2.33

का०-ह्वरित इति ह्वरतेर्निष्ठायामिडागमो गुणश्च निपात्यते छन्दसि विषये, सोमश्चेद् भवति। मा नः सोमो ह्वरितः, विह्वरितस्त्वम्।।

सि०- इड्गुणौ निपात्येते। मा नः सोमो ह्वरितः।।

प्रस्तुत सूत्र में **छन्दसि, निष्ठायाम्, अङ्गस्य** की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। वेदविषय में '**ह्वरित**' शब्द सोम वाच्य होने पर निपातन किया जाता है। **मा नः सोमो ह्वरितः। विह्वरितस्त्वम्।** निष्ठा परे रहते इट् आगम तथा गुण एवं 'ह्रु' आदेश का अभाव यहां निपातन किया गया है। '**एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्**' (अष्टा० 7.2.10) से इट् प्राप्त नहीं था। अनुदात्त होने के कारण। अतः निपातन से कर दिया। वृत्तिकारों ने प्रस्तुत सूत्र का जो उदाहरण '**मा नः सोमो ह्वरितः**', '**विह्वरितस्त्वम्**' दिया है, इसका स्थान- निर्देश अनुपलब्ध है। भानवश्रौतसूत्रम् में यह उदाहरण इस प्रकार मिलता है- **मा नः सोम ह्वरितो विह्वरस्त्वम्** (2.5.4.24)।।

उपलब्ध वेद संहिताओं में '**ह्वरितः**' का कोई प्रयोग हमें नहीं मिल पाया है।।

207. ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्ता विशस्तृशंस्तृ-शास्तृतरुतृतरूतृवरुतृवरूतृवरूत्रीरुज्ज्वलितिक्षरितिक्ष-मितिवमित्यमितीति च।। अष्टा० 7.2.38

का०- ग्रसित स्कभित स्तभित उत्तभित चत्त विकस्त विशस्तृ शंस्तृ शांस्तृ तरुतृ तरूतृ वरुतृ वरूतृ वरूत्रीः उज्ज्वलिति क्षरिति क्षमिति वमिति अमिति इत्येतानि छन्दसि विषये निपात्यन्ते। तत्र ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितेति ग्रसु स्कम्भु स्तम्भु इत्येतेषामुदित्त्वाद् निष्ठायामिट्प्रतिषेधे प्राप्त इडागमो निपात्यते। ग्रसितं वा एतत्सोमस्य (मै० सं० 3.7.4)। ग्रस्तमिति भाषायाम्। स्कभित-विष्कभिते अजरे (ऋ० 6.70.1)। विष्कब्ध इति भाषायाम्। स्तभित-येन स्वः स्तभितम् (ऋ० 10.121.5)। स्तब्धमिति भाषायाम्। उत्तभित-सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० 10.85.1)। उत्तब्धेति भाषायाम्। उत्तभितेति उत्पूर्वस्य निपातनसामर्थ्यादन्योपसर्गपूर्वः स्तभितशब्दो न भवति। चत्त विकस्तेति चतेः कसेश्च विपूर्वस्य निष्ठायामिडभावो निपात्यते। चत्ता वर्षेण विद्युत्। चतितेति भाषायाम्। विकस्त- उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम् (मै० सं० 2.7.4)। विकसितमिति

भाषायाम्। निपातनबहुत्वापेक्ष विकस्ता इति बहुवचनं कृतम्। अपरेषु तु निपातनेषु प्रत्येकं विभक्तिनिर्देशः। विशस्तृ शंस्तृ शास्तृ इति शसेर्विपूर्वस्य शंसेः शासेश्च तृचीडभावो निपात्यते। विशस्तृ-एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता (ऋ० 1.162.19)। विशसितेति भाषायाम्। शंस्तृ- उत शंस्ता सुविप्रः (ऋ० 1.162.5)। शंसितेति भाषायाम्। शास्तृ-प्रशास्ता (ऋ० 1.94.6)। प्रशासितेति भाषायाम्। तरुतृतरूतृवरुतृवरूतृव-रूत्रीरिति तरतेर्वृङ्वृञोश्च तृचि उट् ऊट् इत्येतावागमौ निपात्येते। तरुतारं रथानाम् (ऋ० 10.178.1)। तरूतारम्। तरितारम्, तरीतारमिति भाषायाम्। वरुतारं रथानाम्, वरूतारं रथानाम्। वरितारम्, वरीतारमिति भाषायाम्। वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्या-वतीः (मा० सं० 11.61)। जसि पूर्वसवर्णोच्चारणं प्रयोगदर्शनार्थम्। अतन्त्रं चैतत्, इदमपि हि भवति-अहोरात्राणि वै वरूत्रयः (श० ब्रा० 6.5.4.6) इति। छान्दसिकमत्र ह्रस्वत्वम्। प्रपञ्चार्थमेव च ङीबन्तस्य निपातनम्। वरूतृशब्दो हि निपातितः, तत एव ङीपि सति सिद्धो वरूत्रीशब्दः। उज्ज्वलिति क्षरिति क्षमिति वमित्यमितीति च ज्वलतेरुत्पूर्वस्य क्षर क्षम वय अम इत्येतेषां च तिपि शप इकारादेशो निपात्यते, शपो लुग्वेडागमः। अग्निरुज्ज्वलिति। उज्ज्वलतीति भाषायाम्। क्षरिति-स्तोकं क्षरिति। क्षरतीति भाषायाम्। क्षमिति-स्तोमं क्षमिति। क्षमतीति भाषायाम्। वमिति-यः सोमं वमिति। वमतीति भाषायाम्। अमिति -अभ्यमिति वरुणः। अभ्यमतीति भाषायाम्। इतिकरणं प्रदर्शनार्थम्, तेन क्वचिदीकारो भवति। रविमभ्यमीति वरुणः (मा० सं० 22.5) इत्यपि हि वेदे पठ्यते।।

सि०- अष्टादश निपात्यन्ते। तत्र 'ग्रसु स्कम्भु स्तम्भु' एषामुदित्त्वान्निष्ठाया- मिट्प्रतिषेध प्राप्ते इट् निपात्यते। युवं शचीभिर्ग्रसितामुञ्चतम् (ऋ० 10.39.13)। विष्कभिते अजरे (ऋ० 6.70.1)। येन स्वः स्तभितम् (ऋ० 1.121.5)। सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० 10.85.1)। स्तभितेत्येव सिद्धे

उत्पूर्वस्य पुनर्निपातनमन्योपसर्गपूर्वस्य मा भूदिति। 'चते' याचने, 'कस' गतौ। आसां त्तस्य इडभावः। चतो इत श्वत्तामृतः (ऋ० 10.155.2)। द्विधा ह श्यावमश्विना विकस्तम्। उत्तानायाहृदयं यद्विकस्तम्। निपातनं बहुत्वापेक्षं सूत्रे बहुवचनं विकस्ता इति तेनैकवचनान्तोऽपि प्रयोगः साधुरेव। 'शसु' 'शंसु' 'शासु'-एभ्यस्तृच इडभावः।। एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ता (ऋ० 1.162.19)। ग्रावग्राभ उत शंस्ता। प्रशास्ता पोत। तरतेर्वृङ्वृञोश्च तृच उट् ऊट् एतावागमौ निपात्येते तरुतारं रथानाम्। तरूतारम्। वरुतारम् वरूतारम्। वरूत्रीभिः सुशरणी वो अस्तु। अत्र ङीबन्तनिपातनं प्रपञ्चार्थम्। वरूतृशब्दो हि निपातितः ततो ङीपा गतार्थत्वात्।। उज्ज्वलादिभ्यश्चतुर्भ्यः शप इकारादेशो निपात्यते। 'ज्वल' 'दीप्तौ', 'क्षर संचलने', टुवम् उद्गिरणे। 'अम गत्यादिषु'। इह क्षरितीत्यस्यानन्तरं क्षमितीत्यपि केचित्पठन्ति। तत्र 'क्षमूष् सहने'। इति धातुर्बोध्यः। भाषायां तु ग्रस्त-स्कब्ध- स्तब्धोत्तब्धचतित- विकसिताः। विशसिता। शंसिता। शासिता। तरीता-तरिता। वरीता-वरिता। उज्ज्वलति, क्षरति। पाठान्तरे-क्षमति (?क्षमते)। वमति, अमति।।

प्रस्तुत सूत्र में 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' (अष्ट्या० 7.2.31) से 'छन्दसि' की, 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (अष्ट्या० 7.2.14) से 'निष्ठायाम्' की, 'नेड् वशि कृति' (अष्ट्या० 7.2.8) से 'नेट्' की, तथा पूर्ववत् 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही हैं। वेदविषय में ग्रसित, स्कभित्, स्तभित्, उत्तभित, चत्त, विकस्त, विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ, तरुतृ, तरूतृ वरुतृ, वरूतृ, वरूत्री उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति- ये उन्नीस शब्द निपातित किये जाते हैं। ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित, इनमें ग्रसु अदने, स्कम्भु, स्तम्भु शोधनार्थी- इन धातुओं के उदित होने से 'उदितो वा' (अष्ट्या० 7.2.56) से विकल्प से इट् आगम्, 'यस्य विभाषा' (अष्ट्या० 7.2.15) से इट्प्रतिषेध प्राप्त था, अतः निपातन से इट् हुआ, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (अष्ट्या० 6.7.24) से अनुनासिक लोप हो गया। तब रूप बने- ग्रसितम्, स्कभितम्, स्तभितम्। लोक में ग्रस्तम्, विष्कब्धम, स्तब्धम्, स्कभितम्, स्तभितम् रूप बनेगें।

उत्तभितम्। यहां **'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य'** (अष्टा० 8.4.7) से पूर्वसवर्ण हुआ, स्त्रीत्व की विवक्षा में **'टाप्'** **उत्तभिता**। लोक में **उत्तब्ध** होगा। **चत्त, विकस्त**। इनमें इडभाव निपातन है। लोक में **चतिता, विकसितम्** रूप होगें। **विशस्ता, शंस्ता, प्रशास्ता**- इन में शस्, शंस् और शास् का तृच् परे रहते इट् का अभाव निपातन होता है। लोक में **विशसिता, शंसिता, प्रशासितम्** रूप बनेंगे। **तरुतारम्, तरूतारम्**। यहां तृ धातु से तृच् परे रहते क्रमशः उट् ऊट् आगम निपातन से है। लोक में **वरितारम् वरीताम्** बनेंगे। **वरूत्रीः**।- इसमें **'ऋन्नेभ्यो ङीप्'** (अष्टा० 4.1.5) से ङीप् भी हुआ है। वृ उट् तृच् = गुण, यणादेश, **'वा छन्दसि'** (अष्टा० 1.1.102) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर वरूत्री। **वरुत्रयः**- यह रूप उदाहरण में **'वरूत्री'** को जस् परे रहते यणादेश होकर **'वरुत्र्यः'** अनिष्ट रूप बनता था। इसलिये यहां **'जसि च'** (अष्टा० 7.3.109) से गुण छान्दसिक ह्रस्वत्व मानकर हुआ है। डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि ने काशिकाकार के **'वरूत्री'** प्रयोग पर आपत्ति करते हुए लिखा है- **'इह काशिकाकृतो वचो न रमणीयं पश्यामः, वरूतीशब्दस्य सम्प्रत्युपलभ्यमानवैदिकवाङ्मय आद्युदात्तस्यैव दर्शनाद् निपातनस्यावश्यकत्वात्'**। डॉ० विद्यावारिधि जी का कथन यहां अति उपयुक्त है। उत्पूर्वक धातु ज्वल से उज्ज्वलिति, क्षर से क्षरिति, क्षम से क्षमिति, वम से वमिति, अम से अमिति में तिप् परे रहते शप् के अकार के स्थान में निपातन से इकारादेश हो गया। यह भी हो जाता है कि शप् का लुक् करके इट् आगम निपातन से कर लिया जाये। लोक में **उज्ज्वलति, क्षरति, क्षमति**, (यहां काशिकाकार और भट्टोजिदीक्षित ने भी **'क्षमति'** रूप स्वीकार कर लिया है, यह चिन्त्य है, यतोहि क्षमूष् धातु भ्वादिगणी तथा आत्मनेपदी है, अतः **क्षमते** रूप होना उचित है। या इसे **'क्षाम्यति'** ऐसा भी कह सकते हैं। डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि जी ने भी शंका का समाधान करते हुए लिखा- **''क्षाम्यतीति' 'क्षमत' इति वा स्यात्। सूत्रे 'क्षमिति' इति नास्ति यथान्यासम्''**। प्रतीत होता है कि सादृश्यवश ही काशिकाकार और कौमुदीकार भान्ति में पड़ गये हैं।) **वमति, अमति**- रूप शप् होकर बनेगें। इसी प्रकार अन्य कार्य भी वेदों में निपातित हो जाते हैं, अतः **'इति'** पद का प्रयोग प्रदर्शनार्थ आचार्य ने किया है। इसीलिये कहीं ईकार हो जाता है, जैसे **'रविमभ्यमीतिवरुणः'**- यह

प्रयोग भी वेद का ही है। काशिका के संस्कारणों में यह प्रयोग संहितापाठ के विरुद्ध है, वस्तुतः यह पाठ '**तमभ्यमीति वरुणः**' है।।

आचार्य ने सूत्रान्तर्गत '**ग्रसित**' पद से लेकर '**विकस्त**' पद तक सभी पद प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के दर्शाये हैं एवं विशस्तृ पद से आगे समस्त पद भिन्न-भिन्न असमस्त निर्दिष्ट किये हैं। '**वरूत्रीः**' पद तो प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त '**वा छन्दसि**' (अष्टा० 1.1.102) सूत्र लगाकर बनाया गया है।।

वेद में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. **ग्रसितम्।।**

(क) **सोमारुद्रयोर्वा एतं ग्रसितं होता निष्खिदति.....।।**
तै० 2.2.10.5

(ख) **ग्रसितमेवास्य तद्यद्विचिनुयादाथाऽन्स्याद् ग्रसितं निष्खि-दति।।**
तै० 6.1.9.1

(ग) **ग्रसितंवा एतत् सोमस्य यदापन्नं, ग्रसितमेते सोमस्य निष्खिदन्ति।।** (मै० 3.7.4)

(घ) **एनं तेजसा समर्धयति नोपास्य पुनरादधीत ग्रसितमस्य निष्खादति।।** काठ० 8.5

(ङ) **पयसैवास्य पयस्पृणोति ग्रसितंवा एतँ सोमारुद्रयो-र्निष्खिदति।।** काठ० 11.5

(च) **सोम ओषधीनामधिराजो ग्रसितमस्य निष्खिदति।।**
काठ० 24.2

2. **ग्रसितान्।।**

(क) **मुमुक्तमस्मान् ग्रसितानभीके।।** मै० 4.112

3. **ग्रसिताम्।।**

(क) **याभिर्वर्तिकां ग्रसितामममुञ्चतम्।।** ऋ० 1.112.8

(ख) **अस्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामममुञ्चतम्।।** ऋ० 10.36.13

4. स्कभितः।।

(क) यत्रा समुद्रः स्कभितो व्यौनदपां नपात्सविता तस्य वेद।।

ऋ० 10.146.2

5. स्कभिता।।

(क) ययोरोजसा स्कभिता रजाञ्सि।।

मा० 8.56; का० 6.7.8; मै० 4.14.6; शौ० 7.26.1

6. स्तभितः।।

(क) पृथिव्यां घर्मस् स्तभितो अन्तरिक्षे दिवि श्रितः।।

पै० 5.13.2

7. स्तभितम्।।

(क) येन स्वः स्तभितं येन नाकः।।

ऋ० 10.121.5; मा० 32.6; का० 29.4.1; मै० 2.13.
23; पै० 4.1.4

(ख) येन सुखः स्तभितं येन नाकः।। तै० 4.1.8.5

(ग) येन स्वस्तभितं येन नामः।। काठ० 40.1

(ङ) तेन स्व स्तभितं तेन नाकः।।

शौ० 13.1.7; पै० 18.15.7

8. उत्तभित।।

(क) सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।।

ऋ० 10.85.1; शौ० 14.1.1

(ख) सूर्येणोत्तभिता द्यौः।। पै० 1.112; 18.1.1

8. चत्तः।।

(क) शलभो न चतो अति दुगाष्य् प्र।। पै० 16.67.10

9. चत्ता।।

(क) चत्तो इतश्चत्तामुतः सर्वा भ्रूणान्यारुषी।। ऋ० 10.155.2

10. चत्ताय।।

(क) दूरे चत्ताय च्छन्त्सदङ्गहनं यदिनक्षत्।।

ऋ० 1.132.6; मा० 8.53; का० 6.6.5

11. विकस्तम्।।

(क) विकस्तमुज्ञीवस ऐरयतं सुदानू।। ऋ० 1.117.24

(ख) उत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।।

मा० 11.36; का० 12.4.2; मा० 2.7.4; का० 16.4

13. वशस्ता।।

(क) एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता।।

ऋ० 1.12.16; तै० 4.6.6.3; मा० 25.42;
काठ० 46.5

14. शंस्ता।।

(क) ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।।

ऋ० 1.1.62.5; मा० 25.28; का० 27.12.5; तै० 4.6.
8; मै० 3.16.1; काठ० 46.4

15. शास्ता।।

(क) साकमयंशास्ताऽधिपतिर्वो अस्तु।। तै० 5.7.4.4

16. प्रशास्ता।।

(क) प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहिताः। ऋ० 1.64.6

(ख) प्रशास्ता ऋतुनाजनि।। ऋ० 2.5.4

17. तरुता।।

(क) नास्य वर्ता न तरुता।। ऋ० 1.40.8

(ख) वाजेष्वस्ति तरुता।। ऋ० 8.46.6

(ग) विश्वासां तरुता पृतनानाम्।।

ऋ० 8.70.1; शौ० 20.92.16; 105.4 कौ० 1.273; 2.
633; जै० 1.26.1; 3.23.15

18. तरुतारम्।।

(क) विश्वेषां तरुतारं मदच्युतम्।। ऋ० 8.1.21

(ख) सहावानं तरुतारं रथानाम्।।

शौ० 7.60.1; ऋ० 10.178.1; कौ० 1.332

19. वरूता।।

(क) महश्चिदसि त्यजसो वरूता।। ऋ० 1.166.1

(ख) त्वमिनो दाशुषो वरूतेत्था।। ऋ० 2.20.2

(ग) इन्द्र त्रातोत भवा वरूता।। ऋ० 6.25.7; काठ० 17.18

(घ) अभिक्षत्तुस्त्वावतो वरूता।। ऋ० 7.21.8

20. वरूत्री।।

(क) वरूत्री वा शक्रा या पायुभिश्च।। ऋ० 4.41.15

21. वरूत्रीम्।।

(क) वरूत्रीं धिषणां वह।। ऋ० 1.22.10

(ख) वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य।। मा० 13.44; का० 14.4.7

22. वरूत्रीः।।

(क) अस्मान्वरूत्रीः शरणैरवन्तु।। ऋ० 3.62.3

(ख) वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः।।

मा० 11.67; का 12.6.2

23. वरूत्रीभिः।।

(क) वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु।। ऋ० 7, 34, 22

24. वमिति।।

(क) यः सोमं वमिति यः सोमवामी स्यात्।। तै० 2.3.2.6

(ख) यः सोमंवमिति यत् सौम्यः। यः सामें वमिति...ऽथैष सोमंवमिति।। मै० 2.2.13

25. अमिति।।

(क) अमितिश् चासि निर्ऋतिश् चासि।। पै० 16.46.6

वेद में तरूतृ, उद्पूर्वक वरूतृ, उज्ज्वलिति, क्षरिति रूप प्राप्त नहीं होते हैं। एवं ग्रसितम् के नौ, स्कभितम् के पन्द्रह, उत्तभितम् के चार, चत्तः के पांच, विकस्तम् के पांच, विशस्ता के चार, शंस्ता के सात, प्रशास्ता के

दो, तरुता के तेरह, वरुता के पांच, वरूत्री के आठ, वीमिति के दो तथा अमिति का एक प्रयोग प्राप्त है।।

208. बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे।। अष्टा० 7.2.64

का०- बभूथ आततन्थ जगृभ्म ववर्थ इत्येतानि निपात्यन्ते निगमविषये। निगमविषये निगमो वेदः। बभूथ-त्वं हि होता प्रथमो बभूथ (तै० सं० 3.1.4.4)। बभूविथेति भाषायाम्। आततन्थ- येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ (ऋ० 3.22.2)। आतेनिथेति भाषायाम्। जगृभ्म-जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् (ऋ० 10.47.1)। जगृहिमेति भाषायाम्। ववर्थ-ववर्थ त्वं हि ज्योतिषा। ववरिथेति भाषायाम्। क्रादिसूत्रादेवास्य प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वचनम्- निगम एव न भाषायामिति।।

सि०- विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ। येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ (ऋ० 3.22.2)। जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् (ऋ० 10.47.1)। त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ। भाषायां तु बभूविथ, आतेनिथ, जगृहिम, ववरिथेति।।

प्रस्तुत सूत्र में **'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्'**, (अष्या० 7.2.61) से **'थलि'** की, **'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'** (अष्या० 7.2.59) से **'न'** की, तथा **'गमेरिट् परस्मैपदेषु'** (अष्या० 7.2.58) से **'इट्'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में **बभूथ, आततन्थ,** जगृम्भ, **ववर्थ**- ये शब्द थल् परे रहते निपातन किये जाते हैं। निगम वेद को कहते है। **बभूथ - त्वं हि होता प्रथमो बभूथ।** यहां इट् प्राप्त है। उसका निषेध निपातित हो गया। लोक में **'बभूविथ'** बनेगा। **आततन्थ-येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ।** लोक में **'आतेनिथ'** बनेगा। **जगृम्भ-जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्।** भाषा में **'जगृहिम्'** रूप बनेगा। **ववर्थ-ववर्थ त्वं हि ज्योतिषा।** काशिका के सभी संस्करणों में यही रूप है, किन्तु यह संहितापाठ के विरुद्ध है, ऋग्वेद (19.1.22) में **'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ'** यह प्रयोग है। **ववर्थ-** में इट् प्रतिषेध **'कृसृभवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि'** (अष्या० 7.21.3) प्राप्त हो चुका है, पुनः निपातन नियम हेतु है अर्थात् वेद में ही वृञ् से उत्तर थल् को इट् का प्रतिषेध है। भाषा में इट् होकर **'ववरिय'** बनेगा।।

वेद में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. बभूथ।।

(क) इन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ।। ऋ० 1.165.5

(ख) रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ।।

ऋ० 4.10.2; कौ० 2.17.78; मा० 15.45; का० 16.5.27

(ग) यस्मै चारुतमो बभूथ।। ऋ० 5.1.9

(घ) अन्यरूपः समिथे बभूथ।।

ऋ० 7.100.6; तै० 22.12.5; कौ० 2.16.25; जै० 2.13.8

(ङ) यथा दूतो बभूथ हव्यवाहनः।। ऋ० 8.23.6

(च) इन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ।। काठ० 9.18

(छ) पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।। शौ० 11.2.28

2. आ बभूथ।।

(क) विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ।।

ऋ० 10.84.5; शौ० 4.31.5; मै० 2.7.6

3. आततन्थ।।

(क) येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ।।

ऋ० 3.22.2; का० 12.48; का० 13.4.2; तै० 4.2.4.2; मै० 2.7.11; काठ० 16.11

4. जगृभ्मा।।

(क) जगृभ्मा दूर आदिशम्।। ऋ० 1.136.10

(ख) जगृभ्मा ते दक्षिणामिन्द्र हस्तम्।। ऋ० 10.47.1

5. ववर्थ।।

(क) त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ।।

ऋ० 1.61.22; मा० 34.22; का० 33.1.16; मै० 4.14.1; काठ० 13.15; जै० 1.1.3; कौ० 1.604

वेदों में '**बभूथ**' के सत्रह, '**आततन्थ**' के छः, '**जगृभ्मा**' के दो तथा '**ववर्थ**' के सात प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

209. सनिं ससनिवांसम्।। अष्टा० 7.2.69

का०- सनोतेः सनतेर्वा धातोः सनिं ससनिवांसमिति निपात्यते। आजिं त्वाग्ने... सनिं ससनिवांसम् (मा० श्रौ० 1.3.4.2)। इडागम एत्वाभ्यासलोपाभावश्च निपात्यते। सनिम्पूर्वादन्यत्र सेनिवांसमित्येव भवति। छन्दसीदं निपातनं विज्ञायते। भाषायां सेनिवांसमिति भवति।।

सि० - सनिमित्येतत्पूर्वात्सनतेः सनोतेर्वा क्वसोरिट् एत्वाभ्यासलोपाभावश्च निपात्यते। अज्ञित्वाऽग्ने सनिंससनिवांसम्।। पावकादीनां छन्दसि प्रत्ययस्थात्कादित्वं नेति वाच्यम् (7.3.45 वा)।। हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**वस्वेकाजाद्घसाम्**' (अष्टा० 7.2.67) से '**वसु**' की, '**गमेरिट् परस्मैपदेषु** (अष्टा० 7.2.58) से इट् की तथा पूर्ववत् '**अङ्गस्य**' की अनुवृत्ति आ रही है। **सनिंससनिवांसम्** यह शब्द निपातन किया जाता है, सनिम् पूर्वक '**षणु दाने**' या '**षण संभक्तौ**' धातु से क्वसु को इट् आगम तथा '**अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि**' (अष्टा० 6.4.120) से प्राप्त एत्व तथा अभ्यास के लोप का अभाव करके द्वितीया विभक्ति के एकवचन में ही यह शब्द निपातन किया जाता है। इससे वेद में ही एक शब्द निपातन है- ऐसा स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि नियमानुपूर्वी वेदविषय में ही होती है, लोक में तो '**सेनिवांसम्**' रूप बनता है।।

वेदों में यह पद अप्रयुक्त है। अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों ने जो प्रयोग सूत्र का उपस्थापित किया है वह मानवश्रौतसूत्र का है।।

209.अ।। पावकादीनां छन्दस्युपसुख्यानम्।। वा० 7.3.45

का०- '**हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः**' (शौ० सं० 1.33.1)। यासु अलोमकाः। छन्दसीति किम? पाविका।।

सि०- पावकादीनां छन्दसि प्रत्ययस्थात्कादित्वं नेति वाच्यम्।।
वा०-हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः (शौ० सं० 1.33.1)।

'**प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः**' (अष्टा० 7.3.44) से 'आप्' परे होने पर प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व अकार के स्थान पर इकार होता है। जैसे- **गोपालकः** से **गोपालिका**, **अश्वपालकः** से **अश्वपालिका**। किन्तु वेद विषय में पावक आदि शब्दों में प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व अकार को इकार नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि वेद में पावक आदि जो पुल्लिङ्ग शब्द हैं उनको स्त्रीलिङ्ग में '**पाविका**' न होकर '**पावका**' रूप हो जाता है। उदा०- **हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः**। ये सब शब्द स्त्रीलिङ्ग के हैं जो '**आपः**' के विशेषण हैं।

वेदों में प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **पावकाः।।**
   (क) **अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः।।** मा० 33.1
   (ख) **ततः पावका आशिषो नो जुषन्ताम्।।** तै० 4.6.3.3
   (ग) **ओषधयः पावका ओषधीरेवास्मै पावकाः।।** काठ० 6.6
   (घ) **हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः।।** शौ० 1.33.1
   (ङ) **घृतश्चुतः शुचयो याः पावकाः।।** शौ० 1.33.4

इस वार्तिक के वेदों में अन्य भी अनेकत्र प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

210. घोर्लोपो लेटि वा।। अष्टा० 7.3.70

का०- घुसंज्ञकानां लेटि परतो वा लोपो भवति। दधद्रत्नानि द्राशुषे (ऋ० 4.15.3)। सोमो ददद् गन्धर्वाय (ऋ० 10.85.41)। न च भवति- यदग्निरग्नये ददात्। आडागमे सति लोपेऽपि ददादिति सिद्धं भवति। तत्र वावचनं विस्पष्टार्थम्, एषा हि कस्यचिदाशङ्का स्याद्- ददादित्येव नित्ये प्राप्ते लोप आरभ्यमाणो बाधत एवैतद् रूपमिति।।

सि०- दधद्रत्नानि दाशुषे (ऋ० 4.15.3)। सोमो ददद् गन्धर्वाय (ऋ०10.85.41)। यदग्निरग्नये ददात्।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् अङ्गस्य की अनुवृत्ति आ रही है। लेट् परे रहते घुसंज्ञक (√ दा और √ धा) अङ्ग का विकल्प से लोप होता है। उदा०- **दधद्रत्नानि दाशुषे। सोमो ददद् गन्धर्वाय।** यह लोप नहीं भी होता है- **यदग्निरग्नये ददात्।** आट् आगम होने पर और लोप करने पर '**ददात्**' रूप बनता ही है, तब सूत्र में '**वा**' पद क्यों पढ़ा गया? वस्तुतः '**वा**' यह पद विस्पष्टता के लिये है। क्योंकि किसी को शंका हो जायेगी कि '**ददात्**' ऐसा ही नित्य प्राप्त रहते लोप का विधान आरम्भ किया गया है, इसीलिये लोप इस रूप का बाध ही करता है। भाष्यकार ने इस विषय पर स्पष्टार्थ व्याख्यान लिखा। '**वेति शक्यमवक्तुम्।। कस्मान्न भवति- तदग्निरग्नये ददात्-? अस्त्वत्र लोपः, आटः श्रवणं भविष्यति। तेनोभयं सिध्यति ''दधद्रत्नानि दाशुषे''। 'दधद्रत्नानि दाशुषे'।।**

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. ददत्।।
   - (क) **अथैनं मे पुनर्ददत्।।** ऋ० 4.24.10
   - (ख) **दददृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते।।** ऋ० 5.27.4
   - (ग) **उष्ट्रानां ददत्सहस्रा दश गोनाम्।।** ऋ० 8.5.37
   - (घ) **स वो दददूर्मिमद्या सुपूतम्।।** ऋ० 10.30.3
   - (ङ) **सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।।** ऋ० 10.85.41; शौ० 14.2.4
   - (च) **को अम्बाददते ददत्।।** मै० 1.10.2
   - (छ) **तदग्निरग्नये ददत्।।** काठ० 7.12
   - (ज) **तस्मै ददद् दीर्घम् आयुः।।** पै० 1.46.5
   - (झ) **श्वशुराद् अरणं ददत्।।** पै० 8.12.10
2. दधत्।।
   - (क) **दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि।।** ऋ० 1.35.8; मा० 34.24
   - (ख) **दधद्रत्नानि दाशुषे।।** ऋ० 4.15.3; मा० 11.25
   - (ग) **अस्मे दधद्वृषणं शुष्ममिन्द्र।।** ऋ० 7.24.4
   - (घ) **वृषभः कनिक्रदद्दधद्रेतः कनिक्रदत्।।**

(ङ) सदो दधान उपरेषु सानुषु।। ऋ० 1.128.3

(च) दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः।। ऋ० 10.156.4

(छ) त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय।। मा० 20.44; का० 22.4.9

(ज) गां वयो दधत्।। मा० 2.82.5

(झ) दधद्रत्नानि दाशुषे।। का० 12.2.14; तै० 4.1.2.5

(ञ) दधत् पोषं रयिं मयि।।

तै० 1.3.18.4; 1.5.5.2; 1.6.6.3

(ट) हव्या देवेषु नो दधत्।। तै० 4.1.11.4

(ठ) दधत् रत्नानि दाशुषे।। मै० 1.1.9

(ड) आयुर्दधद्यज्ञपता अविह्नुतम्।। मै० 1.2.8

(ढ) वृषभः कनिक्रदद् दधद्रेतः कनिक्रदत्।। काठ० 3.91.5

(ण) त्वष्टा दधदिन्द्राय।। काठ० 38.6

(त) दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम्।। कौ० 2.974

(थ) इषं तोकाय नो दधद्।। कौ० 2.996

(द) दधद्रत्नानि दाशुषे।। कौ० 2.12.57

(थ) दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्।। का० 2.13.12

(न) दधद्रयिं मयि पोषम्।। कौ० 2.15.20

(प) बोधा स्तोत्रे वयो दधत्।। कौ० 2.153.1

(फ) दधद् यो धायि सुते।। जै० 1.8.5

(ब) दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम्।। जै० 3.26.10

(भ) आयुरस्मभ्यं दधत्प्रजाम्।। शौ० 9.4.22

(म) श्रद्धा यज्ञं महो दधत्।। शौ० 10.6.4; पै० 16.42.4

यजुर्वेद में 'दधत् वेत्त्वाज्यस्य होतर्यज' यह मन्त्रांश अट्ठाइसवें अध्याय की 24 से 33 कण्डिकाओं तक मिलता है।।

211. मीनातेर्निगमे।। अष्टा० 7.3.81

का०- मीनातेरङ्गस्य शिति प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति निगमविषये। प्रमिणन्ति व्रतानि। निगम इति किम्? प्रमीणाति।।

सि०- शिति ह्रस्वः। प्रमिणन्ति व्रतानि। लोके - प्रमीणन्ति।।

प्रस्तुत सूत्र में '**प्वादीनां ह्रस्वः**' (अष्ट्या० 7.3.80) से '**ह्रस्वः**' की, '**ष्ठिवुक्लमुचमां शिति**' (अष्ट्या० 7.3.75) से '**शिति**' की तथा पूर्ववत् '**अङ्गस्य**' की अनुवृत्ति आ रही है। निगम-विषय में '**मीञ् हिंसायाम्**' अङ्ग को शित् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व होता है। **प्रमिणन्ति**। '**हिनु मीना**' (अष्ट्या० 8.4.15) से **प्रमिणन्ति** में णत्व तथा '**श्नाभ्यस्तयोरातः**' (अष्ट्या० 6.4.112) से श्ना के आ का लोप होता है। काशिका में प्राप्त प्रयोग '**प्रमिणन्ति व्रतानि**' है जब कि ऋग्वेद (10.10.5) में '**प्र मिनन्ति व्रतानि**' पद है। निगम में ऐसा क्यों कहा गया? क्योंकि लोक में '**प्रमीणाति**' या '**प्रमीणन्ति**' रूप ह्रस्व न होने से दीर्घ ही रहेंगे।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं -

1. **प्रमिनाति।।**
   (क) **यः समानं न प्र मिनाति धाम।।** ऋ० 7.63.3
2. **प्रमिनन्ति।।**
   (क) न प्र मिनन्ति विदथेषु धीराः।। ऋ०3, 28, 4
   (ख) **सूर्यस्य चक्षुः प्र मिनन्ति वृष्टिभिः।।** ऋ० 5.59.5
   (ग) **न किरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि।।**
   ऋ० 10.10.5; शौ० 18.1.5
3. **प्र अमिनाः।।**
   (क) **आन् मायिनाम् अमिना प्रोत मायाः।।** पै० 13.6.4
4. **प्र मिनीत्।।**
   (क) **मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्।।** शौ० 6.110.3
5. **मिनामि।।**
   (क) **सोम ते प्राहं मिनामि पाक्या।।** ऋ० 10.25.3
6. **आ मिनाति।।**
   (क) **सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति।।**
   ऋ० 2.12.5; शौ० 20.34

(ख) यानि दाधार नकिरा मिनाति।। ऋ० 6.30.2

(ग) वसु नकिष्टदा मिनाति ते।। ऋ० 8.88.3

(घ) न किष्टदा मिनाति ते।। कौ० 1.266

7. आ मिनन्ति।।

(क) न वां देवा अमृता आ मिनन्ति।। ऋ० 5.69.4

एवं वेदो में प्रमिनाति, प्रमिनन्ति, प्रअमिनाः, प्रमिनीत्, मिनामि, आमिनाति, आमिनन्ति- इन रूपों का प्रयोग चौदह स्थलों पर हुआ हैं।।

212. अस्तिसिचोऽपृत्तफे।। अष्टा० 7.3.96

का०- अस्तेरङ्गात् सिजन्तात् च परस्यापृत्तफस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति। अस्तेः- आसीत्। आसीः। सिजन्तात्- अकार्षित्। असावीत्। अलावीत्। अपावीत्। अपृत्तफ इति किम्? अस्ति। अकार्षम्। आहिभुवोरीटि प्रतिषेध इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः, तेनेह न भवति-आत्थ, अभूदिति।। बहुलं छन्दसि अष्टा० 7.3.97।। अस्तिसिचोरपृत्तफस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति बहुलं छन्दसि विषये। आप एवेदं सलिलं सर्वमाः। आसीदिति स्थान आः क्रियापदम्। अहर्वाव तर्ह्यासीन्न रात्रिः (मै० सं० 1.5.12)। सिचः खल्वपि-गोभिरक्षाः (ऋ० 9.107.1)। प्रत्यञ्चमत्साः (ऋ० 10.28.4)। अभैषीर्मा पुत्रकेति च भवति। छान्दसत्वाद् माङ्योगेऽप्यडागमो भवति-अक्षाः, अत्सा इति सिच इडभावश्च।।

सि०-अस्तिसिचोऽपृक्ते (7.3.96)। बहुलं छन्दसि (7.3.97)। सर्वमा इदम् (ऋ० 10.129.3)। आसीदिति प्राप्ते। अस्तेर्लङ् तिप्। ईडभावः अपृक्तत्वाद् हलङ्यादिलोपः। रुत्वविसर्गौ। संहितायां तु 'भो भगो'- इति यत्वम्। 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपः। गोभिरक्षाः (ऋ० 9.107.9)। सिच इडभावश्छन्दसः। अट् शेषं पूर्ववत्।।

प्रस्तुत सूत्र में 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (अष्य० 7.3.96) की, 'ब्रुव ईट्'

(अष्या० 7.3.93) से 'ईट्' की, **'उतो वृद्धिर्लुकि हलि'** (अष्या० 7.3.89) से 'हलि' की, **'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके'** (अष्या० 7.3.87) से 'सार्वधातुके' की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। अपृक्त हलादि सार्वधातुक को अस् धातु से उत्तर तथा सिच् से उत्तर ईट् आगम होता है, जैसे आसीत्, आसीः।- ये अस् धातुएं हैं। **अकार्षित्, अहार्षीत्, अपावीत्, अलावीत्,** - ये सिच् से उत्तर के प्रयोग हैं।- इन सब में ईट् आगम हुआ है। किन्तु वेद-विषय में अस् तथा सिच् से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को बहुल करके ईट् आगम होता है। **आप एवेदं सलिलं सर्वमाः।**- काशिका में यही पाठ है, किन्तु ऋग्वेद (10.129.3) में **'सलिलं सर्वमा इदम्''** पाठ है। **सर्वम् आ इदम्।** यहाँ **'सर्वम्-आः- इदम्''** **'आः'** आसीत् अर्थ में प्रयुक्त है। **सर्वम् आः** - यहाँ अस् धातु से लङ् लकार में आट् आगमादि होकर, तिप् का हल्ङ्यादिलोप होकर **आस्='आः'** बना। **'अहर्वाव तर्ह्यसीन्न रात्रिः'** यहाँ बहुलग्रहण से ईट् आगम हो गया। **गोभिरक्षाः।** - यहाँ क्षर से **'अक्षाः'** लुङ् लकार में बना है। **'अतो ल्रान्तस्य'** (अष्या० 7.2.2) से वृद्धि, अट्, क्षार् स् त। इट् का अभाव छान्दस होने से है। **'रात्सस्य'** (अष्या० 8.2.24) से रेफ से उत्तर स् का लोप हो गया, र् को विसर्ग होकर **'अक्षाः'** बना। इसी प्रकार **'प्रत्यञ्चमत्साः'** में **'अत्साः'** बना। बहुल से ईट् आगम होता भी है- **'अभैषीर्मा पुत्रकेति'**।- यहाँ ञिभी धातु से **'अभैषीः'** में ईट् आगम हो गया। **'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु'** (अष्या० 7.2.1) से वृद्धि होकर अभैस् ईस् = **अभैषीः।** यह छान्दस प्रयोग है, अतः माङ् का योग होने पर भी **'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि'** (अष्या० 6.4.75) से अट् आगम हो गया।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. आः।।

(क) **दुहितुरा अनुभृतमनर्वा।।** ऋ० 10.61.5

(ख) **चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।।**

ऋ० 10.85.7; शौ० 14.1.6; पै० 18.1.6

2. आसीत्।।

(क) **अपां बिलमपिहितं यदासीत्।।** ऋ० 1.32.11

(ख) यो देवेष्वधि देव एक आसीत्।। मा० 27.26

(ग) द्यौर भूमि कोश आसीत्।। पै० 18.16

3. अक्षाः।।

(क) दिवो न वृष्टिः पवमानो अक्षाः।। ऋ० 9.89.1

(ख) सिन्धुर्न निम्नमभि वाज्यक्षाः।। ऋ० 9.97.45

(ग) हियानो धाराभिरक्षाः।। ऋ० 98.2

(घ) अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः।। ऋ० 9.107.9

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अन्य भी अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

213. ह्रस्वस्य गुणः।। अष्टा० 7.3.108

का०- संबुद्धाविति वर्तते। ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति संबुद्धौ। परतः। हे अग्ने। हे वायो। हे पटो।। जसि च।। अष्टा० 7.3.109।। जसि परतो ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति। अग्नयः। वायवः। पटवः धेनवः। बुद्धयः।। जसादिषु छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधाया ह्रस्व इत्येतस्मात्।। इतः प्रकरणात् प्रभृति छन्दसि वेति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? अम्बे, दर्वि, शतक्रत्वः, पश्वे नृभ्यः, किकिदीव्या। अम्बे, अम्ब (ऋ० 10.97.2)। पूर्णा दर्वि (मा० सं० 3.49); पूर्णा दर्वी। अधा शतक्रत्वः (ऋ० 10.97.2), शतक्रतवः (काठ० सं० 16.13)। पश्वे नृभ्यः (ऋ० 1.43.2), पशवे (ऋ० 3.62.14)। किकिदीव्या (मै० सं० 2.7.13), किकिदीविना (ऋ० 10.97.13)।।

सि०- ह्रस्वस्य गुणः (7.3.108)। जसि च (7.3.109)।। जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः।। अधा शतक्रत्वो यूयम् (ऋ० 10.97.2)। शतक्रतवः। पश्वे नृभ्ये यथा गवे (ऋ० 1.43.2)। पशवे।।

सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है, जैसे- हे अग्ने। हे वायो। हे पटो इत्यादि। सु के स् का लोप 'एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (अष्टा० 6.1.67) से गुण कर लेने पर हो गया। अग्रिम सूत्र 'जसि च' (अष्टा०

7.3.109) में कहा गया है कि ह्रस्वान्त अङ्ग को भी जस् परे रहते गुण हो जाता है, जैसे- अग्नयः। अग्नि जस् = अग्ने अस् = अग्नयस् = अग्नयः। ऐसे ही **वायवः, पटवः, धेनवः, बुद्धयः** इत्यादि में होगा। यह नियम सूत्र में लौकिक है। किन्तु वेद में सभी विधियां वैकल्पिक होती हैं। अतः इस सूत्र पर **''जसादिषु छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधाया ह्रस्व इत्येतस्मात्''** यह वार्तिक है। वेद विषय में जस् आदि सुप् के परे रहने परे गुण का विधान विकल्प से **'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** (अष्या० 7.3.108) के पूर्व तक किया है। इस सूत्र से पूर्व **'जसि च'** (अष्या० 7.3.109) सूत्र है, अतः यह इसी नियम के अन्तर्गत है। **'आङो नाऽस्त्रियाम्'** (अष्या० 7.3.119) सूत्र सप्तमाध्याय के तृतीयपाद का अन्तिम है और सप्तम अध्याय के चतुर्थ पाद का प्रथम सूत्र **'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** है, इस प्रकार **'जसि च'** (अष्या० 7.3.109) से लेकर **'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** (अष्या० 7.4.1) तक ग्यारह सूत्र जसादि के अन्तर्गत हुए, क्योंकि **'जसि च'** (अष्या० 7.3.109) सूत्र इनके आदि में है। इनमें सुबन्त-रूप के सभी विधान वेद में वैकल्पिक हैं। इसका प्रयोजन **अम्बे, दर्वि, शतक्रत्वः, पश्वे, किकिदीव्या** हैं।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोग हैं, यथा-

1. **अम्ब।।**
   - (क) **धावन्त्वम्ब नि ष्वर।।** तै० 1.4.1.2
   - (ख) **प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।।** ऋ० 2.41.16
   - (ग) **अवे अम्ब सुलाभिके।।** शौ० 20.126.7
   - (घ) **शतं वो अम्ब धामानि।।** पै० 11.6.1
2. **अम्बे।।**
   - (क) **अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके।।**

     मा० 23.18; काठ० 22.5.1; तै० 7.4.19.1
3. **शतक्रत्वः।।**
   - (क) **अधा शतक्रत्वो यूयम्।।** ऋ० 10.97.2; मा० 12.76
4. **शतक्रतवः।।**
   - (क) **अधा शतक्रतवो यूयम्।।** पै० 11.6.2

5. पश्वे।।
   (क) पश्वे नृभ्यो यथा गवे।। ऋ० 1.43.2; काठ० 23.12
   (ख) पश्वे तोकाय शं गवे।। ऋ० 8.5.20
   (ग) पश्वे तोकाय तनयाय जीवसे।। ऋ० 10.35.12
6. पशवे।।
   (क) द्विपदे चतुष्पदे च पशवे।। ऋ० 3.62.14
   (ख) ओषधीभ्य पशवे नो जनाय।। तै० 3.1.9.3
   (ग) अपाकरोति पशवो वै बर्हिः।। काठ० 26.7
7. किकिदीव्या।।
   (क) प्र पत चाषेण किकिदीव्या।। पै० 11.2.14
8. किकिदीविना।।
   (क) चाषेण किकिदीविना।। ऋ० 10.97.13; मा० 12.87
   (ख) प्र पत श्येनेन किकिदीविना।। तै० 4.2.6.4
   (ग) प्र पत चाषेण किकिदीविना।।

पै० 19.37.15; काठ० 16.13

214. नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके।। अष्टा० 7.3.87

का०- अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्याजादौ पिति सार्वधातुके गुणो न भवति नेनिजानि। वेविजानि। परिवेविषाणि। अनेनिजम्। अवेविजम्। पर्यवेविषम्।.......।। बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम्।। जुजोषत् (ऋ० 1.173.4) इति यथा स्यात्। पस्पशाते। चाकशीति, वावशीति। यङ्लुकि छन्दसमुपधाह्रस्वत्वं द्रष्टव्यम्, पस्पशात इत्यत्राभ्यासह्रस्वत्वं च। प्रकृत्यन्तराणां वा स्पशिकशिवशीनामेतानि रूपाणि।।

सि०- नाभ्यस्तस्याचि (7.3.87) इति निषेधे बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम्।। आनुषग्जुजोषत् (ऋ० 1.17.3.4)।।

अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते अभ्यस्त- संज्ञक अङ्ग की लघु उपधा

इक् को गुण नहीं होता।- जैसे, **नेनिजानि**। यहाँ णिजिर् धातु के 'ण' को '**णो नः**' (अष्टा॰ 6.1.63) से 'न' हो गया। **लोट्स्थानी मिप्** को '**मेर्निः**' (अष्टा॰ 3.4.89) से हुआ, निज् नि। आट् आगम '**आडुत्तमस्य पिच्च**' (अष्टा॰ 3.4.92) से, पुनः द्वित्व '**श्लौ**' (अष्टा॰ 6.1.10) से होकर तथा अभ्यास कार्य होकर 'नि निज् आट् नि' रहा। अभ्यास को गुण '**निजां त्रयाणां गुणः श्लौ**' (अष्टा॰ 7.4.75)। से होकर ने निज् आनि, यहां अजादि पित्स्थानी सार्वधातुक 'आनि' परे होने पर '**पुगन्तलघूपधस्य च**' (अष्टा॰ 7.3.86) सूत्र से गुण प्राप्त था, उसका '**नाभ्यस्तस्याचि पिति सर्वधातुके**' (अष्टा॰ 7.3.87) से निषेध होने से '**नेनिजानि**' बना। इसी प्रकार **वेविजानि, परिवेविषाणि, अनेनिजम्, अवेविजम्, पर्यवेविषम्**, में गुण निषेध होने से रूप बने। **अनेनिजम्, अवेविजम्**, लङ् लकार के हैं इनमें '**तस्थस्थमिपां तांतंतामः**' (अष्टा॰ 3.4.101) से मिप् को 'अम्' हो गया है। ये नियम लोक के हैं। प्रस्तुत सूत्र पर '**बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम्**' वार्तिक है। जिससे वेदविषय में '**नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके**' (अष्टा॰ 7.3.87) के नियम रहने पर भी बहुल प्रकार से अभ्यस्त संज्ञक का लघूपध गुण-निषेध होता है। अभ्यस्त संज्ञा का अभिप्राय यह है कि '**उभे अभ्यस्तम्**' (अष्टा॰ 6.1.5) इस द्वित्व प्रकरण में जो द्विवचन कहा गया है, वे दोनों द्विवचन अभ्यस्त संज्ञक है। जैसे, **जुषोषत्**। यह जुष् धातु तुदादिगणी है, पुनरपि इसे वेद में जुहोत्यादिगणी मानकर अभ्यस्त कर दिया- जुष् + श्लु + लेट तिप् अट् का आगम, लेट् में '**लेटोऽडाटौ**' (अष्टा॰ 3.4.94) से हो गया। जु जुष् + अट् तिप् = त् (इ का लोप)। यहाँ पर अजादि पित् सार्वधातुक पर में है, वेद विषय में गुण हो गया 'जुषोषत्' बना।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग हैं-

1. **जुजोषत्**।।
   (क) **जुजोषदिन्द्रो दस्मवर्चा**।। ऋ॰ 1.173.4
   (ख) **आतिथ्यमानुषग् जुजोषत्**।। तै॰ 1.2.14.4
   (ग) **आतिथ्यमानुषग् जुजोषत्**।। काठ॰ 6.11
   (घ) **हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत्**।। ऋ॰ 7.101.5

215. नित्यं छन्दसि।। अष्टा० 7.4.8

का०- छन्दसि विषये णो चङ्युपधाया ऋवर्णस्य स्थान ऋकारादेशो भवति नित्यम्। अवीवृधत् पुरोडाशेन (मा० सं० 28.23)। अवीवृधताम्। अवीवृधन्।।

सि०- छन्दसि विषये (णौ) चङ्युपधाया ऋवर्णस्य ऋन्नित्यम्। अवीवृधत्।।

प्रस्तुत सूत्र में '**उर्ऋत्**' (अष्य० 7.4.7) की, '**णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः**' (अष्य० 7.4.1) की तथा पूर्ववत् अङ्गस्य की अनुवृत्ति आ रही है। चङ्परक णि परे रहते उपधा ऋवर्ण के स्थान में नित्य ही ऋकारादेश वेदविषय में होता है। **अवीवृधत् पुरोडाशेन**। यहां वृध् + णिच् + लुङ् (तिप्) = अट् + वृध् + णिच् + चङ् त। '**चङि**' (अष्य० 6.1.11) से चङ् के कारण द्वित्व अभ्यासकार्य अट् वृ वृध अ त् = अभ्यासस्थ ऋ के स्थान में '**उरत्**' (अष्य० 7.4.66) एवं '**उरण रपरः**' (अष्य० 1.1.50) से अर् और '**हलादि शेषः**' (अष्य० 7.4.60) से मात्र व शेष, अ व वृध् अत् '**नित्यं छन्दसि**' (अष्य० 7.4.8) से धातु की उपधा में ऋ रह गया, तब सन्वद् भाव = सन् लगने पर जो कार्य होते हैं, वैसा '**सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे**' (अष्य० 7.4.93) से हुआ। इसका अर्थ है कि अ के स्थान में '**सन्यतः**' (अष्य० 7.4.79) से ई० **अविवृध् अत्**। पुनः दीर्घविधान '**दीर्घो लघोः**' (अष्य० 7.4.94) से होकर **अवीवृधत्** रूप बना। भाषा में '**उर्ऋत्**' (अष्य० 7.4.7) से विकल्प से चङ्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा ऋवर्ण के स्थान में ऋकारादेश होकर **अवीवृधत्** एवं **अववर्धत्** दोनों रूप में बनेंगे।। इसी प्रकार **अवीवृधताम्**, **अवीवृधन्** में नियम बना।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अनेक प्रयोग प्राप्त हैं-

1. **अवीवृधत्।।**

    (क) **गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत्।।** ऋ० 8.8.15

    (ख) **अवीवृधद्वो अमृता अमन्दीत्।।** ऋ० 8.80.10

    (ग) **अवीवृधत्पुरोडाशेन।।** मा० 28.23

(घ) ब्रह्म देवाँ अवीवृधत्।। काठ० 1.12

2. अवीवृधन्।।

(क) अवीवृधन् युज्यं ते रयिं नः।। ऋ० 7.36.7

(ख) इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्।। मा० 12.56

(ग) ब्रह्म देवा अवीवृधन्।। तै० 1.1.13.1

(घ) त्वां स्तोमा अवीवृधन्।। शौ० 20.69.6

216. नच्छन्दस्यपुत्रस्य।। अष्टा० 7.4.35

का०- छन्दसि विषये पुत्रवर्जितस्यावर्णान्तस्याङ्गस्य क्यचि यदुक्तं तद् न भवति। किं चोक्तम्? दीर्घत्वमीत्वं च। मित्रयुः (मै० सं० 2.6.12)। स स्वेदयुः (मै० सं० 4.12.2)। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० 3.27.1)। अपुत्रस्येति किम्? पुत्रीयन्तः सुदानवः (ऋ० 7.96.4)। अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्।। जनीयन्तो न्वग्रव (ऋ० 7.96.4)।।

सि०- पुत्रभिन्नस्यादन्तस्य क्यचि ईत्वदीर्घौ न। मित्रयुः। 'क्याच्छन्दसि' (3.2.170)- इति उः। अपुत्रस्य किम्? पुत्रीयन्तः सुदानवः (ऋ० 7.96.4)। अपुत्रादीनामिति वाच्यम्।। जनीयन्तोन्वग्रवः (ऋ० 7.96.4)।।

प्रस्तुत सूत्र में '**क्यचि च**' (अष्या० 7.4.33) से '**क्यचि**' की, '**अस्य च्वौ**' (अष्या० 7.4.35) से '**अस्य**' की तथा पूर्ववत् '**अङ्गस्य**' की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में पुत्र शब्द को छोड़कर अवर्णान्त अङ्ग को क्यच् परे रहते जो कुछ कहाँ है, वह नहीं होता। वस्तुतः लोक में '**इच्छा**' अर्थ में स्वसम्बन्धी इच्छा के सुबन्त कर्म के बाद विकल्प से क्यच् प्रत्यय '**सुपः आत्मनः क्यच्**' (अष्या० 3.1.8) से होता है। तथा '**क्यचि च**' (अष्या० 7.4.33) से अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश क्यच् प्रत्यय आने पर होता है। जैसे- '**आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति**'। पुत्र + य + ति = **पुत्रीयति**। यहां पुत्र के अवर्ण को ईकारादेश हुआ है। क्यच् प्रत्यय परे रहते अशन, धन आदि अकारान्त शब्द को '**अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु**' (अष्या० 7.4.34) से अशनाय,

उदन्य, धनाय- ये शब्द क्रमशः बुभुक्षा पिपासा गर्ध - इन अर्थों में निपातन से आत्व होकर बनते हैं। इनमें '**क्यचि च**' (अष्य० 7.4.33) से ईत्व नहीं होता है। इन सब नियमों से लोक में क्यच् प्रत्यय परे रहते अवर्ण के स्थान पर ईत्व, आत्व दीर्घ हुआ है।। अपुत्र ऐसा क्यों कहा गया? वेद-विषय में भी पुत्र शब्द के अवर्ण के स्थान में लौकिक संस्कृत के समान क्यच् प्रत्यय परे रहने पर ईत्व होता है। अतः पुत्र शब्द का निषेध सूत्र में हुआ है। यथा-'**पुत्रीयन्तः सुदानवः**'। वार्तिककार का 'अपुत्रस्य' पद पर मतभेद है, उन्होंने कहा कि 'अपुत्रादि' कहना चाहिए था। क्योंकि पुत्र से भिन्न शब्दों के साथ भी इच्छा अर्थ में 'क्वय्' प्रत्यय परे रहते हुए 'ईत्व' प्रत्यय दिखायी देता है, जैसे- **जनीयन्तो न्वग्रवः**। यहां 'जन' शब्द से भी '**जनमात्मनः इच्छन्ति जनीयन्ति**'। शतृ होने से '**जनयन्तः**' बना है। हरदत्त का कथन है कि '**अपुत्रस्य**' पद सूत्र में कहने से अव्याप्तिदोष दिखायी देता है, अतः '**अपुत्रादेः**' कहना उचित होगा। इन्हीं सब कारणों को ध्यान में रखते हुए नागेशभट्ट ने हरदत्त के विषय में कहा- '**अत्र 'आदि' ग्रहणस्य प्रयोजनाऽन्तरं मृग्यमिति हरदत्तः**'।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र तथा वार्तिक के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **मित्रयुः**।।
   (क) **मित्रयुररतीनतारीत्**।। मै० 2.6.12; काठ० 15.8
2. **स्वेदयुः**।।
   (क) **स स्वेदयुः शुशुचानो न घर्मः**।। मै० 4.12.2
3. **सुम्नयुः**।।
   (क) **भरस्व सुम्नयुर्गिरः**।। ऋ० 1.79.10।।
   (ख) **शर्धं मारुतं सुम्नयुर्गिरः**।। ऋ० 2.30.11
   (ग) **यजमानः सुम्नयुरिदमसीत्**।। तै० 2.5.7.4
   (घ) **यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः**।। शौ० 7.11.1

वार्तिककार ने कहा है कि सूत्रकार का '**अपुत्रस्य**' कथन उपयुक्त नहीं है, यहाँ '**अपुत्रादि**' ऐसा कहना चाहिये। यतोहि पुत्रातिरिक्त शब्दों के साथ भी इच्छा अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय परे रहने पर 'ईत्व' देखा गया है। '**जनीयन्तोऽन्वग्रवः**'। '**जनं इच्छन्तः**' इस अर्थ में 'क्यच्' 'ईत्व' होकर

'जनीय' धातुसंज्ञा, शतृप्रत्यय पुनः पररूप होकर 'जनीयन्तः' प्रथमा बहुवचनान्त पद बना। नागेशभट्ट ने कतिपय विद्वानों के विचार से '**अपरे जनीं वधूमिच्छन्तः इत्याहुः**' कहकर अर्थभिन्नता उपस्थित की है। अतः उन्होनें वार्तिककार द्वारा 'आदि' पद के अर्थ को हरदत्त के मत में अन्वेषणीय बताया है- '**अत्र आदिग्रहणस्य प्रयोजनाऽन्तरं मृग्यमिति हरदत्तः**''।।

वेदों में '**जनीयन्तः**' का प्रयोग भी अनेकत्र आया है-

(क) **जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिम्**।। ऋ० 4.17.16

(ख) **जनीयन्तो न्यग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः**।। ऋ० 7.96.4

एवं सूत्र तथा वार्तिक के उभयथा प्रयोग वेदसंहिताओं में प्राप्त होते हैं।।

217. दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यतिरिषण्यति।। अष्टा० 7.4.36

का०- दुरस्यः द्रविणस्युः वृषण्यति रिषण्यति इत्येतानि छन्दसि निपात्यन्ते। दुष्टशब्दस्य क्यचि दुरस्भावो निपात्यते। अवियोना दुरस्युः। दुष्टीयतीति प्राप्ते। द्रविणशब्दस्य द्रविणस्भावो निपात्यते। द्रविणस्युर्विपन्यया (ऋ० 6.16.34)। द्रविणीयतीति प्राप्ते। वृष्शब्दस्य वृषणभावो निपात्यते। वृषण्यति। (ऋ० 9.5.6)। वृषीयतीति प्राप्ते। रिष्टशब्दस्य रिषणभावो निपात्यते। रिषण्यति (ऋ० 2.23.12)। रिष्टीयतीति प्राप्ते।।

सि०- एते क्यचि निपात्यन्ते। भाषायां तु उप्रत्ययाभावात्-दुष्टीयन्ति, द्रविणीयति, वृषीयति, रिष्टीयति।।

प्रस्तुत सूत्र में '**न च्छन्दस्यपुत्रस्य**' (अष्टा० 7.4.35) से 'छन्दसि' की, '**क्यचि च**' (अष्टा० 7.433) से 'क्यचि' की तथा अङ्गस्य पद की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति, रिषण्यति- ये शब्द क्यच्प्रत्ययान्त निपातित किये जाते हैं।। क्यच् प्रत्यय परे रहते इन पदों को क्रमशः दुरस्युः में दुष्ट शब्द को दुरस्, द्रविणस्युः में द्रविण शब्द को द्रविणस्, वृषण्यति में वृष शब्द को वृषण् तथा रिषण्यति में रिष्ट शब्द को रिषण् आदेश निपातित है। उदा०- 'अवियोना दुरस्युः'। दुष्टम् आत्मन

इच्छति- यहां '**क्याच्छन्दसि**' (अष्टा० 3.2.170) से उ प्रत्यय हुआ है। लोक में 'दुष्टीय' नाम धातु से दुष्टीयति। **द्रविणस्युर्विपन्यया**। पूर्ववत् 'उ' प्रत्यय होकर बना। लोक में **द्रविणीयति** बनेगा। **वृषण्यति**। लोक में वृषीय नामधातु से वृषीयति हुआ। **रिषण्यति**। लोक में '**रिष्टीयति**' बनेगा।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिले हैं-

1. **दुरस्युः**।।
   (क) **अवबाढो दुरस्यू रक्षोघ्नो वलगघ्नः प्रोक्षामि**।।
   काठ० 2.11।
   (ख) **निरस्तो वलगोऽवबाढो दुरस्युरिति**०।। काठ० 25.6
2. **दुरस्यवः**।।
   (क) **अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवः**।। शौ० 5.3.2
   (ख) **अपाञ्चो यन्तु प्रबुधा दुरस्यवः**।। पै० 5.4.2
3. **द्रविणस्युः**।।
   (क) **अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया**।।
   ऋ० 6.16.34
   (ख) **ऋतज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकानः**।।
   ऋ० 10.64.16; मा० 33.6; का० 32.1.6; तै० 4.3.13.1; मै० 4.10.1; का० 2.14; जै० 3.22.9; कौ० 1.4.2.13.66
4. **द्रविणस्युम्**।।
   (क) **तं त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः**।। ऋ० 2.6.3
5. **द्रविणस्यवः**।।
   (क) **देवस्य द्रविणस्यवः**।।
   ऋ० 5.13.2; मै० 4.10.2; जै० 3.28.9
6. **वृषण्यति**।।
   (क) **सुशिल्पे बृहती मही पवमानो वृषण्यति**।। ऋ० 9.5.6

7. वृषण्यतः।।

(क) यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।।

शौ० 6.70.1.1-2-3

8. रिष्ण्यति।।

(क) अदेवेन मनसा यो रिषण्यति।।

ऋ० 2.23.12; काठ० 4.16

9. रिषण्यत।।

(क) मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।।

ऋ० 8.1.1; शौ० 20.85.1

वेदसंहिताओं में दुरस्युः, दुरस्यवः, द्रविणस्युः, द्रविणस्युम्, द्रविणस्यवः, वृषण्यति, वृषण्यतः, रिषण्यति, रिषण्यत- ये प्रयोग छब्बीस स्थलों पर मिले हैं।।

218. अश्वाघस्यात्।। अष्टा० 7.4.37

का०- अश्व अघ इत्येतयो क्यचि परतः छन्दसि विषय आकारादेशो भवति। अश्वायन्तो मघवन् (ऋ० 7.32.23)। मा त्वा वृका अघायवोः विदन् (मा० सं० 4.34)। एतदेवात्ववचनं ज्ञापकं 'नच्छन्दस्यपुत्रस्य' (7.4.35) इति दीर्घप्रतिषेधो भवतीति।।

सि०- अश्व अघ इत्येतयोः क्यचि आत्स्याच्छन्दसि। अश्वायन्तो मघवन् (ऋ० 7.32.23)। मा त्वा वृको अघायवः (मा० सं० 4.34) 'न छन्दसि' (4.4.35) इति निषेधो नेत्त्वमात्रस्य किन्तु दीर्घस्यापीति। अत्रेदमेव ज्ञापकम्।।

प्रस्तुत सूत्र में छन्दसि क्यचि, अङ्गस्य, की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। वेदविषय में अश्व अघ अङ्गों को क्यच् परे रहते आकारादेश होता है। अश्वायन्तो मघवन्। यहां 'आत्मनः अश्वमिच्छन्तः' इस अर्थ में अश्व + क्यच् = अश्वाय्+ शप् लट् शतृ = अश्वायत् + जस् (प्रथमा का बहुवचन) अश्वायन्तः बना। मा त्वा वृका अघायवो विदन्। अघ शब्द से अघायवः।

यहां क्यच् परे रहते अ के ईत्व का अपवाद 'आ' आदेश हो गया है। यह आत्व आदेश का विधान ही ज्ञापक है- **'न छन्दस्यपुत्रस्य'** (अष्ट्या० 7.4.35) यह सूत्र दीर्घ का प्रतिषेध करता है।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिले हैं-

1. **अश्वायते।।**

(क) **अश्वो अश्वायते भव।।** ऋ० 6.45.26

2. **अश्वायन्तः।।**

(क) **अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनः।।**

शौ० 20.121.2 ऋ० 7.32.23; मा० 27.36;
का० 26.5, 5; मै० 2.13.9; काठ० 36.12;
कौ० 2.681; जै० 3.4.2

(ख) **अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तः।।**

ऋ० 10.160.5; शौ० 20.26.5

(ग) **गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः।।**

शौ० 20.125.3

3. **अघायति।।**

(क) **जहि यो नो अघायति शृणुष्व सुश्रवस्तमः।।**

ऋ० 1.131.7

4. **अघायवः।।**

(क) **मा त्वा वृका अघायवो विदन्।।**

मा० 4.34; का० 4.10.5; काठ० 2.7; मै० 1.2.6

(ख) **ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः।।**

मा० 11.76; का० 12.7.1; तै० 4.1.10.3

(ग) **मा त्वा वृका अघायवः।।** तै० 1.2.6

(घ) **मनोसमृद्धा अघायवः।।** शौ० 1.27.2

(ङ) **इवाभितोसमृद्धा अघायवः।।** शौ० 1, 27, 3

(च) **ये माघायवः प्राच्या दिशोभिदासात्।।** शौ० 16.18.1

'ये भाघायवः इतना मन्त्रांश' (शौ० 19.18) उन्नीसवें काण्ड के अठारहवें के सम्पूर्ण मन्त्रों में मिलता है।

219. देवसुम्नयोर्यजुषि काठके।। अष्टा० 7.4.38

का०- देव सुम्न इत्येतयोः क्यचि परत आकारादेशो भवति काठके यजुषि। देवायते यजमानाय (काठ० सं० 2.9)। सुम्नायन्तो हवामहे (काठ० सं० 8.17)। यजुषीति किम्? देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० 3.27.1)। काठक इति किम्? सुम्नयुरिदमसीदमसि (तै०सं० 2.5.7.4)।।

सि०- अनयोः क्यचि आत्स्याद्, यजुषि कठशाखायाम्। देवायन्ते यजमानाय (काठ० सं० 2.9)। सुम्नायन्तो हवामहे (काठ० सं० 8.17)। इह यजुःशब्दो मन्त्रमात्रपरः, किन्तु वेदोपलक्षकः। तेन ऋगात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति। किं च ऋग्वेदेऽपि भवति, स चेन्मन्त्रो यजुषि कठशाखायां दृष्टः। यजुषीति किम्? देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० 3.27.1) बह्वचानामप्यस्ति कठशाखा, ततो भवति प्रत्युदाहरणम्- इति हरदत्तः।।

प्रस्तुत सूत्र में 'अश्वघस्यात्' (अष्टा० 7.4.37) से 'आत्' की तथा पूर्ववत् छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य की अनुवृत्ति आ रही है। यजुर्वेद की काठक शाखा में देव तथा सुम्न अङ्ग को क्यच् परे रहते आकारादेश होता है। **देवायते यजमानाय। सुम्नायन्तो हवामहे।** यहां क्यच् परे रहते प्राप्त ईत्व का अपवाद आ आदेश हो गया। काशिका के कतिपय संस्करणों में तथा सिद्धान्तकौमुदी में भी **'देवयन्तो यजमानाः'** पाठ है, जो काठकसंहिता के पाठ के विरुद्ध है। यजुर्वेद में ही क्यों? **देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।** यह मन्त्र ऋग्वेद की कठशाखा का है, अतः यहां आकार आदेश नहीं हुआ। काशिकाकार ने जो उदाहरण **'देवाञ्जिगाति सुम्नयुः'** यह ऋग्वेद की काठकशाखा का दिया है, वह काठकशाखा सम्प्रति अप्राप्त है। भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि सूत्र में **'यजुः'** शब्द न केवल यजुर्वेद के मन्त्रों का ज्ञापक है किन्तु वेदमात्र का उपलक्षक है। अतः ऋगात्मक मन्त्र जो यजुर्वेद में हैं, उनमें भी यह नियम कार्य करता है। **'यजुर्वेदस्थे'** पद का अभिप्राय नागेशभट्ट ने **'यजुर्वेदीय = काठशाखास्थे'**

दर्शाया है। वस्तुतः ऋग्वेदान्तर्गत भी यह सूत्र तब कार्य करता है, जब वह मन्त्र यजुर्वेद की कठशाखा में उपलब्ध होवे। इस प्रकार तीन विचार प्राप्त होते हैं। 1. जो मंत्र यजुर्वेद के है, उनमें इस सूत्र की प्राप्ति होती है। 2. जो मन्त्र ऋग्वेद के हैं यजुर्वेद के उन मंत्रों में भी और 3. जो यजुर्वेद की कठशाखा में मिलते हैं, ऋग्वेद के उन मंत्रों में भी। काठक में- इसका क्या फल है? **'सुम्नयुरिदमसीदमसि'**। यह मन्त्रभाग तैत्तिरीय शाखा का है अतः आकारादेश नहीं होता है। हरदत्त का कथन है कि ऋग्वेदियों की भी कठशाखा है इसीलिये ऋग्वेद से प्रत्युदाहरण लिया है। कठ यजुर्वेद की शाखा है। यजुर्वेद की काठक शाखा से अतिरिक्त किसी अन्य शाखा में यह सूत्र कार्य नहीं करेगा। इसी हेतु से सूत्र में स्पष्टतया **'काठके'** पद का उल्लेख आचार्य ने किया है। नागेशभट्ट ने इसीलिये स्पष्टता हेतु लिखा- **'यजुर्वेदेऽपि शाखान्तरे मा भूत् 'अत्र सुम्नयुरिदमसि'।।**

प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग वेद में निम्न प्रकार से हैं-

1. **देवायताम्।।**
   (क) **अग्ने प्रेहि प्रथमो देवायताम्।।** काठ० 18.4; 21.9
2. **देवायते।।**
   (क) **देवान् देवायते यजमानाय स्वाहा।।** काठ० 2.9; 25.6
3. **सुम्नायन्तः।।**
   (क) **मरुतो यद्ध वो दिवस्सुम्नायन्तो हवामहे।।** काठ० 8.17
4. **सुम्नायन्।।**
   (क) **सुम्नायन्निद्विशो अस्माकमाचरारिष्टवीरा जुहुवाम ते हविः।।** काठ० 40.11
5. **सुम्नायता।।**
   (क) **नः सुम्नायता मनसा तत्त्वेमहे।।** ऋ० 2.32.2

इस प्रकार इस सूत्र के प्रयोग सात स्थलों पर हमें उपलब्ध हुए हैं।।

220. कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः।। अष्टा० 7.4.39

का०- कवि अध्वर पृतना इत्येतेषामङ्गानां क्यचि परतो लोपो भवति

ऋचि विषये। कव्यन्तः सुमनसः। अध्वर-अध्वर्यन्तः (मा० सं० 17.56)। पृतन्यन्तः (पै० सं० 2.89.4) तिष्ठन्ति।।

सि०- (कवि अध्वर पृतना) एषामन्त्यस्य लोपः स्यात् क्यचि ऋग्विषये। सपूर्वया निविदा कव्यतायोः (ऋ० 1.96.2)। अध्वर्यु वा मधुपाणिम् (ऋ० 10.41.3)। दमयन्तं पृतन्युम।।

प्रस्तुत सूत्र में छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। पादबद्धमन्त्र के विषय में कवि, अध्वर, पृतना इन अङ्गों का क्यच् परे रहते लोप होता है। कव्यन्तः, सुमनसः। अध्वर्यन्तः। पृतन्यन्तः। - इन सब में अन्त्य अ तथा आ का लोप होने पर क्यच् प्रत्ययान्त से शतृ प्रत्यय के रूप बने हैं।।

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त हैं-

1. कव्यता।।

(क) स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः।।

ऋ० 1.66.2; मै० 4.10.6; काठ० 21.14

2. अधवर्यन्तः।।

(क) देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुः।।

मा० 17.56; का० 18.5.7; तै० 4.6.3.3

(ख) देवा देवेष्वध्वर्यन्तो अस्थुर्वीतम्।। मै० 2.10.5

3. अध्वर्युम्।।

(क) अध्वर्युं वा मधुपाणिं सुहस्त्यम्।। ऋ० 10.41.3

(ख) यद्वै होताऽर्ध्युमभ्याह्वयते।। तै० 3.2.6.1

(ग) सोऽध्वर्युं च यजमानं च प्रेक्षते।। मै० 3.3.4

(घ) स यजमानं चैवाध्र्युं च ध्यायति।। काठ० 16.5

4. अध्वर्यवः।।

(क) अध्वर्यवो न धीतिभिर्भरन्ति।। ऋ० 1.153.1

(ख) भरन्त्यध्वर्यवो देवयन्तः शचीभिः। ऋ० 7.92.2

(ग) दैव्या अध्वर्यवस्त्वा च्छ्यन्तु वि च शासतु।।

मा० 23.42; का० 25.8.4

(घ) दैव्या अध्वर्यव उपहूताः।। तै० 2.6.7.4; मै० 4.13.5

(ङ) अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः।।

जै० 3.58.4; कौ० 2.13.57

5. पृतन्युः।।

(क) धनंजयस्सहमानः पृतन्युरग्न इषमूर्जं यजमानाया धेहि।।

काठ० 38.12

6. पृतन्युम्।।

(क) यावत्तरो मघवन्यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्।।

ऋ० 1.33.11

7. पृतन्यवः।।

(क) अधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः।।

मा० 15.51; का० 16.6.3; तै० 47.13.4;

मै० 2.12.4

(ख) परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ।।

शौ० 11.1.11

8. पृतन्यन्तः।।

(क) ये धूर्वन्ति ये दुह्यन्ति ये द्विषन्ति पृतन्यन्तः।। पै० 2.89.4

9. पृतन्यन्तम्।।

(क) अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति।।

ऋ० 10.174.2; शौ० 1.29.2

(ख) पृतन्यन्तमेवाभितिष्ठति।। मै० 3.1.4

एवं 'कवि' के तीन, 'अध्वर' के सोलह, 'पृतना' के ग्यारह प्रयोग प्राप्त हुए हैं।।

221. दधातेर्हिः।। अष्टा० 7.4.42

का०- दधातेरङ्गस्य हीत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः। हितः हितवान्। हित्वा।। जहातेश्च क्त्वि (अष्टा०

7.4.43) जहातेरङ्गस्य हीत्ययमादेशो भवति क्त्वाप्रत्यये परतः। हित्वा राज्यं वनं गतः हित्वा गच्छति। जहातेर्निर्देशाद् जिहातेः न भवति। हात्वा।। विभाषा छन्दसि।। अष्टा० 7.4.44।। जहातेरङ्गस्य विभाषा हीत्ययमादेशो भवति छन्दसि विषये क्त्वाप्रत्यये परतः। हित्वा शरीरं (तै० ब्रा० 2.5.6.5) यातव्यम्। हात्वा।।

सि०- दधातेर्हिः (7.4.42), जहातेश्च क्त्वि (7.4.43)। विभाषा छन्दसि (7.4.44)। हित्वा शरीरम्। हात्वा वा (हित्वेत्यपि पाठः)।

प्रस्तुत सूत्र में 'द्यतिस्यतिमास्थामिति किति' (अष्या० 7.4.40) से 'ति' 'किति' पद की तथा पूववर्वत् अङ्गस्य की अनुवृत्ति आ रही है। लोक में तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते डुधाञ् अङ्ग को हि आदेश होता है। जैसे, हितः, हितवान्, हित्वा। क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'ओहाक् त्यागे' अङ्ग को भी हि आदेश हो जाता है, जैसे-हित्वा राज्यं वनं गतः। हित्वा गच्छति। ये दोनों सूत्र लोक में कार्य करते हैं। किन्तु वेद विषय में क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'ओहाक्' अङ्ग को विकल्प से हि आदेश होता है, जैसे-हित्वा शरीरम्। हात्वा वा। - यहाँ ईत्व 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (अष्या० 6.4.66) से होने पर 'हीत्वा' बना। 'हात्वा' में छान्दस प्रयोगवश ईत्व नहीं हुआ। नागेशभट्ट ने इसीलिये कहा- 'हात्वेति पाठे छान्दसत्वात् ईत्वाभावः'।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. हा हि-हित्वा।।

(क) अतीयाम निदस्तिरः स्वस्तिभिर्हित्वावद्यमरातीः।।
ऋ० 5.53.14

(ख) हित्वा न ऊर्जं प्र पतात्पतिष्ठः।। ऋ० 10.165.5

(ग) प्रचक्रमुरिहित्वावद्यमापः।। मै० 1.2.1

(घ) हित्वा शरीरँ सुत्यया।। काठ० 34.7

(ङ) हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत्।।
कौ० 1.281; जै० 1.29.9

(छ) हित्वा शरीरमृतस्य नाभिम्।। शौ० 4.11.6

(ज) शुचा विध्य हृदयं हित्वा।। शौ० 5.30.2

(झ) हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः।। शौ० 18.2.47

(ञ) हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि।। शौ० 18.3.58

(ट) शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा।। पै० 9.24.4

(ठ) हित्वावर्तिं निर्ऋतिं मृत्युपाशान्।। पै० 16.149.10

वेदों में 'हित्वा' पद का प्रयोग बारह स्थलों पर हुआ है। 'हात्वा' में जहाँ छान्दस ईत्व नहीं हुआ है, उसके प्रयोग वेदों में नहीं हुए हैं।।

222. सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च।। अष्टा० 7.4.45

का०- सुधित वसुधित नेमधित धिष्व धिषीय इत्येतानि छन्दसि विषये निपात्यन्ते। तत्र सुधित वसुधित नेमधित इति सुवसुनेमपूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यय इत्वमिडागमो वा प्रत्ययस्य निपात्यते। गर्भं माता सुधितम् (ऋ० 10.27.16)। सहितमिति प्राप्ते। वसुधितमग्नौ जुहोति। वसुहितमिति प्राप्ते। नेमधिता (ऋ० 10.96.13) बाधन्ते। नेमहिता इति प्राप्ते। धिष्वेति लोण्मध्यमैकवचने दधातेरित्वमिडागमो वा प्रत्ययस्य द्विर्वचनाभावश्च निपात्यते। स्तोमं धिष्व (ऋ० 8.33.15)। धत्स्वेति प्राप्ते। धिषीयेति आशीलिङ्यात्मनेपदोत्तमैकवचने दधातेरित्वमिडागमो वा प्रत्ययस्य निपात्यते। धिषीय (तै० सं० 1.6.4.4)। धासीयेति प्राप्ते।।

सि०- सु वसु नेम एतत्पूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यये इत्त्वं निपात्यते। गर्भं माता सुधितं वक्षणासु। वसुधितमग्नौ। नेमधिता न पौंस्या। क्तिफन्यपि दृश्यते। उत श्वेतं वसुधितिं निरेके। धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते। धत्स्वेति प्राप्ते। सुरेता रेतो धिषीय। आशीर्लिङ् इट्। 'इटोऽत्' (3.4.106) धासीय इति प्राप्ते।

223. अपो भि।। अष्टा० 7.4.48।।

का०-अप् इत्येतस्याङ्गस्य भकारादौ प्रत्यये परतस्त इत्यमादेशो

भवति। अद्भिः। अद्भ्यः। भीति किम्? अप्सु। स्ववःस्वतवसोर्मास उषसश्च तकारादेश इष्यते छन्दसि भकारादौ। स्ववद्भिः। स्वतवद्भिः। माद्भिष्ट्वा इन्द्रो वृत्रहा। समुषद्भिरजायथाः (ऋ० 1.6.3)।।

सि०- (क) अपो भि (7.4.48)। मासश्छन्दसीति वत्तफव्यम् (वा०)। माद्भिः शरद्भिः।। (ख) स्ववःस्वतवसोरुषसश्चेष्यते (वा०) स्ववद्भिः। अवतेरसुन। शोभनमवो येषां तैः। तु इति सौत्रो धातुः। तस्मादसुन्। स्वं तवो येषां तैः स्वतवद्भिः। समुषद्भिरजायथाः। (ऋ० 1.6.3)। मिथुनेऽसिः (उणादिसू० 662)। वसेः किच्चेत्यसि प्रत्यय इति हरदत्तः। पञ्चादीरीत्या तु उष कित् (उ० सू० 673) इति प्राग्व्याख्यातम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'विभाषा छन्दसि'** (अष्या० 7.4.44) से छन्दसि की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में सुधित, **वसुधित, नेमधित**, धिष्व, धिषीय- ये पाँच शब्द निपातित होते हैं। सुधित वसुधित नेमधित- इन तीन शब्दों में क्रमशः सु वसु और नेम पूर्व में रहते धा धातु को क्त प्रत्यय परे रहते इत्व अथवा प्रत्यय को इट् आगम निपातन है। धा के आ का लोप **'आतो लोप इटि च'** (अष्या० 6.54.6) से होगा यदि प्रत्यय को इट् आगम करके इन शब्दों की सिद्धि की जायेगी। इत्व करने पर तो आ को ही इत्व होगा। **'कुगति प्रादयः'** (अष्या० 2.2.18) से **'सुधितम्'** में **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'** (अष्या० 2.1.57) से **'वसुधितम्'** में और **'सामि'** (अष्या० 2.1.26) से **'नेमधितम्'** में समास होगा। किन्तु हरदत्त ने वसुधित और नेमधित पदों में कर्मधारय समास माना है- **वसु च तद् हितं च= वसुधितम्। नेम च तद् धितं च = नेमधितम्।** नागेशभट्ट का भी यही मत है। **'कर्मधारय' इति हरदत्तः। 'नेम' इत्यर्द्धे। कर्मधारयो नेमधिते।** किन्तु आचार्य सायण ने **वसुधितम्** में **वसूनां धातारं = प्रदातारमित्यर्थः"** लिखकर षष्ठी तत्पुरुष माना है। **'वसुधित'** में क्तिन् प्रत्यय का भी प्रयोग देखा जाता है-वसु + धा + क्तिन् = **वसुधितिः**- ऐसा भट्टोजिदीक्षित का कथन है। लोक में इन तीनों पदों का **सुहितम्, वसुहितम्, नेमहितम्** रूप बनेगा। वसुधित में जब क्तिन् प्रत्यय का रूप बनेगा, तब **'वसुधितिः'** बनेगा किन्तु लोक में

वसुहिति। '**धिष्व**' में लोट् मध्यम पुरुष के एकवचन थास् के परे रहते '**धा**' धातु को इत्व, अथवा प्रत्यय को इट् आगम, '**श्लौ**' (अष्टा० 6.1.10) से प्राप्त द्विर्वचन का अभाव निपातन। थास् को '**थासः से**' (अष्टा० 3.4.80) से '**से**' और '**वा**' '**सवाभ्यां वामौ**' (अष्टा० 3.4.91) से होगा। धा के आ का लोप इट् करने पर छान्दस्-प्रयोग वश होगा। '**धिषीय**'- में आत्मनेपद में आशीर्लिङ् के उत्तमपुरुष एकवचन के परे होने पर धा को इत्व या प्रत्यय को इडागम निपातन से होकर इट् को '**इटोऽत्**'(अष्टा० 3.4.106) से अत्व हो गया। लोक में क्रमशः **धत्स्व** तथा **धासीय** प्रयोग होगें।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते है-

1. **सुधितः।।**
   (क) **निर्मथितः सुधित आ सधस्थे।।** ऋ० 2.23.1
   (ख) **अधा मित्रो न सुधितः पावको३ऽग्निः।।** ऋ० 4.6.7
2. **सुधितम्।।**
   (क) **मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसम्।।**
   ऋ० 7.32.13; शौ० 20.59.4
   (ख) **मित्रं न जने सुधितमृतावनि।।** ऋ० 8.23.8
   (ग) **गर्भं माता सुधितं वक्षणासु।।** ऋ० 10.27.16
   (घ) **अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव।।** शौ० 20.92.14
3. **सुधिता।।**
   (क) **मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची।।** ऋ० 1.167.3
   (ख) **परि विश्वानि सुधिता।।** ऋ० 3.11.8
   (ग) **मनुष्वद्यज्ञं सुधिता हवींषि।।** ऋ० 10.70.8
   (घ) **अभि प्रयांसि सुधिता वसो।।** जै० 4.28.9
4. **सुधिताः।।**
   (क) **मित्रासो न ये सुधिता ऋतायवः।।** ऋ० 10.115.7
5. **वसुधितिः।।**
   (क) **श्रेय केतो वसुधितिस् सहीयान्।।** पै० 6.24.94

6. वसुधितिम्।।

(क) अग्निं होतारमीळते वसुधितिम्।। ऋ० 1.128.8

(ख) स हि वेदा वसुधितिम्।।

ऋ० 4.8.2; काठ० 12.15; जै० 4.19.6

(ग) उत श्वेतं वसुधितिं निरेके।।

ऋ० 7.90.3; मा० 27.24; का० 29.3.2;
मै० 4.14.2

7. नेमधिता।।

(क) विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वान्।। ऋ० 1.72.4

(ख) त्वा युध्यन्तो नेमधिता पृत्सु शूर।। ऋ० 6.33.4

(ग) नेमधिता न पौंस्या वृथेव।। ऋ० 10.93.13

(घ) इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते।।

तै० 1.6.12.1; मै० 4.12.3; कौ० 1.318;
जै० 1.33.6

(ङ) इन्द्रं नरो नेमधिता युजे रथम्।। मै० 4.14.5

8. धिष्व।।

(क) हरी धुरि धिष्वा रथस्य।। ऋ० 2.18.7

(ख) घृतस्नुवा रोहिना धुरि धिष्व।। ऋ० 3.6.6

(ग) धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते।। ऋ० 6.22.9

(घ) अस्माकमद्यान्तमं स्तोमं धिष्व महामह।। ऋ० 8.33.15

9. धिषीय।।

(क) सुरेता रेतो धिषीय त्वष्टुः।। तै० 1.6.4.4

(ख) सुरेता रेतो धिषीयेति।। तै० 1.7.4.5

(ग) विश्वरेतांसि धिषीया गन्।। तै० 3.5.6.3

(घ) सुरेतोधा रेतो धिषीय।। काठ० 5.4

'वसुधित' पद क्त प्रत्ययान्त है, वेदों में इसका प्रयोग नहीं हुआ है, अतः हमने क्तिन् प्रत्ययान्त कतिपय पदों को ही दिखा दिया है एवं 'सुधित'

नेमधित, धिष्व तथा **धिषीय** पदों का प्रयोग वेदों में अट्टाईस स्थलों पर हुआ है।।

'अपो भि' (अष्टा० 7.4.48) का अर्थ है कि भकारादि प्रत्यय परे रहते अप् अङ्ग को तकारादेश होता है, जैसे **अद्भिः, अद्भ्यः**। यहाँ अप् के अन्त्य अल् 'प' को 'त' हो गया। पुनः अत् भिस् = **अद्भिः**, त् को द् **'झलां जशोऽन्ते'** (अष्टा० 8.2.39) से हो गया। यह सूत्र लोक में कार्य करता है। वार्तिककार ने कुछ शब्दों के लिये भी यह नियम वार्तिक द्वारा बताया है- **"मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्"**।। मास् शब्द के उत्तर में भकार आदि प्रत्यय परे रहते मास के सकार को तकार वेद विषय में हो जाता है, जैसे-**माद्भिः, शरद्भिः**।।

वेदों में प्रस्तुत वार्तिक के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं -

1. **माद्भिः**।।
   (क) **माद्भिः शरद्भिर्दुरो वरन्त वः**।। ऋ० 2.24.5
2. **माद्भ्यः**।।
   (क) **ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः**।।
   शौ० 3.10.10
   (ख) **माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु**।।
   पै० 10.7.2; शौ० 19.27.2
   (ग) **यजुर् ऋत्विग्भ्य आर्तवेभ्यो माद्भ्यस् संवत्सराय च**।।
   पै० 1.105.4

इसी प्रकार **'स्ववःस्वतवसोरुषश्चेष्यते'** इस वार्तिक द्वारा स्ववस् स्वतवस् **उषस्** - इन शब्दों के अन्त्य सकार को तकारादेश भकारादि प्रत्यय परे रहने पर हो जाता है। **स्ववद्भिः। स्वतवद्भिः। उषद्भिः**।।

प्रस्तुत वार्तिक के निम्न प्रयोग वेदों में उपलब्ध होते हैं-

1. **स्वतवद्भ्यः**।।
   (क) **सृज सृष्टान्मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योऽनुसृष्टान्**।।
   मा० 24.16; का० 26.4.1

(ख) यत्स्वतवद्भयः स्वत्वायैव निष्कृत्यै।। मै० 1.10.6

(ग) मरुद्भयः स्वतवद्भयोऽनुसृष्टान्।। मै० 3.13.14

(घ) यत् स्वतवद्भयस्स्वत्वायैव।। काठ० 36.1

2. उषद्भिः।।

(क) समुषिद्भिरजायथाः।।

ऋ० 1.6.6; मा० 29.37; का० 31.2.1; तै० 7.4.20.1; शौ० 20.26.6; मै० 3.16.3; काठ० 44.3; कौ० 2.14.70; जै० 3.57.10; शौ० 20.26.6; 20.47.12; 20.69.11

'स्ववद्भिः' आदि रूप वेद संहिताओं में उपलब्ध नहीं हुआ।

224. न कवतेर्यङि।। अष्टा० 7.4.63

का०-कवतेरभ्यासस्य यङि परतश्चुर्न भवति। कोकूयत उष्ट्रः। कोकूयते खरः०।। कृषेश्छन्दसि।। अष्टा० 7.4.64। कृषेश्छन्दसि विषये यङि परतोऽभ्यासस्य चुर्न भवति। करीकृष्यते यज्ञकुणपः। छन्दसीति किम्? चरीकृष्यते कृषीवलः।।

सि०- न कवतेर्यङि (7.4.63)। कृषेश्छन्दसि (7.4.64)। यङि अभ्यासस्य चुत्वं न। करीकृष्यते।।

यङ परे रहते कुङ् अङ्ग के अभ्यास को चवर्गादेश नहीं होता है, **'कुहोश्चुः'** (अष्या० 7.4.62) से प्राप्ति थी, उसका निषेध **'न कवतेर्यङि'** (अष्या० 7.4.63) ने कर दिया। **कोकूयत उष्ट्रः। कोकूयते खरः।** वेदविषय में कृष अङ्ग के अभ्यास को यङ् परे रहते चवर्गादेश नहीं होता है। **करीकृष्यते यज्ञकुणपः।** यहाँ कृष् + यङ् + लट् ते = **'सन्यङोः'** (अष्या० 6.1.9) से द्वित्व, अभ्यासकार्य, कृ कृष य ते = अभ्यास को **'गुणो यङ्लुकोः'** (अष्या० 7.4.82) से गुण, रपर-कर् कृष्यते **'रीगृदुपधस्य च'** (अष्या० 7.4.90) से रीक् आगम, चवर्गादेश न होकर-**करीकृष्यते** बना। लोक में चवर्गादेश होकर **'चरीकृष्यते'** बनेगा।

प्राप्त वेदसंहिताओं में '**करीकृष्यते**' पद का प्रयोग अप्रयुक्त है।।

225. दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्करिक्रत्कनिक्रदद्भरिभ्रद्दविध्वतोदविद्युतत्तरित्रतः सरीसृपतंवरीवृजन्मर्मृज्यागनीगन्तीति च।। अष्टा० 7.4.65

का०- दाधर्ति दर्धर्ति दर्धर्षि बोभूतु तेतिक्ते अलर्षि आपनीफणत् संसनिष्यदत् करिक्रत् कनिक्रदत् भरिभ्रत् दविध्वतः दविद्युतत् तरित्रतः सरीसृपतं वरीवृजत् मर्मृज्य आगनीगन्ति इत्येतानि अष्टादश छन्दसि विषये निपात्यन्ते। दाधर्ति दर्धर्ति दर्धर्षीति धारयतेर्धृङो वा श्लौ यङ्लुकि वाभ्यासस्य दीर्घत्वं णिलोपश्च। दाधर्ति। एवं दर्धर्तिश्लौ रुगभ्यासस्य निपात्यते। तथा दर्धर्षि (ऋ० 5.84.3) इति। अत्र च यद् लक्षणेनानुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम्। बोभूत्विति-भवतेर्यङ्लुगन्तस्य लोटि गुणाभावो निपात्यते। नैतदस्ति प्रयोजनम्, अत्र 'भूसुवोस्तिङि' (7.3.88) इति गुणाभावः सिद्धः। ज्ञापनार्थं तर्हि निपातनम्-एतद् ज्ञापयति-अन्यत्र यङ्लुगन्तस्य गुणप्रतिषेधो न भवतीति। बोभोति। बोभवीति (ऋ० 3.53.8)। तेतिक्ते (ऋ० 4.23.7) - तिजेर्यङ्लुगन्तस्यात्मनेपदं निपात्यते। यङो ङित्त्वात् प्रत्ययलक्षणेनात्मनेपदं सिद्धमेव। ज्ञापनार्थं त्वात्मनेपदनिपातनम्-अन्यत्र यङ्लुगन्तादात्मनेपदं न भवति। अलर्षीति-इयर्तेर्लटि सिप्यभ्यासस्य हलादिःशेषापवादो रेफस्य लत्वं निपात्यते। सिपा निर्देशोऽतन्त्रम्, तिप्यपि दृश्यते-अलर्ति दक्षः (ऋ० 8.48.8)। आपनीफणत् (ऋ० 4.40.4) इति फणतेराङ्पूर्वस्य यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य नीग् निपात्यते। संसनिष्यदत् (मै० सं० 1.11.2) इति- स्यन्देः संपूर्वस्य यङ्लुक्, शतर्येवाभ्यासस्य निक्, धातुसकारस्य षत्वं निपात्यते। न चास्य संपूर्वता तन्त्रम्, अन्यत्रापि हि दृश्यते आसनिष्यददिति। करिक्रत् (ऋ० 1.131.3) इति-करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि

चुत्वाभावोऽभ्यासककारस्य, रिगागमो निपात्यते। कनिक्रदत् (ऋ० 1.128.3) इति- क्रन्देर्लुङि च्लेरङादेशो द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते। तथा चास्य हि विवरणं कृतम्। अक्रन्दीदिति भाषायाम्। भरिभ्रत् (ऋ० 10.45.7) इति- बिभर्तेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि 'भृञामित्' (7.4.76) इतीत्वाभावो जश्त्वाभावोऽभ्यासस्य निगागमो निपात्यते। दविध्वत इति-ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि जसि रूपमेतत्। अत्राभ्यासस्य रिगागमो निपात्यते। दविध्वत इति-ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि जसि रूपमेतत्। अत्राभ्यासस्य विगागम ऋकारलोपश्च निपात्यते। दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य (ऋ० 4.13.4)। दविद्युतत् (ऋ० 6.16.45) इति-द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य संप्रसारणाभावोऽत्वं विगागमश्च निपात्यते। तरित्रत इति तरतेः शतरि श्लौ षष्ठ्येकवचनेऽभ्यासस्य निगागमो निपात्यते। सरीसृपतमिति- सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचनेऽभ्यासस्य रीगागमो निपात्यते। वरीवृजत् (ऋ० 7.24.7) इति- वृजेः शतरि श्लौ रीगागमो निपात्यतेऽभ्यासस्य। मर्मृज्येति-मृजेर्लिटि णलि अभ्यासस्य रुगागमो धातोश्च युगागमो निपात्यते। ततो 'मृजेर्वृद्धिः' (7.2.114) न भवति, अलघूपधत्वात्। लघूपधगुणे प्राप्ते वृद्धिरारभ्यते। आगनीगन्तीति- आङ्पूर्वस्य गमेर्लटि श्लौ अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च निपात्यते। वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णम् (ऋ० 6.75.3)। इतिकरणमेवंप्रकाराणामन्येषामप्युपसंग्रहार्थम्।।

सि०- एतेऽष्टादश निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो धृञो धारयतेर्वा। भवतेर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावः। तेन भाषायां गुणो लभ्यते। तिजेर्यङ्लुगन्तात्तङ्। इयर्त्तेर्लटि हलादिःशेषापवादो रेफस्य लत्वम्, इत्त्वाभाव श्लु निपात्यते। अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दरम्। सिपा निर्देशो न तन्त्रम्। अलर्ति दक्ष उत। फणतेराङ्पूर्वस्य

यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य नीगागमो निपात्यते। अन्वापनीफणत्। स्यन्देः संपूर्वस्य यङ्लुकि शतरि अभ्यासस्य निक्। धातुसकारस्य षत्वम्। करोतेर्यङ्लुगन्तस्याभ्यासस्य चुत्वाभावः। क्रन्देर्लुङि च्लेरङ् द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागम श्च। कनिक्रदज्जनुषम्। अक्रन्दीदित्यर्थः। बिभर्त्तेरभ्यासस्य जश्त्वाभावः। वि यो भरिभ्रदोषधीषु। ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य विगागमो धातोर्ऋकारलोप श्च। दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य। द्युतेरभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावोऽत्त्वं विगागम श्च। दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः। तरतेः शतरि श्लौ अभ्यासस्य रिगागमः। सहोर्जा तरित्रतः। सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचने रीगागमोऽभ्यासस्य। वृजेः शतरि श्लौ अभ्यासस्य रीक्। मृजेर्लिटि णल्, अभ्यासस्य रुक्, धातो श्च युक्। गमेराङ्पूर्वस्य लटि श्लावभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागम श्च। वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णम्।।

प्रस्तुत सूत्र में 'कृषेश्छन्दसि' (अष्टा० 7.4.64) से 'छन्दसि' की, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (अष्टा० 7.4.58) से 'अभ्यासस्य' की तथा पूर्ववत् 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि, बोभूतु, तेतिक्ते, अलर्षि, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिक्रत्, कनिक्रदत्, भरिभ्रत्, दविध्वतः, दविद्युतत्, तरित्रतः, सरीसृपतम्, वरीवृजत्, मर्मृज्य्, आगनीगन्ति-ये अट्ठारह शब्द निपातन से सिद्ध किये जाते हैं। दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि- ये शब्द णिजन्त 'धृञ् धारणे' अथवा 'धृङ् अवस्थाने' या धृङ् अवध्वंसने धातुओं से श्लु में अथवा यङ्लुक् में निपातन हैं। दाधर्त्ति, यहां जब णिजन्त धृञ् से श्लु में निपातन मानेंगे, तो णि का लुक् एवं अभ्यास को दीर्घत्व निपातन से होगा। शप् को श्लु 'बहुलं छन्दसि' (2.4.76) से सर्वत्र होगा। जब धृङ् से दाधर्त्ति की सिद्धि करेगें, तो श्लु परे रहते, अभ्यासदीर्घत्व एवं परस्मैपदत्व निपातन से होगा। तुदादिगणस्थ धृङ् से मानने पर श विकरण को पहिले व्यत्यय से शप् कर लेने पर पूर्वोक्तानुसार श्लु होगा। यङ्लुक् में दाधर्त्ति की निष्पत्ति मानने पर धारि (धृञ्) णिजन्त

धातुओं के अनेकाच् होने से यङ् प्राप्त नहीं था, निपातन से प्राप्त करा दिया। तथा उपधा-ह्रस्वत्व भी निपातन से जानना चाहिए। इस पक्ष में यङ् के आर्धधातुक होने से **'णेरनिटि'** (6.4.51) से णिलोप, एवं **'दीर्घोऽकितः'** (7.4.83) से अभ्यास को दीर्घत्व हो जायेगा, अतः ये विधियां निपातन नही हैं। दर्धर्त्ति, यहां पूर्ववत् धारि धातु से श्लु में रुक् आगम, एवं णिलोप निपातन है। यङ्लुक् पक्ष में **'दीर्घोऽकितः'** (7.4.83) से प्राप्त दीर्घत्व का अभाव धारि के अनेकाच् होने से अप्राप्त यङ् भी निपातन है। **दर्धर्त्ति** में रुक् आगम तो **'ऋतश्च'** (7.4.92) से सिद्ध ही है। **दर्धर्त्ति** के समान ही दर्धर्षि में भी सिप् परे रहते सब कार्य जानें।। सर्वत्र यथाप्राप्त द्वित्व, एवं अभ्यासकार्यादि समझना चाहिये।। **बोभूतु**, यहाँ भू धातु के यङ्लुक् में लोट् परे रहते **'सार्वधातु०'** (7.3.84) से प्राप्त गुण' का अभाव निपातन है।। **तेतिक्ते**, यहाँ तिज धातु के यङ्लुक् में आत्मनेपदत्व' निपातन है। ज् को क् **'चोः कुः'** (अष्टा० 8.2.30) तथा **'खरि च'** (अष्टा० 8.4.54) से हो जायेगा। **अलर्षि**, यहाँ **'ऋ गतौ'** धातु के लट् में सिप् परे रहते **'श्लौ'** (अष्टा० 6.1.10) से द्वित्व, एवं **'उरत्'** (अष्टा० 7.4.66) इत्यादि लगकर अर् अर् सि रहा। अब यहाँ **'हलादिः शेषः'** (अष्टा० 7.4.60) का अपवादस्वरूप इस सूत्र से अभ्यास के रेफ् को निपातन से लत्व होकर अल् अर् षि= अलर्षि बन गया। **'अर्तिपिपर्त्योश्च'** से प्राप्त अभ्यास के इत्व का अभाव भी यहाँ निपातन से जानें।। **आपनीफणत्**, यहाँ आङ्पूर्वक फण धातु के यङ्लुक् में शतृ प्रत्यय परे रहते अभ्यास को नीक् आगम निपातन है। आ प फण शतृ = आ प नीक् फण् अत् = **आपनीफणत्** बन गया। **संसनिष्यदत्**, यहाँ सम्पूर्वक स्यन्द धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते अभ्यास को निक् आगम, तथा धातु के सकार को षत्व निपातन है। सम् स निक् स्यद् अत् = (यङ् परे रहते **'अनिदितां०'** (अष्टा० 6.4.24) से अनुनासिक लोप होकर) सम् स निक् स्यद् अत् = **संसनिष्यदत्** बन गया।। **करिक्रत्** में डुकृञ् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते **'कुहोश्चुः'** (अष्टा० 7.4.62) से प्राप्त अभ्यास के चुत्व का अभाव, तथा रिक् आगम निपातन है। उरत् इत्यादि लगाकर क कृ अत् = क रिक् कृ अत्, यणादेश होकर करिकत् बन गया।। **कनिक्रदत्**, यहाँ क्रन्द धातु के लुङ् में च्लि को अङ्, द्विर्वचन, अभ्यास को चुत्व का अभाव तथा निक्

आगम निपातन है।। **भरिभ्रत**, यहाँ डुभृञ् धातु के यङ् लुक् में शतृ परे रहते जश्त्वाभाव अथवा श्लु होने पर '**भृञामित्**' (अष्टा० 7.4.76) से प्राप्त अभ्यास के इत्व का अभाव, एवं '**अभ्यासे चर्च**' (अष्टा० 8.4.53) से प्राप्त जश्त्व का अभाव, तथा रिक् आगम निपातन है। **दविध्वतः**, यह ध्वृ धातु के यङ् लुक में शतृ परे रहते जस् का रूप है। यहाँ अभ्यास को विक् आगम, तथा ध्वृ के ऋकार का लोप निपातन से होता है। '**नाभ्यस्ताच्छतुः**' (अष्टा० 7.1.78) से, यहाँ '**उगिदचां०**' (अष्टा० 7.1.70) से प्राप्त नुम्, आगम का निषेध हो जाता है। **दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य** (ऋ० 4.13.4)।। **दविद्युतत्**, यहाँ द्युत् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते '**द्युतिस्वाप्योः०**' (अष्टा० 7.4.67) से अभ्यास को प्राप्त सम्प्रसारण का अभाव, एवं अत्व तथा विक् आगम निपातन से है। दु द्युत् अत् अत्व, एवं विक् आगम होकर - द विक् द्युतत् = **दविद्युतत्** बन गया। **तरित्रतः**, यहाँ तृ धातु से शतृ परे रहते शप् को श्लु पूर्ववत् करके, षष्ठी के एकवचन में अभ्यास को रिक् आगम निपातन है। **श्लौ** से द्वित्व करके तृ तृ अत्, उरत् आदि लगकर त तृ अत् = त रिक् तृ अत् ङस् = **तरित्रतः** बन गया।। **सहोर्जा तरित्रतः** (ऋ० 4.40.3)।। **सरीसृपतम्**, यहाँ भी सृप्लृ धातु से शतृ परे रहते शप् को श्लु होकर, द्वितीया के एकवचन में अभ्यास को रीक् आगम निपातन है।। **वरीवृजत्**, यहाँ भी वृजी धातु से शप् को श्लु पूर्ववत् होकर, शतृ परे रहते अभ्यास को रीक् आगम निपातन है।। सर्वत्र शप् को श्लु करने का प्रयोजन द्वित्व करता ही है। **मर्मृज्य** यहाँ मृजूष् धातु से लिट् में णल् परे रहते अभ्यास को रुक् आगम्, तथा धातु को युक् आगम निपातन है। मृज् मृज् णल्, उरत् आदि लगकर-म मृज् णल्=म रुक् मृज् युक् अ = मर मृज्य् अ = **मर्मृज्य** बन गया। यहां युक् आगम (अष्टा० 1.1.45) कर लेने पर मृज् धातु के अलघूपध हो जाने से '**मृजेर्वृद्धिः**' (अष्टा० 7.2.114) से वृद्धि नहीं होती। **आगनीगन्ति**, यहाँ आङ्पूर्वक गम् धातु के लट् में शप् को श्लु पूर्ववत् करके, अभ्यास को '**कुहोश्चुः**' (अष्टा० 7.4.62) से प्राप्त चुत्व का अभाव, तथा नीक् आगम निपातन है। आ ग गम् ति = आ ग नीक् गम् ति, म् को अनुस्वार (अष्टा० 8.3.23) से तथा परसवर्ण (अष्टा० 8.4.57) से होकर आगनीगन्ति बन गया। **वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम्** (ऋ० 6.75.3)।।

वेदों में प्राप्त सूत्र के निम्न प्रयोग हैं-

1. दर्धर्षि।।

(क) क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा।। ऋ० 5.84.3; काठ० 10.12

2. तेतिक्ते।।

(क) तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका।। ऋ० 4.23.7

3. अलर्षि।।

(क) अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दर।।

ऋ० 8.1.7; कौ० 1.271; जै० 1.28.9; 4.10.5

4. आपनीफणत।।

(क) पथामङ्क्षास्यवापनीफणत्।।

ऋ० 4.40.7; मा० 9.14; का० 10.3.7; तै० 1.7.8.3; मै० 1.11.2; काठ० 13.14

5. संसनिष्यदत्।।

(क) क्रतुं दधिक्रा अनु सञ्सनिष्यदत्।।

मा० 9.14; मै० 1.11.2; काठ० 13.14

6. करिक्रत्।।

(क) आविष्करिक्रद्वृषणं सचाभुवम्।।

ऋ० 1.131.3; शौ० 20.72.2; 20.75.1

(ख) रथो ह वां भरि वर्यः करिक्रत्।। ऋ० 3.58.9

(ग) एतानि रूपाणि करिक्रत्।। तै० 6.4.10.2

7. करिक्रतः।।

(क) कृष्णमभ्वं महि वर्पः करिक्रतः।। ऋ० 1.140.4

8. कनिक्रदत्।।

(क) मुहुर्गी रेतो वृषभः कनिक्रदद्दधद्रेतः कनिक्रदत्।।

ऋ० 1.128.3

(ख) कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाणः।। ऋ० 2.42.1

(ग) कनिक्रदद्वाशतीरुदाजत्।। ऋ० 4.50.5

(घ) यत्पर्जन्य कनिक्रदत्।। ऋ० 5.83.9

(ङ) पवमानः कनिक्रदत्।। ऋ० 9.3.7

(च) प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रददङ्गाः।।
ऋ० 10.1.2; मा० 11.43; का० 12.4.6

(छ) प्रैतु वाजी कनिक्रदत्।। मा० 11.46; का० 12.4.9

(ज) हरिरेति कनिक्रदत्।। मा० 33.90

(झ) शं नः कनिक्रद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।।
मा० 36.10; का० 36.1.10

(ञ) कनिक्रदत् सुवरपो जिगाय।। तै० 2.3.14.6

(ट) मातृभ्यो अधि कनिक्रददङ्गाः।।
तै० 4.1.4.2; काठ० 16.4

(ठ) प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रददङ्गा इति।।
मै० 3.1.5; काठ० 19.5

(ड) कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत्।। मै० 4.12.1

(त) हरिरेति कनिक्रदत्।। कौ० 1.471; कौ० 2.869

(थ) अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत्।।
कौ० 1.571; कौ० 2.940

(द) अभि योनिं कनिक्रदत्।। कौ० 2.921; कौ० 2.12.93

(ध) पवमानः कनिक्रदत्।। कौ० 2.11.94

(न) एषा वृषा कनिक्रदद् दशभिर् जामिभिर् यतः।।
जै० 3.52.1

(प) अभि योनिं कनिक्रदत्।। जै० 3.53.1

(फ) अश्वः कनिक्रदद्यथा।। शौ० 2.30.5

(ब) कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत्।। शौ० 20.88.5

(भ) अथा कनिक्रदच् चराणि।। पै० 8.20.5

(म) कनिक्रदद् वृषभो वीडुमोपा?।। पै० 11.1.9

9. भरिभ्रत्।।

(क) इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रत्।।

ऋ० 10.45.7; मा० 12.24; का० 13.2.7; तै० 4.2.2; मै० 2.7.9; काठ० 16.9

10. दविध्वत्।।

(क) द्रप्सं दविध्वदङ्गविषो न सत्व।। ऋ० 4.13.2

(ख) शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत्।।

ऋ० 8.60.13; जै० 4.6.3

11. दविध्वतः।।

(क) हिरण्यशिप्रा मरुतो दविध्वतः।। ऋ० 2.34.3

(ख) दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य।।

ऋ० 4.13.4; मै० 4.12.5; का० 11.13

12. दविद्युतत्।।

(क) उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत्।।

ऋ० 6.16.45; कौ० 2.13.85

(ख) घृतेनाहुतो जरते दविद्युतत्।। ऋ० 10.69.1

(ग) पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतत्।।

मा० 15.51; का० 16.6.3; तै० 4.7.13.3; मै० 2.12.4; का० 18.18

(घ) नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतत्।।

शौ० 7.62.1; पै० 20.8.6

(ङ) प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतत्।। शौ० 20.17.4

13. तरित्रतः।।

(क) दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः।।

ऋ० 4.40.3; तै० 1.7.8.3; का० 10.3.8; मा० 9.15; मै० 1.11.2; का० 13.14

14. वरीवृजत्।।

(क) वरीवृजत्स्थविरेभिः सुशिप्र।। ऋ० 7.24.4; का० 8.17

15. आगनीगन्ति।।

(क) वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णम्।।

ऋ० 6.75.3; मा० 29.40; का० 31.2.5; तै० 4.6.6.1;
मै० 3.16.3; काठ० 46.1; पै० 15.10.3

वेदों में दाधर्ति, दर्धति, बोभूतू, सरीसृपतम्, मर्मृज्य रूप प्रयुक्त नहीं हुए हैं। एवं दर्धर्षि तथा वरीवृजत् के दो-दो, तेतिक्ते तथा कनिक्रत् का ए(क)एक, अलर्षि के तीन, आपनीफणत् के छः, संसनिष्यदत् के आठ, कनिक्रदत् के बत्तीस, भरिभ्रत् के छः, दविध्वत् के तीन, दविध्वतः के चार, दविद्युतत् के ग्यारह, तरित्रतः के छः, तथा आगनीगन्ति के पुनरावृत्ति रूप में सात प्रयोग स्थल प्राप्त हुए हैं।।

226. ससूवेति निगमे।। अष्टा० 7.4.74

का०- ससूव इति निगमे निपात्यते। सूतेर्लिटि परस्मैपदं वुगागमोऽभ्यासस्य चात्वं निपात्यते। ससूव स्थविरं (ऋ० 4.18.10) विपश्चिताम्। सुषुवे इति भाषायाम्।।

सि०- सूतेर्लिटि परस्मैपदं वुगागमोऽभ्यासस्य चात्त्वं निपात्यते। गृष्टिः ससूवः स्थविरम् (ऋ० 4.18.10)। सुषुवे इति भाषायाम्।

प्रस्तुत सूत्र में 'भवतेरः' (अष्या० 7.4.73) से 'अः' की, 'व्यथो लिटि' (अष्या० 7.4.68) से 'लिटि' की, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (अष्या० 7.4.58) से 'अभ्यासस्य' की तथा पूर्ववत् 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में 'ससूव' शब्द निपातन किया जाता है। काशिका के कतिपय संस्करणों में सूत्रव्याख्यान में 'निगमे' पद नहीं है, जबकि सूत्र में पठित है। 'पूङ्' धातु से लिट् में परस्मैपद वुक् का आगम तथा अभ्यास का अत्व निपातित किया जाता है। 'ससूव स्थविरं विपश्चिताम्'। यहाँ 'धात्वादेः षः सः' (अष्या० 6.1.62) से ष् को स् होकर सू बुक् णल् = सूव् सूव् अ= ससूव बना। अप्राप्त सभी कार्य निपातन से हो गये। लोक में 'सुषुवे' बनता है।।

वेद संहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न रूप मिले हैं-

1. सू (ङ) ससूव।।
   (क) गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागाम्।। ऋ० 4.18.10
   (ख) तमु चिन्नारी नर्यं ससूव।। ऋ० 7.20.5
   (ग) ससूव हि ताम् आहुर् वशेति।। पै० 16.109.3
   (घ) पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।।

ऋ० 10.86.23; शौ० 20.126.23

'ससूव' प्रयोग के मात्र चार स्थल ही वेदों में प्राप्त हुए हैं।।

227. बहुलं छन्दसि।। अष्टा० 7.4.78

का०- छन्दसि विषये अभ्यासस्य श्लौ बहुलमिकारादेशो भवति। पूर्णां विवष्टि (ऋ० 7.16.11)। वशेरेतद् रूपम्। तथा वचेः-जनिमा विवक्ति (ऋ० 9.97.7)। सचेः- वत्सं न माता सिषक्ति (ऋ० 1.38.8)। जिघर्ति सोमम्। न च भवति-ददातीत्येवं ब्रूयात्। जजनदिन्द्रम् (मै० सं० 1.9.1)। माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा (ऋ० 10.73.1)।।

सि०-अभ्यासस्य इकारः स्याच्छन्दसि। पूर्णां विवष्टि।। (ऋ० 7.16.11)। वशेरेतद्रूपम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'भृञामित्'** (अष्या० 7.4.76) से **'इत्'** की, **'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ'** (अष्या० 7.4.75) से **'श्लौ'** की, **'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** (अष्या० 7.4.58) से **'अभ्यासस्य'** की तथा पूर्ववत् **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। अभ्यास को बहुल करके श्लु होने पर वेदविषय में इकारादेश होता है। **पूर्णां विवष्टि।** वश् धातु को अदादि होने पर भी इसे व्यत्यय से श्लु + श्लु + तिप् = व वश् ति = इकार - विवश् ति। **'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः'** (अष्या० 8.2.36) से ष् और **'ष्टुना ष्टुः'** (अष्या० 8.4.41) से त का ट् = **विवष्टि**। भाषा में **'वष्टि'** बनेगा। इसी प्रकार **विवक्ति, सिषक्ति, जिघर्ति** बनेगें। इकारादेश न होने पर **ददाति्, जजनत्, दधनत्** बनेंगे।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोग मिलते हैं, यथा-

1. विवष्टि।।
   (क) पूर्णां विवष्ट्यासिचम्।। ऋ० 7.16.11; मै० 2.13.8
   (ख) अध्वर्यवः स पूर्णां विवष्ट्यासिचम्।। ऋ० 2.37.1
2. विवक्ति।।
   (क) ऊर्ध्वो विवक्ति सोमसुद् युवभ्याम्।। ऋ० 7.68.4
   (ख) विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखः।। शौ० 18.1.23
   (ग) विश्वानि देवो जनिमा विवक्ति।। तै० 2.3.14.6
   (घ) विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।।
   काठ० 10.13; पै० 5.2.3
3. सिषक्ति।।
   (क) इन्द्रं सिषक्त्युषसं न सूर्यः।। ऋ० 1.56.4
   (ख) श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः।। मा० 27.23
   (ग) वत्सं न माता सिषक्ति।। तै० 3.1.11.5
4. जजनत्।।
   (क) माता यद्वीरं जजनज्जनिष्ठम्।। मै० 1.3.20
   (ख) अपा ज्जजनदिन्द्रमिन्द्रियाय।। मै० 1.9.1
   (ग) सोमं पिबतु जजनदिन्द्रमिन्द्रियाय स्वाहा।। काठ० 9.8

एवं वेदों में इस सूत्र के अनेक प्रयोग हैं।।

।। इति अष्टम अध्याय।।

अष्टम अध्यायस्थ पाणिनीय वैदिकसूत्र-मीमांसा

228. प्रसमुपोदः पादपूरणे।। अष्टा० 8.1.6

का०- प्र सम् उप उद् इत्येतेषां पादपूरणे द्वे भवतः, द्विर्वचनेन चेत् पादः पूर्यते। प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे (ऋ० 7.8.4)। संसमिद्युवसे वृषन् (ऋ० 10.191.1)। उपोप मे परा मृश (ऋ० 1.126.7)। किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ (ऋ० 4.21.9)। पादपूरण इति किम्? प्र देवं देव्या धिया (ऋ० 10.176.2)। सामर्थ्यात् छन्दस्येवैतद् विधानम्। भाषायामनर्थकं स्यात् प्रयोगाभावात्।।

सि०- एषां द्वे स्तः पादपूरणे। प्रप्रायमग्निः (ऋ० 7.8.4)। संसमिद्युवसे (ऋ० 10.191.1)। उपोप मे परामृश (ऋ० 1.126.7)। किं नोदुदु हर्षसे (ऋ० 4.21.9)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'सर्वस्य द्वे'** (अष्य० 8.1.1) की अनुवृत्ति आ रही है। पाद की पूर्ति करनी हो अर्थात् अक्षरादि कम हों, तो पूर्ति करने में प्र, सम्, उप तथा उत् उपसर्गों को द्वित्व हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में यद्यपि वेद का नाम ग्रहण नहीं हुआ है, पनुरपि इस प्रकार का प्रयोग भाषा-विषय में न होने से सामर्थ्यवश यह सूत्र छान्दस् माना गया है। **'प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे', 'संसमिद्युवसे वृषन्', 'उपोप मे परामृश' 'किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ, '**-इनमें क्रमशः **प्र, सं, उप, उत्** -इन उपसर्गों को द्वित्व हो गया है। पाद की पूर्ति होने में इसका क्या फल है? **'प्र देवं देव्या धिया'**- यहाँ पाद पूर्वतः ही पूर्ण है, अतः द्वित्व नहीं हुआ।।

वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

(क) **प्र प्रेत्ते अग्ने वनुषः स्याम।।** ऋ० 1.150.3

(ख) प्र प्र दाश्वान्पस्त्याभिरस्थितान्तर्वावत्क्षयं दधे।।

ऋ० 1.40.7

(ग) प्र प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे।।

ऋ० 7.8.4; मा० 12.34; का० 13.3.5; तै० 2.5.12.4; 4.2.3.2; मै० 2.7.10

(घ) प्र वा ऋचा ह प्रयच्छति।। मै० 4.8.7

(क) प्रैवर्चाह प्र यजुषा यच्छति।। काठ० 29.2

(ङ) प्र सप्तयः प्र सनिषन्त नो धियः।। ऋ० 10.142.2

(च) प्र प्र क्षयाय पन्यसे जनाय।।

ऋ० 9.9.2; कौ० 2.935; जै० 3.24.2

(छ) प्र प्र वयम् अमृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषः।।

जै० 3.5.12; ऋ० 6.48.1; मा० 27.42; का० 29.5.11; मै० 2.13.9; काठ० 39.12; कौ० 1.35; 2.703

(क) उदुत्ते मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।। मै० 1.3.39

(ख) किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ।।

ऋ० 4.21.9; मै० 4.12.3

(ग) उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।। ऋ० 1.126.7

(घ) उपेहोपपर्चनम् (अ) स्मिन् गोष्ठ उप पृञ्चतु।।

पै० 16.26.4

(ङ) उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः।। शौ० 9.4.23

(च) उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते।।

ऋ० 8.51.7; मा० 3.34; का० 3.3.26; तै० 1.4.22.1; मै० 1.3.26; काठ० 4.10; कौ० 1.300; मा० 8.2; का० 8.1.1

(छ) उपोप ह वा एनं पशवो यन्ति नापयन्ति य एवं वेद।।

मै० 4.2.8

(ज) अयं वो बन्धुरितोमापगातेत्युपोपैवेनं पशवो यन्ति।।

काठ० 7.7

(क) संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।।

शौ० 6.63.4; ऋ० 10.191.1; मा० 15.30; का० 16.5.
12; तै० 2.6.11.4; 4.4.4.4;
मै० 2.13.7; काठ० 2.15

(ख) यत् पर्ज(न्यस्) स्तनयित्लुस् सं सं व्यथते जगत्।।

पै० 2.70.2

(ग) सं सं स्रवन्ति सिन्धवस् सं वातास् सं पतत्रिणः।।

पै० 19.43.13; शौ० 1.15.1

(घ) सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषा।। शौ० 2.26.3

एवं 'प्र' उपसर्ग के बाईस, 'सम्' उपसर्ग के आठ, 'उप' उपसर्ग के चोदह तथा 'उद्' उपसर्ग के तीन स्थलों पर सूत्रानुसार प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

229. छन्दसीरः।। अष्टा० 8.2.15

का०- छन्दसि विषय इवर्णान्ताद् रेफान्तात् चोत्तरस्य मतोर्वत्वं भवति। इवर्णान्तात् तावत्- त्रिवती याज्यानुवाक्या भवति। हरिवो मेदिनं त्वा (तै० सं० 4.7.14.4)। अधिपतिवतीर्जुहोति। चरुरग्निवाँ इव (ऋ० 7.104.2)। आरेवानेतु मा विशत्। 'रयेर्मतौ' (6.1.37 वा०) इति संप्रसारणम्। सरस्वतीवान् भारतीवान् (मै० सं० 3.10.6)। दधिवांश्चरुः (शौ० सं० 18.4.17)। 'छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते' (परि० 35) इतीह न भवति-सप्तर्षिमन्तम्, ऋषिमान्, ऋतीमान्, सूर्यं ते द्यावापृथिवीमन्तमिति। रेफान्तात्-गीर्वान्। धूर्वान्। आशीर्वान्।।

सि०- इवर्णान्ताद्रेफान्ताच्च परस्य मतोर्मस्य वः स्यात्। हरिवते हर्य्यश्वाय। गीर्वान्।।

प्रस्तुत सूत्र में 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (अष्या० 8.2.9) से 'मतोः' 'वः' की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में इवर्णान्त तथा रेफान्त

शब्दों से उत्तर मतुप् को वकारादेश होता है। **हरिवो मेदिनं त्वा**। यहाँ हरि इकारान्त शब्द से मतुप् होकर-**हरिमन्त सु रहा**। पुनः हल्ङ्यादि तथा संयोगान्त लोप होकर एवं प्रस्तुत सूत्र से वकारादेश होकर हरिवन्। '**मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि**' (अष्या० 8.3.1) से हरिवन् के न् को '**उरण् रपरः**' (अष्या० 1.1.51) रु हो गया। पुनः '**मेदिनम्**' का म् परे रहते रु को उत्व '**हशि च**' (अष्या० 6.1.110) के अनुसार '**संयोगान्तस्य लोपे रोरुत्वे सिद्धो वक्तव्यः**' (वा० 8.2.3) से संयोगान्तलोप हो गया। अन्यथा असिद्ध होने पर '**पूर्वत्रासिद्धम्**' (अष्या० 8.2.1) से त् परे माना जाता, और त् हश् के अन्तर्गत नही है। तब '**हशि च**' (अष्या० 6.1.110) से उत्व नहीं हो सकता। **त्रिवती याज्यानुवाक्या भवति। अधिपतिवती जुहोति। चरुरग्निवानिव। आरेवानेतु मा विशत्। सरस्वतीवान् भारतीवान्। दधीवाँश्चरुः**। वेद में सब विधियाँ विकल्प से होने के कारण **सप्तर्षिमन्तम्, ऋषिमान् ऋतीमान्, सूर्यं ते द्यावापृथिवीमन्तम्** - इनमें वत्व नहीं भी होता है। रेफान्त से परे मतुप् के प्रयोग यथा - **गीर्वान्। धूर्वान् आशीर्वान्।**

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. हरिवः।।

(क) **उप ब्रह्माणि हरिवः।।**

ऋ० 1.3.6; मा० 20.89; का० 20.8.10; शौ० 20.84.3

(ख) **सत्रा दधिरे हरिवो जुषस्व।।** ऋ० 3.51.6

(ग) **अस्मभ्यं दा हरिवो मादयध्यै।।** ऋ० 6.19.6

(घ) **प्रेदु हरिव श्रुतस्य।।** ऋ० 8.2.13

(ङ) **तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे।।** मा० 33.27; का० 32.2.9

(च) **प्र याहि हरिवो हरिभ्याम्।।** मा० 34.19; का० 33.1.13

(छ) **आस्य कुर्मो हरिवः मेदिनं त्वा।।** तै० 4.7.14.4

(ज) **तन्नो हरिवो यत्ते अस्मै।।** मै० 4.11.3

(झ) **कृण्मो हरिवो मेदिनं त्वा।।** काठ० 40.10

(ञ) **हरिवो मत्सरो मदः।।** कौ० 2.11.32

(ट) प्रेदु हरिवः सुतस्य।। कौ० 2.18.04

(ठ) अपाः: पूर्वेषां हरिवः सुतानाम्।। शौ० 20.32.3

(ड) अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह।। शौ० 20.33.1

2. हरिवत्।।

(क) हरिवच्छस्यत् इन्द्रस्य प्रियं धामोपाप्नोति।।

तै० 6.6.11.4

3. हरिवते।।

(क) हरिवते हर्यश्वाय धानाः।। ऋ० 3.52.7

(ख) हरिवत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा हरिवते।। काठ० 4.11

4. रेवान्।।

(क) यो रेवान्यो अमीवहा।।

ऋ० 1.18.2; मा० 3.29; का० 3.3.21;
मै० 1.5.4; काठ० 7.2

(ख) स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवान्।। ऋ० 7.1.23

(ग) रेवाँ इद्रेवतः स्तोता।। ऋ० 8.2.13; तै० 2.2.12.8

(घ) रेवान्मराय्येधते।। ऋ० 10.60.4

(च) स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः।। कौ० 2.16.65

(ज) रेवाँ इद्रेवत स्तोता।। कौ० 2.18.04

(झ) यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम्।। शौ० 20.66.4

(ञ) वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः।। शौ० 20.128.8

5. अधिपतिवती।।

(क) इमे लोका ज्योतिष्मन्तो भवन्त्यधिपतिवती भवन्ति।।

काठ० 21.3

6. पतिवती।।

(क) उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येऽषा।। ऋ० 10.85.21

7. अग्निवान्।।

(क) तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।।

ऋ० 7.104.2; वै० 16.9.2

(ख) कस्मै कमग्निश्चीयत इत्याहुरग्निवान्।। तै० 5.5.2.1-2

8. अर्चिवत्।।

(क) सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।। ऋ० 7.81.2; कौ० 2.752

(ख) यत्ते पवित्रमर्चिवदग्ने तेन पुनीहि नः।। ऋ० 9.67.24

9. भारतीवान्।। सरस्वतीवान्।।

(क) सरस्वतीवान् भारतीवान् परिवापः।।

मै० 3.10.6; काठ० 29.1

10. दधिवान्।।

(क) अपूपवान्दधिवांश्चरुरेह सीदतु।। शौ० 18.4.17

11. त्रिवती।।

(क) त्रिवतीर्याज्यानुवाक्या भवन्ति।। काठ० 11.1

12. शचीवान्।।

(क) उग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान्।। ऋ० 4.22.2

(ख) दात्सखा नृभ्यः शचीवान्।। ऋ० 8.2.39

13. शमीवान्।।

(क) शमीवान् यशसाम एति शमीवान् अभिशोकः।।

पै० 20.38.2

14. आशीर्वान्।।

(क) शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु।।

ऋ० 8.95.7; कौ० 1.350; 2.14.02; जै० 1.36.9

(ख) यतिभिराशीर्वाँ अथर्वभिः।। काठ० 5.4; 18.18

15. अन्तर्वन्तः।।

(क) देवा वै सर्वे सहान्तर्वन्तः।। मै० 4.2.13

16. अन्तर्वान्।।

(क) सोऽन्तर्वाणभवत्।। मै० 4.2.1

(ख) पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः।। शौ० 9.4.3; पै० 16.24.3

17. सुवर्वान्।।

(क) सुक्षितिः सुभूतिर्भद्रकृत् सुवर्वान्।। तै० 3.4.7.2

18. धूर्वन्तम्।।

(क) सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष।।

ऋ० 10.87.12; शौ० 8.3.21

(ख) अथर्वव(ज्) ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तम् अचितं न्य् ओष।। पै० 16.8.1

19. स्वर्वान्।।

(क) यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्।।

ऋ० 6.22.3; शौ० 20.3.3

(ख) स्वर्वां असुरेभ्यः।।

ऋ० 8.97.1; शौ० 20.55.2; कौ० 1.254

एवं प्रस्तुत सूत्र के अडसठ प्रयोग हमें वेदों में प्राप्त हुए हैं।।

230. अनो नुट्।। अष्टा० 8.2.16

का०- छन्दसीति वर्तते। अनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति छन्दसि विषये। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः (ऋ० 10.71.7)। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति (ऋ० 1.164.4)। अक्षण्वता लाङ्गलेन (पै० सं० 9.8.1)। शीर्षण्वती (शौ० सं० 10.1.2)। मूर्धन्वती (तै० सं० 2.6.2.2)। नुटोऽसिद्धत्वात् तस्य च वत्वं न भवति, ततः परस्य च भवति।।

सि०- अन्नन्तान्मतोर्नुट् स्यात्। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः (ऋ० 10.71.7)। अस्थन्वन्तं यदनस्था (ऋ० 1.164.4)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दसीरः'- (अष्या० 8.2.15) से 'छन्दसि' की तथा पूर्ववत् 'मतोः' की अनुवृत्ति आ रही है। अन् अन्त वाले शब्द से उत्तर मतुप् को वेद विषय मे नुट् आगम होता है। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। अक्षण्वन्त लाङ्गलेन। शीर्षण्वती। मूर्धन्वती। नुट् के असिद्ध होने से 'न' का वत्व नहीं होगा, बाद में आने वाले मतुप् के

'म' का वत्व होगा। 'शीर्षश्छन्दसि' (अष्या० 6.1.59) सूत्र में शीर्षन् शब्द निपातित है। उसको मतुप् परे रहते नुट् का आगम हुआ। **शीर्षण्वती** और **मूर्धन्वती** में **'उगितश्च'** (अष्या० 4.1.4) से ङीप् हुआ है।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **अस्थन्वन्तः।।**
   (क) **तेन प्रीणाति सोऽयमन्यतास्थन्वन्तो।।** तै० 6.2.8.5
   (ख) **अस्थन्वन्तः पशवः प्रजायन्ते।।** मै० 3.7.5
   (ग) **अस्थन्वन्तो हि वै त आसन्।।** मै० 3.8.6
   (घ) **अस्थन्वन्तो गर्भाः प्रजायन्ते।।** काठ० 24.5
2. **अस्थन्वन्तम्।।**
   (क) **अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।।**
   ऋ० 1.164.4; शौ० 9.14.4
3. **अक्षण्वान्।।**
   (क) **पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।।**
   ऋ० 1.164.16; शौ० 9.14.15; पै० 6.67.6
4. **अक्षण्वन्तः।।**
   (क) **अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो।।** ऋ० 10.71.7
5. **आत्मन्वान्।।**
   (क) **आत्मन्वान्त्सोमघृतावान्हि।।** 1.10.5
6. **आत्मन्वन्तम्।।**
   (क) **आत्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्।।** ऋ० 1.182.5
   (ख) **दधात्यात्मन्वन्तमेवैनं करोति।।** तै० 2.3.12.3
7. **आत्मन्वते।।**
   (क) **आत्मन्वते स्वाहा।।** काठ० 45.3
8. **दधन्वतः।।**
   (क) **अच्छिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः।।** ऋ० 6.48.18
9. **शीर्षण्वते।।**
   (क) **शीर्षण्वते स्वाहा।।** तै० 7.5.12.1; काठ० 45.3

10. शीर्षण्वन्तम्।।

(क) कङ्कचितँ शीर्षण्वन्तं चिन्वीत।। काठ० 21.4

11. शीर्षण्वान्।।

(क) शीर्षण्वान् मेध्यो भवति।। तै० 7.5.25.1

(ख) एतेन त्वमत्र शीर्षण्वानेधि।। क० 38.12

12. वृष्ण्वान्।।

(क) ममत्तु वातो अपां वृषण्वान्।।

ऋ० 1.122.3; तै० 2.1.11.1; काठ० 23.12

(ख) रथो वृषण्वान्मदता मनीषिणः।। ऋ० 1.182.1

13. वृषण्वन्तम्।।

(क) वृषण्वन्तं बिभ्रती धूर्षु।। ऋ० 1.100.16

14. दामन्वन्तः।।

(क) मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वन्तः सुरातयः।। ऋ० 5.79.4

15. ध्वस्मन्वत्।।

(क) सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु।। ऋ० 6.15.12

16. मूर्धन्वती।।

(क) तेनोभयतोदतो दाधार मूर्धन्वती।। तै० 2.6.2.2

(ख) अस्या उत्तरा मूर्धन्वती मूर्धैवैताभ्यां क्रियते।। काठ० 20, 5

17. मूर्धन्वतीः।।

(क) द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे मूर्धन्वतीर्भवन्ति।।

तै० 5.3.1; काठ० 20.1

(ख) धत्ते मूर्धन्वतीर्भवन्ति।। तै० 5.3.8.2

(ग) या अग्नेयीर्गायत्रीर्मूधन्वती।। काठ० 21.4

वेदों में सूत्रानुसार अस्थन्वतः, अस्थन्वन्तम्, अक्षण्वान्, अक्षण्वन्तः, आत्मवान्, आत्मन्वन्तम्, आत्मन्वते, दधन्वतः, शीर्षण्वते, शीर्षण्वन्तम्, शीर्षण्वान्, वृष्ण्वान्, वृषण्वन्तम् दामन्वन्तः, धस्मन्, मूर्धन्वती, मूर्धन्वतीः पद प्रयुक्त हैं। जिनका प्रयोग तैंतीस स्थलों पर हुआ है।।

231. नाद् घस्य।। अष्टा० 8.2.17

का०- नकारान्तादुत्तरस्य घसंज्ञकस्य नुडागमो भवति छन्दसि विषये। सुपथिन्तरः। दस्युहन्तमः।। भूरिदान्नस्तुड् वक्तव्यः।। भूरिदावत्तरः (ऋ० 8.5.39)।। ईद्रथिनः।। रथिन ईकारान्तादेशो घे परतः। रथीतरः (ऋ० 1.84.6)। रथशब्दादेव वा मत्वर्थीयोऽयमीकारः 'छन्दसीवनिपौ' (5.2.109 वा०) इति।।

सि०- नान्तात्परस्य घस्य नुट्। सुपथिन्तरः।। भूरिदान्नस्तुड्वाच्यः।। भूरिदावत्तरो जनः (ऋ० 8.5.39)। ईद्रथिनः।। रथीतरः (ऋ० 1.84.6)। रथीतमं रथीनाम् (ऋ० 1.11.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'अनो नुट्'** से **'नुट्'** की तथा पूर्ववत् **'छन्दसि'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में नकारान्त शब्द से उत्तर घंसज्ञक को नुट् आगम होता है। **सुपथिन्तरः।** सुपथिन् शब्द से **'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ'** (अष्टा० 5.3.57) से तरप् प्रत्यय करके तरप् घ **'आद्यन्तवदेकस्मिन्'** (अष्या० 1.1.21) को नुट् आगम, पुनः सुपथिन् के न का लोप होकर **सुपथिन्तरः** बना। **दस्युहन्तमः।** दस्युं हतवान् = दस्युहन् शब्द से तमप् होकर नुट् आगम हुआ। भूरिदावन् शब्द से परे घसंज्ञक को नुट् का आगम होना चाहिए। **भूरिदावत्तरः।।** रथिन् शब्द के बाद घ को ईत् का आगम होता है। **रथीतरः।** **रथीतमं रथीनाम्।** अथवा रथ शब्द से भी **'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ'** (वा० 5.2.109) से यह मत्वर्थक ईकार होता है।। लोक में **सुपथितरः, भूरिदानितरः, रथितरः, रथितमः** पद बनेंगे।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र तथा वार्तिक के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. **सुरभिन्तरः।।**

   (क) **स्रवादब्धः सुरभिन्तरः।।**

   ऋ० 9.107.2; कौ० 2.13.14; जै० 3.55.5

2. **मदिन्तरम्।।**

   (क) **एदु मध्वो मदिन्तरम्।।**

   ऋ० 8.24.16; शौ० 20.64.4; कौ० 1.385; कौ० 2.16.84; जै० 1.43.2

3. बृहद्रथन्तरः।।

(क) बृहद्रथन्तरयोस्त्वा स्तोमेन त्रिष्टुभो वर्तन्या।।

तै० 2.3.10.2

(ख) बृहद्रथन्तरयोस्त्वा स्तोमेनेत्याहौज।। तै० 2.3.11.4

4. रयिन्तमः।।

(क) यो रयिवो रयिन्तमो।। ऋ० 6.44.1; कौ० 1.351

5. मध्वन्तमानाम्।।

(क) मध्वन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।। का० 8.22.2

6. दस्युहन्तमम्।।

(क) समीधे दस्युहन्तमम्।।

मा० 11.34; ऋ० 6.16.15; तै० 3.5.11.4;
मै० 2.7.3

(ख) तमागन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुर्दस्युहन्तमम्।। ऋ० 8.39.8

(ग) अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमम्।।

ऋ० 10.171.2; कौ० 2.14.54; जै० 4.2.10

7. वृषन्तमम्।।

(क) विद्मा हि त्वा वृषन्तमम्।। ऋ० 1.10.10

(ख) वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्त्रसातमम्।। ऋ० 1.10.10

8. वृषन्तमः।।

(क) वृंषन्तमः सखिभिः स्वेभिरेवैः।। ऋ० 1.100.2

(ख) महीरपो वृषन्तमः।।

ऋ० 6.57.4; काठ० 23.11; कौ० 1.148;
जै० 1.16.4

''भूरिदावनस्तुड्वाच्यः'' (वार्तिक) के अनुसार प्रयोग-

1. भूरिदावत्तरः।।

(क) अन्यो नेत्सूरिरोहते भूरिदावत्तरो जनः।। ऋ० 8.5.39

2. भूरिदावत्तरा।।

(क) अश्वं हि भूरिदावत्तरा।।

ऋ० 1.109.2; तै० 1.1.14.1; काठ० 4.15

"ईद्रथिनः" - वार्तिक के अनुसार प्राप्त प्रयोग-

1. रथीतरः।।

(क) नकिष्ट्वद्रथीतरः।।

ऋ० 1.84.6; कौ० 2.950; जै० 3.24.16

2. रथीतमः।।

(क) स रथेन रथीतमः।। ऋ० 6.45.15

(ख) रथीतमो रथीनाम्।। ऋ० 8.45.7

(ग) रथीतमो वाजिनं यमिदू नशत्।। ऋ० 8.61.12

(घ) पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः।।

कौ० 2.13.11; जै० 3.55.2/4.22.3

3. रथीतमम्!!

(क) रथीतमं रथीनां वाजानाम्।।

ऋ० 1.11.2; मा० 12.56.15.61; का० 13, 4.12; तै० 4.6.3.4; म० 2.10.5; काठ० 18.3; 36.15; 37.9

(ख) रथीतमं कपर्दिनम्।। ऋ० 6.55.2

(ग) आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम्।।

कौ० 1.283; कौ० 2.827; जै० 1.30.1

प्रस्तुत सूत्र के सुरभिन्तरः, मदिन्तरम्, रथन्तरयोः, रयिन्तमः, मध्वन्तमानाम्, दस्युहन्तमम्, वृषन्तमस्य, वृषन्तमः, ये प्रयोग; 'भूरिदावनस्तुड्वाच्यः' इस वार्तिक के भूरिदावत्तरः, भूरिदावत्तरा प्रयोग तथा 'ईद्रथिनः' वार्तिक के रथीतरः, रथीतमः, रथीतमम् प्रयोग वेदों में प्राप्त होते हैं। इनका दिग्दर्शन संहिताओं में चौव्वन स्थलों पर होता है।।

232. नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि।। अष्टा० 8.2.61

का०- नसत्त निषत्त अनुत्त प्रतूर्त सूर्त गूर्त इत्येतानि छन्दसि विषये निपात्यन्ते। नसत्त निषत्तेति सदेर्नञ्पूर्वाद् निपूर्वात् च नत्वाभावो निपात्यते। नसत्तमञ्जसा। नसन्नमिति भाषायाम्। निषत्तः (ऋ० 1.58.3)। निषण्ण इति भाषायाम्। अनुत्तमित्युन्देर्नञ्पूर्वस्य निपातनम्। अनुत्तमा ते मघवन् (ऋ० 1.165.9)। अनुन्नमिति भाषायाम्। प्रतूर्तमिति त्वरतेः, तुर्वी इत्येतस्य वा निपातनम्। प्रतूर्तं वाजिन् (तै० सं० 4.1.2.1)। प्रतूर्णमिति भाषायाम्। सूर्तमिति सृ इत्येतस्योत्वं निपात्यते। सूर्ता गावः। सृता गाव इति भाषायाम्। गूर्तमिति गूरी इत्येतस्य नत्वाभावो निपात्यते। गूर्ता अमृतस्य (मा० सं० 6.34)। गूर्णमिति भाषायाम्।।

सि०- सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच निष्ठायां नत्वाभवो निपात्यते। नसत्तमञ्जसा। निषत्तमस्य चरतः। असन्नं निषण्णमिति प्राप्ते। उन्देर्नञ्पूर्वस्यानुत्तम्। प्रतूर्त्तमिति त्वरतेः 'तुर्वी' इत्यस्य वा। सूर्त्तमिति 'सृ' इत्यस्य। गूर्त्तमिति 'गुरी' इत्यस्य।।

प्रस्तुत सूत्र में **'न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्'** (अष्या० 8.2.57)से 'न' की, **'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः'** (अष्या० 8.2.42) से **'निष्ठातो नः'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में **नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त, गूर्त्त**- ये शब्द निपातन किये जाते है। **नसत्तमञ्जसा। निषत्तः।। नसत्त, निषत्त**- इनमें नञ् पूर्वक सद् और निपूर्वक सद् धातु से नत्वाभाव निपातित है। लोक में क्रमशः **नसन्नम्** और **निषण्णः** बनेंगे। **अनुत्तमा ते मघवन्** - नञ् पूर्वक 'उन्द्' धातु का यह निपातन होता है। भाषा में 'अनुन्नम्' बनेगा। **प्रतूर्तं वाजिनः**- प्र पूर्वक **'ञित्वरा संभ्रमे'** या **'उर्वी तूर्वी'** गत **'तूर्वी'** का यह निपातन किया गया है। लोक में न का 'त्व' णत्व होकर 'प्रतूर्णम्' बनेगा। **सूर्ता गावः**। 'सृ' गतौ इसका उत्व निपातित किया गया है। लोक में 'सृता गावः' बनेगा। **गूर्ता अमृतस्य-गुरी उद्यमने** धातु है, इसे नत्वाभाव निपातित किया गया है, लोक में **गूर्णम्** बनेगा।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. निषत्तः।।

(क) होता निषत्तो रयिषाळमर्त्यः।। ऋ० 1.58.3

(ख) होता निषत्तो मनोरपत्ये।। ऋ० 3.3.2

(ग) होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।। ऋ० 3.3.2

(घ) अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तः।। ऋ० 6.9.4

(ङ) महान्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तः।।

मा० 18.53; मै० 2.12.3; 4.9.11; काठ० 18.15; का० 20.3.3; तै० 4.7.13.2

2. निषत्तम्।।

(क) निषत्तमस्य चरतो ध्रुवस्य।। ऋ० 1.146.1

3. निषत्ताः।।

(क) असूर्ता सूर्ते रजसि निषत्ताः।। मै० 2.10.3

4. निषत्ता।।

(क) दुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः।। ऋ० 10.73.2

(ख) अग्नेर्गव्यूर्घृत आ निषत्ता।। ऋ० 10.80.6

5. अनुत्त।।

(क) इत पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतः।।

कौ० 1.248; 2.14.11; जै० 1.26.6

6. अनुत्तम्।।

(क) अनुत्तं वज्रिन्वीर्यम्।।

ऋ० 1.80.7; कौ० 2.412; 1.412; जै० 1.40.4

(ख) अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु।।

ऋ० 1.165.9; मा० 33.79; का० 32.6.10; मै० 4.11.3

(ग) अनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु।। ऋ० 7.34.11

7. अनुत्ता।।

(क) इदनुत्ता चर्षणीधृता।। ऋ० 8.90.5

8. प्रतूर्त्तम्।।

(क) प्रतूर्त्तं वाजिन्ना द्रव्।।

मा० 11.12; का० 12.2.1; तै० 4.12.1; 5.1.2.1; मै० 2.7.2; काठ० 16.1; 19.2

9. सूर्त्तम् सूर्ता।।

(क) असूर्ता सूर्ता रजसो विमाने।। तै० 4.6.2.2

10. गूर्ताः।।

(क) पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता।। ऋ० 4.19.8

(ख) राधो गूर्ता अमृतस्य पत्नीः।।

मा० 6.34; का० 6.8.5; तै० 1.4.1.1; मै० 1.3.3; काठ० 3.10

वेदों में 'नसत्त' पद अप्रयुक्त है। निषत्तः, निषत्तम्, निषत्ताः, निषत्ता, अनुत्तः, अनुत्तम्, अनुत्ता, प्रतूर्त्तम्, सूर्ता, गूर्ताः - पद दिखायी देते हैं, जिनका प्रयोग इकतालिस स्थलों पर हुआ हैं।

233. अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि।। अष्टा० 8.2.70

का०- अम्नस् ऊधस् अवस् इत्येतेषां छन्दसि विषय उभयथा भवति, रुर्वा रेफो वा। अम्नस्- अम्न एव (मै० सं० 1.6.10)। अम्नरेव। ऊधस्-ऊध एव (काठ० सं० 7.5)। ऊधर् (ऋ० 10.100.11) एव। अवस्- अवः (शौ० सं० 20.25.2) एव। अवरेव। यदा रुत्वं तदा 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (8.3.17) इति यकारः।। छन्दसि भाषायां च विभाषा प्रचेतसो राजन्युपसंख्यानं कर्तव्यम्।। प्रचेता राजन् (ऋ० 1.24.14), प्रचेतो राजन (तै० सं० 1.5.11.3)।। अहरादीनां पत्यादिषूपसंख्यानं कर्तव्यम्।। अहर्पतिः, अहःपति। गीर्पतिः, गीःपतिः। धूर्पतिः, धूःपतिः। विसर्जनीयबाधनार्थमत्र पक्षे रेफस्यैव रेफो विधीयते।।

सि०- रुर्वा वा रेफो वा। अम्न एव- अम्नरेव। ऊध एव - ऊध रेव। अव एव- अवरेव।।

प्रस्तुत सूत्र में 'रोऽसुपि' (अष्टा० 8.2.69) से 'रः' की, 'ससजुषो रुः' (अष्टा० 8.2.66) से 'रुः' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में अम्नस्, ऊधस् अवस्- इन पदों को रु एवं रेफ अर्थात् दोनों प्रकार से होते हैं। अम्न एव। ऊध एव। अवः एव। ये सब प्रयोग रु होगा तो 'भोभगोअघो अपूर्वस्य योऽशि' (अष्टा० 8.3.17) से रु के रेफ को य् तथा 'लोपः शाकल्यस्य' (अष्टा० 8.3.19) से उस य् का लोप होकर बनेगें। अम्नरेव। ऊधरेव। अवरेव - ये सब प्रयोग जब रेफ करेंगे, तब बनेंगे।

वेद में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. अम्न एव।।
   (क) तदाहुरम्न एवानुदुत्यायाग्निहोत्रंहोतउव्यमिति।।
   मै० 1.6.10
2. ऊध एव।।
   (क) अस्य प्रत्नामनु द्युतमित्यूध एवैतया करोति। काठ० 7/5
3. ऊधरध्नायाः।।
   (क) उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्यायाः।। ऋ० 6.63.3
4. ऊधर्र्तम्।।
   (क) ऊधर्र्तमत्र नकिरस्मा अपीपेत्।। ऋ० 10.31.11
5. ऊधरुपसेचन।।
   (क) दुहन्त्यूधरुपसेचनाय।। ऋ० 10.76.7
6. ऊधरभ्यायछति।।
   (क) यथा वत्स ऊधरभ्यायछति।। मै० 2.1.8
7. ऊधरासीत्।।
   (क) यथा चतुः पद्यूधरासीत्।। मै० 4.4.2
8. ऊधरघ्न्याया।।
   (क) उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया।। कौ० 2.14.20
9. अव इत्ते।।
   (क) अथा वयमव इत्ते वृणीमहे।। ऋ० 1.114.6

10. अव ईमहे।।

(क) आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्।। ऋ० 3.26.5

11. अव आवृणानः।।

(क) अग्निर्देवानामव आवृणानः।। ऋ० 4.1.20; मा० 33.16

12. अव आ।।

(क) इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे।।

13. अवरस्तु।।

(क) महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षम्।। कौ० 1.192 ; जै० 1.20.4

वेदों में अम्नरेव (रेफ पक्ष) उदाहरण अप्रयुक्त है। अम्न एव, ऊध एव, ऊधरेव, ऊधस् एव, ऊधरघ्न्याया, ऊधर्ऋतम्, ऊधरुपसेचनाय, ऊधरभ्यायछति, ऊधरासीत्, अव इत्ते, अव ईमहे, अव आवृणानः, अव आवृणे, अवरस्तु पद प्रयुक्त हैं।।

234. भुवश्च महाव्याहृतेः।। अष्टा० 8.2.71

का०- भुवस् इत्येतस्य महाव्याहृतेश्छन्दसि विषय उभयथा भवति, रुर्वा रेफो वा। भुव इत्यन्तरिक्षम्। भुवरित्यन्तरिक्षम्। महाव्याहृतेरिति किम्? भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः (ऋ० 10.50.4)। भुवरित्येतदव्य- यमन्तरिक्षवाचि महाव्याहृति।।

सि०- भुव इति। भुवरिति।।

प्रस्तुत सूत्र में 'अम्नरुधरवरित्युभयथा छन्दसि' (अष्टा० 8.2.70) से 'उभयथा छन्दसि' की तथा पूर्ववत् रः, रुः पदस्य की अनुवृत्ति आ रही हैं। वेद विषय में महाव्याहति जो भुवस् शब्द उसको भी रु एवं रेफ दोनों प्रकार से ही प्रयोग होते हैं। सात व्याहतियां भूर् भुवस् स्वर् महस् जनस् तपस् सत्यम् हैं। इनमें प्रारम्भिक तीन महाव्याहतियां हैं, क्योंकि इनका वेदों में साक्षात् प्रयोग प्राप्त होता हैं। इन महाव्याहतियों का वाच्य पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु है। इन्हीं के अन्तर्गत अन्य व्याहतियां भी समाविष्ट हो जाती हैं। उनसे अन्तरिक्ष की वाचक 'भुवस्' इस महाव्याहति को सूत्र में रुत्व एवं रेफ कहा गया है। महाव्याहति का- इसका क्या फल है? 'भुवो विश्वस्य भुवनेषु यज्ञियाः'-

यहाँ 'भू' शब्द का षष्ठी एकवचन का प्रयोग 'भुवः' है, यह महाव्याहृति नहीं है। 'भुवः' यह अव्यय अन्तरिक्षवाची महाव्याहृति है। अन्य का ग्रहण नहीं होगा। **अन्तरिक्ष के महान् होने से उसकी व्याहृति = व्यवहार= प्रयोग = कथन जिससे किया जाये, वह 'महाव्याहृति'** कहलायेगी।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं–

(क) **भूरितीमामसृजताग्निं रथंतरं त्रिवृतं गायत्रीं भुवरित्यन्त-रिक्षं वातम्।।** काठ० 6.7

(ख) **भुवरङ्गिरसां त्वा देवानां व्रतेनादध।।** काठ० 7.13

(ग) **उपरी भूरसौ पूर्वो भुवो भूर्भुवरित्यपर आधेय उभा एवैनो सहाधत्त।।** काठ० 8.4

(घ) **भूरिति प्रथमां वितृण्णीमभिमृशेद्भुवरिति द्वितीयाँ स्वरिति तृतीयाम्।।** काठ० 22.8

प्रस्तुत सूत्र के ये चार स्थल ही वेदों में प्राप्त होते हैं।।

235. ओमभ्यादाने।। अष्टा० 8.2.87

का०- अभ्यादानं प्रारम्भः, तत्र य ओम्शब्दः, तस्य प्लुतो भवति। ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० 1.1.1) अभ्यादान इति किम् ? ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत (छा० उप० 1.1.1)

सि०- ओम्शब्दस्य प्लुतः स्यादारम्भे। ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० 1.1.1) अभ्यादाने किम्? ओमित्येकाक्षरम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः'** (अष्टा० 8.2.82) से **'प्लुत उदात्तः'** की तथा पूर्ववत् **'पदस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। अभ्यादान = प्रारम्भ में जो ओम् शब्द है, उसे प्लुत उदात्त हो जाता है। जैसे–**'ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम्'**। यह ऋचा का प्रारम्भ है। अतः इसके पूर्व 'ओ३म्' को प्लुत उदात्त हो गया। 'अभ्यादन' का क्या अभिप्राय है? **ओमित्येकाक्षरम्-** यह ऋचा नहीं है तथा 'ओम्' पद यहां श्लोक का ही खण्ड है, उससे पृथक् नहीं है। अतः सूत्रानुसार 'ओम' पद ऋचा के प्रारम्भ में हो और वह ऋचा से पृथक् हो तब प्लुत होगा। **'अचश्च'** (अष्टा० 1.2.28) के अनुसार सर्वत्र अच् को ही प्लुत होता है। अतः 'ओम्' में 'ओ' को प्लुत उदात्त हुआ 'ओ३म्' बना।।

प्रस्तुत सूत्र सभी वेदों की ऋचाओं के प्रारम्भ में कार्य करेगा। अतः सभी ऋचाएं ही इस सूत्र के प्रयोग हैं।।

236. ये यज्ञकर्मणि।। अष्टा० 8.2.88

का०- ये इत्येतस्य यज्ञकर्मणि प्लुतो भवति। यो३यजामहे। यज्ञकर्मणीति किम्? ये यजामह इति पञ्चाक्षरम् (तै० सं० 1.6.1.1.1) इति स्वाध्यायकाले मा भूत्। ये यजामह इत्यत्रैवायं प्लुत इष्यते। इह हि न भवति- ये देवासो दिव्येकादश स्थ (ऋ० 1.139.11) इति।।

सि० - यो३यजामहे। यज्ञेति किम्? ये यजामहे।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **'प्लुत' उदात्तः तथा 'पदस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। यज्ञ की क्रिया में **'ये'** इस पद को प्लुत उदात्त होता है। **यो३यजामहे।** श्रौतयज्ञकर्म में याज्या अर्थात् जिस मन्त्र में आहुति दी जाती है, उसके आरम्भ में **'यो३यजामहे'** उच्चारित किया जाता है। 'यज्ञकर्म' में ही क्यों? **'ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्'**- यदि स्वाध्यायकाल में इसे मात्र पढ़ना ही उद्देश्य हो तो प्लुत नहीं होता। **ये यजामहे**- केवल इसी पद को प्लुत उदात्त होगा। **'ये देवासो दिव्येकादश'** यहां ये पद रहते हुए भी प्लुत उदात्त नहीं होगा।

प्रस्तुत सूत्र की उपयोगिता तब है, जब ये मन्त्र यज्ञक्रिया में उच्चारित किये जायें। स्वाध्याय करते समय ये प्लुत नहीं होगें।।

237. प्रणवष्टे।। अष्टा० 8.2.89

का०- यज्ञकर्मणीति वर्तते। यज्ञकर्मणि टेः प्रणव आदेशो भवति। क एष प्रणवो नाम? पादस्य वार्द्धर्चस्य वान्त्यमक्षरमुपसंगृह्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोकारमोङ्कारं वा विदधति, तं प्रणवमित्याचक्षते। अपां रेतासि जिन्वतो३म् (ऋ० 8.44.16)। देवान् जिगाति सुम्नयो३म् (ऋ० 3.27.1)। टिग्रहणं सर्वादेशार्थम्। ओकारः सर्वादेशो यथा स्यात्, व्यञ्जनान्तेऽन्त्यस्य मा भूदिति। यज्ञकर्मणीत्येव- अपां रेतांसि जिन्वति(ऋ० 8.44.16)।।

सि०- यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशः स्यात्। अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० 8.44.16)।। टेः किम्? हलन्ते अन्त्यस्य मा भूत्।।

प्रस्तुत सूत्र में '**वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः**' (अष्य० 8.2.82) से '**वाक्यस्य प्लुतः उदात्तः**' की, '**ये यज्ञकर्मणि**' (अष्य० 8.2.88) से 'यज्ञकर्मणि' की तथा पूर्ववत् 'पदस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। यज्ञ के कर्म में वाक्य के अन्तिम शब्द के टि को प्रणव अर्थात् 'ओम्' या ओङ्कारादेश होता है और वह 'ओम्' प्लुत उदात्त होता है। यह प्रणव क्या है? पाद के अथवा अर्धर्च के अन्त्य अक्षर से लेकर वह आदि है जिसका अक्षर और शेष = व्यञ्जन के स्थान पर = अर्थात् टि के स्थान पर तीन मात्राओं वाले जिस ओकार या ओंकार को करते हैं, उसे 'प्रणव' कहते हैं। **अपां रेतांसि जिन्वतो३म्। देवान् जिगाति सुम्नयो३म्।** टि का ग्रहण समस्त के स्थान पर आदेशार्थ है। ओकार (या ओंकार) सम्पूर्ण के स्थान पर जैसे हो जाये, व्यञ्जनान्त शब्द में केवल अन्त्य व्यञ्जन के स्थान पर ही न लग जाये। यह यज्ञसम्बन्धी क्रिया में ही होगा।- **अपां रेतांसि जिन्वति।।**

भाष्यकार ने कहा- '**प्रणव इत्युच्यते कः प्रणवो नाम? पादस्य वाऽर्द्धर्चस्य वाऽन्त्यमक्षरमुपसंहृत्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोंकारं त्रिमात्रमोकारं वा विदधति तं 'प्रणव' इत्याचक्षते। अथ टिग्रहणं किमर्थम्? टिग्रहणं सर्वादेशार्थम्। यदा ओकारस्तदा सर्वादेशो यथा स्यात्। यदा हि ऊँकारस्तदाऽनेकाल्शित्सर्वस्येति सर्वादेशो भविष्यति**'।।

प्रस्तुत सूत्र का उपयोग यज्ञकाल में ही होगा।।

238. याज्यान्तः।। अष्टा० 8.2.90

का०- याज्या नाम ये याज्याकाण्डे पठ्यन्ते मन्त्रास्तेषामन्त्यो यष्टिः स प्लवते यज्ञकर्मणि। स्तोमैर्विधेमाग्नयो३ (ऋ० 8.43.11)। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाह३म् (तै० सं० 4.4.4.1)। अन्तग्रहणं किम्? याज्यानाम ऋचः काश्चिद् वाक्यसमुदायरूपाः, तत्र यावन्ति वाक्यानि तेषां सर्वेषां टेः प्लुतः प्राप्नोति। सर्वान्त्यस्यैवेष्यते, तदर्थमन्तग्रहणम्।।

सि०- ये याज्या मन्त्रास्तेषामन्त्यस्य टेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाह3म् (तै० सं० 4.4.4.1)। अन्तः किम्? याज्यानामृचां वाक्यसमुदायरूपाणां प्रतिवाक्यं टेः स्यात्। सर्वान्त्यस्य चेष्यते।।

प्रस्तुत सूत्र में '**प्रणवष्टेः**' (अष्ट्या० 8.2.88) से '**टेः**' की, तथा पूर्ववत् '**यज्ञकर्मणि**' '**वाक्यस्य प्लुत उदात्तः**' '**पदस्य**' की अनुवृत्ति आ रही है। याज्या नाम की ऋचाओं के अन्त की टि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है। वेद की सभी संहिताओं में याज्यानुवाक्या मन्त्र इधर-उधर हैं; मात्र मैत्रायणी संहिता के 4, 10-14 ग्रन्थ के अन्त में वे सब एक स्थान पर ही हैं। अतः इस काण्ड का नाम ही 'याज्यानुवाक्याकाण्ड' है। इस काण्ड में पठित मन्त्र 'याज्या' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन मन्त्रों से श्रौतकर्म में आहुति दी जाती है वे याज्या मन्त्र हैं। सूत्र में याज्या पद से उन्हीं का स्मरण किया गया है। उदा०- **स्तोमैर्विधेमाग्नयो३। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाह3म्।** अन्त का ग्रहण किसलिये किया गयाहै? याज्या नामक ऋचायें कुछ वाक्यसमुदाय रूप हैं। उनमें जितने वाक्य हैं, उन सभी की टि का प्लुत प्राप्त होता है, किन्तु सबसे अन्तवाले वाक्य की टि का ही प्लुत करना सूत्र का प्रयोजन है। अतः 'अन्तः' पद का पाठ आचार्य ने किया है। इसीलिये भाष्यकार ने लिखा - '**अन्तग्रहणं किमर्थम्? याज्या नामर्चो वाक्यसमुदायस्तत्र यावन्ति वाक्यानि सर्वेषां टेः प्लुतः प्राप्नोति, इष्यते चाऽन्त्यस्य स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमन्तग्रहणम्**'।।

प्रस्तुत सूत्र द्वारा किया गया प्लुत उदात्त विधान मात्र यज्ञ व्यवहार काल में ही है। इससे भिन्न क्वचिदपि सूत्र की प्रयोजनता असिद्ध है।।

239. ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः।। अष्टा० 8.2.91

का०- ब्रूहि प्रेष्य श्रौषट् वौषट् आवह इत्येतेषामादेः प्लुतो भवति यज्ञकर्मणि। अग्नयेऽनुब्रू3हि (श० ब्रा० 2.5.3.12)। प्रेष्य- अग्नये गोमयान् प्रो३ष्य। श्रौषट्-अस्तु श्रौ3षट् (तै० सं० 1.6.11.1)। वौषट्-सोमस्याग्ने वीही3वौ3षट् (ऐ० ब्रा०

3.5.6)। आवह- अग्निमा३वह (तै० ब्रा० 3.5.3.2)। आवह देवान् यजमानाय (तै० ब्रा० 3.5.3.2) इत्येवमादावयं प्लुतो न भवति। 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परि० 35) इति।।

सि०- एषामादेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। अग्नयेऽनुब्रू3हि (श० ब्रा० 2.5.3.12)।

अग्नये गोमयानि प्रो३ष्य। अस्तु श्रौ3षट् (तै० सं० 1.6.11.1)। सोमस्याग्ने वीही3वौ3षट् (ऐ० ब्रा० 3.5.6)। अग्निमा३वह (तै० ब्रा० 3.5.3.2)।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् 'यज्ञकर्मणि प्लुत उदात्तः' पदस्य, की अनुवृत्ति आ रही है। यज्ञकर्म में ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इन पदों के आदि को प्लुत उदात्त होता है। ब्रूहि- अग्नयेऽनुब्रू3हि। प्रेष्य- अग्नये गोमयान् प्रो३ष्य। श्रौषट्- अस्तु श्रौ3षट्। वौषट्- सोमस्याग्ने वीही3वौ3षट्। आवह- अग्निमा३वह। इन सब में उपर्युक्त पद प्लुत उदात्त है। कहीं कहीं नहीं भी होता है, जैसे- आवह देवान् यजमानाय। यहां 'आवह' पद होते हुए भी प्लुत उदात्त नहीं हुआ। क्योंकि वेद में सभी विधियाँ विकल्प से होती हैं।

प्रस्तुत सूत्र का उपयोग मात्र यज्ञ-काल में है।।

240. अग्नीत्प्रेषणे परस्य च।। अष्टा० 8.2.92

का०- अग्नीधः प्रेषणमग्नीत्प्रेषणम्। तत्रादेः प्लुतो भवति परस्य च। आ३श्रा३वय (तै० सं० 1.6.11.2)। ओ३श्रा३वय। अत्रैवायं प्लुत इष्यते। तेनेह न भवति- अग्नीदग्नीन् विहर बर्हिःस्तृणाहि (तै० सं० 6.3.1.2) इति। तदर्थं केचिद् वक्ष्यमाणं विभाषेत्यभिसंबध्नन्ति। सा च व्यवस्थितविभाषेति। अपर आह- 'सर्व एव प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा विज्ञेयः' (महाभाष्य० 3.4.20) इति। इह तु उद्धर3उद्धर, अभिहर3अभिहर इति छान्दसः प्लुतव्यत्ययः। यज्ञकर्मणीत्येव- ओ श्रावय।।

सि०- अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुतः तस्मात् परस्य च। ओ३श्रा३वय। (नेह- अग्नीदग्नीन्विहर, बर्हिस्तृणीहि)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडवहानामादेः'** (अष्टा० 8.2.91) से **'आदेः'** की तथा पूर्ववत् **यज्ञकर्मणि, प्लुतः, उदात्तः, पदस्य,** की अनुवृत्ति आ रही है। यज्ञकर्म में अग्नीध के प्रेषण = नियोजन (=कार्यार्थ प्रैष करने) में पद के आदि को प्लुत उदात्त होता है। और उससे परे को भी होता है। अग्नि को प्रदीप्त करने वाले व्यक्ति की **'अग्नीध्'** संज्ञा है। अर्थात् ऋत्विक् विशेष को **'अग्नीध्'** कहते हैं। अग्नि पूर्वक 'इन्धि' धातु से दीप्ति अर्थ में क्विप् प्रत्यय करके **'अग्नीध्'** पद बना है। **आ३श्रा३वय, ओ३श्रा३वय्**- यहां आश्रावय पद के आदि आ को प्लुत हुआ तथा इससे परे श्रा को भी प्लुत हो गया। इसी प्रकार **ओ३श्रा३वय** में भी प्लुत उदात्त हो गया। अग्नीध् को प्रेषणादि व्यापार से भिन्न स्थिति में पद के आदि को प्लुत उदात्त नहीं होता है, जैसे- **'अग्नीदग्नीन् विहर बर्हिःस्तृणाहि वस्तुतः'**- वेद में सभी विधियाँ वैकल्पिक होने से ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं। इसलिये कतिपय विद्वानों ने अग्रिम **'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः'** (अष्टा० 8.2.93) इस सूत्र में कथित **'विभाषा'** का सम्बन्ध इस **'अग्नीत्प्रेषणे परस्य च'** (अष्टा० 8.2.92) सूत्र के साथ किया है, इसे व्यवस्थित विभाषा कहा जाता है। अन्य आचार्यों का यह भी कथन है कि शास्त्र का परित्याग न करते हुए प्लुत विकल्प से किये जाते हैं। इसीलिये प्रस्तुत सूत्र में अग्रिम सूत्र की विभाषा का सम्बन्ध लगाना अनावश्यक ही है। **उद्धार3 उद्धर, अभिहर3 अभिहर**- यहां तो वैदिक प्लुत का व्यत्यय है। इस सूत्र का प्रयोग यज्ञकर्म में ही होता है, अन्य स्थलों पर नहीं। अतः **ओ श्रावय**- यह प्लुत रहित ही है।

भाष्यकार का प्रस्तुत सूत्र पर यह उल्लेख प्राप्त होता है-

'।। अग्नीत्प्रेषणे इत्यतिप्रसङ्गः ।। अग्नीत्प्रेषणे इत्यतिप्रसङ्गो भवति। इहापि प्राप्नोति- अग्नीदग्नीन्विहर ।। सिद्धं त्वोश्रावयेपरस्य चेति वचनात्। सिद्धमेतत्। कथम्? ओश्रावये परस्य चेति वचनात्। ओश्रावये परस्येति वक्तव्यम्। ओ श्रा वय।। अपर आह- ओश्रावयाश्रावययोरिति वक्तव्यम्। ओ३ श्रा३ वय। आ३ श्रा३ वय।। बहुलमन्यत्र। बहुलमन्यत्रेति वक्तव्यम्। उद्धरा३ उद्धर। आहरा३ आहर। तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। योगविभागः करिष्यते- 'अग्नीत्प्रेषणे परस्य च विभाषा'। ततः ''पृष्टप्रतिवचने हेः''। विभाषेत्येव। अपर आह।। सर्व एव प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्यः'।।

एवं यज्ञकर्म में अग्नि को प्रज्वलित करते समय ही सूत्र द्वारा प्लुत विधान है, अन्यत्र नहीं।।

241. विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः।। अष्टा० 8.2.93

का०- पृष्टप्रतिवचने विभाषा हेः प्लुतो भवति। अकार्षीः कटं देवदत्त? अकार्षं हि3, अकार्षं हि। अलावीः केदारं देवदत्त? अलाविषं हि3, अलाविषं हि। पृष्टप्रतिवचन इति किम्? कटं करिष्यति हि। हेरिति किम्? करोमि ननु।।

सि०- प्लुतः। अकार्षीः कटम्? अकार्षं हि3। अकार्षं हि। पृष्टेति किम्? कटं करिष्यति हि। हेः किम्? कटं करोमि ननु।।

प्रस्तुत सूत्र में 'प्लुत उदात्तः' 'पदस्य' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। पूछे गये प्रश्न के प्रत्युत्तर वाक्य में जो 'हि' है उसे विकल्प से प्लुत उदात्त होता है। अकार्षीः कटं देवदत्तः? अकार्षं हि3, अकार्षं हि। अलावीः केदारं देवदत्तः? अलाविषं हि3, अलाविषं हि। ये सब पृष्टप्रतिवचन में वाक्य कहे गये हैं, अतः 'हि' को विकल्प से प्लुत उदात्त हो गया। 'पृष्टप्रतिवचन' से क्या अभिप्रायः है? 'कटं करिष्यति हि' यहां प्रश्नोत्तर नहीं रहने पर सामान्य वाक्य में प्रयुक्त 'हि' पद प्लुत उदात्त नहीं हुआ है। 'हि' पद क्यों कहा गया है? करोकि ननु। यहां 'ननु' पद का प्रयोग है 'हि' का नही। अर्थात् 'हि' को छोड़कर दूसरा कोई भी अव्यय रहेगा, उसे प्लुत नहीं होगा।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोग मात्र पृष्टप्रतिवचनकाल में ही है।।

242. निगृह्यानुयोगे च।। अष्टा० 8.2.94

का०- स्वमतात् प्रच्यावनं निग्रहः। अनुयोगस्तस्य मतस्याविष्करणम्। तत्र निगृह्यानुयोगे यद् वाक्यं वर्तते टेः प्लुतो भवति विभाषा। अनित्यः शब्द इति केनचित् प्रतिज्ञातम्, तमुपालिप्सुरुपपत्ति-भिर्निगृह्य साभ्यसूयमनुयुङ्क्तफअनित्यः शब्द इत्यात्थ३, अनित्यः शब्द इत्यात्थ। अद्य श्राद्धमित्यात्थ३, अद्य श्राद्धमित्यात्थ। अद्यामावास्येत्यात्थ३, अद्यामावास्येत्यात्थ।

अद्यामावास्येत्येवं वादी युक्त्या प्रच्याव्य स्वमतादेवमनुयुज्यते।।

सि०- अत्र यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतो वा। अद्यामावास्येत्यात्थ३? अमावास्येत्येवं वादिनं युक्त्या स्वमतात्प्रच्याव्य एवमनुप्रयुज्यते।।

प्रस्तुत सूत्र में **'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः'** (अष्ट्य० 8.2.93) से **'विभाषा'** की तथा पूर्ववत् **'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' पदस्य**, की अनुवृत्ति आ रही है। तर्क एवं हेतु द्वारा किसी को स्वमत से हटा देने को अर्थात् उसके पक्ष को स्ववाक्यों से विखण्डित करने का नाम निग्रह है। जिस पक्ष से वह निगृहीत हुआ है, उसी मत का शब्दों द्वारा प्रकाश करना अनुयोग नाम से जाना जाता है। इस प्रकार निग्रह करने के उपरान्त अर्थात् दूसरे पक्ष का खण्डन करने के बाद अनुयोग में वर्तमान जो वाक्य उसकी टि को विकल्प से प्लुत उदात्त होता है। जैसे- किसी ने 'शब्द' अनित्य होता है'- ऐसी प्रतिज्ञा की। ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले के पक्ष का तर्क एवं हेतु द्वारा खण्डन कर दिया, यह निग्रह कहलाता है। अब जिस पक्ष से अर्थात् 'शब्द अनित्य होता है'- इस प्रतिज्ञा से वह हटाया गया है, उसी पक्ष का क्रोध में भरकर निन्दा द्वारा वह उपालभ्य= उलाहना देने वाला प्रकाश करता है, जैसे, **'अनित्यः शब्द इत्यात्थ३, अनित्यः शब्द इत्यात्थ। अद्य श्राद्धमित्यात्थ३, अद्य श्राद्धमित्यात्थ। अद्यामावास्येत्यात्थ३, अद्य अद्यामावास्येत्यात्थ**- शब्द अनित्य होता है, ऐसा कहता है, आज श्राद्ध है ऐसा कहता है, आज अमावास्या है, ऐसा कहता है। इस प्रकार यहां निगृह्यानुयोग है। अर्थात् पूर्वपक्षी की बात को युक्ति पूर्वक खण्डित करके प्रतिपक्षी पुनः उसी की बात को आवृत्ति करता है, ऐसी स्थिति होने पर प्रतिपक्षी के वाक्य के अन्तिम शब्द की टि को प्लुत उदात्तः होता है।।

प्रस्तुत सूत्र का मात्र निगृह्यानुयोग में ही उपयोग होता है।।

243. आम्रेडितं भर्त्सने।। अष्टा० 8.2.95

का०- 'वाक्यादेरामन्त्रितस्य०' (8.1.8) इति भर्त्सने द्विर्वचनमुक्तम्, तस्याम्रेडितं प्लवते। चौरचौर३, वृषलवृषल३, दस्योदस्यो३ घातयिष्यामि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा।। भर्त्सने पर्यायेणेति वक्तव्यम्।। चौर३चौर, चौरचौर३। तदर्थमाम्रेडितग्रहणं द्विरुक्तोपलक्षणार्थं वर्णयन्ति।।

सि०- दस्यो३दस्यो३ घातयिष्यामि त्वाम्। आम्रेडितग्रहणं द्विरुक्तोपलक्षणम्। चौर३ चौर३।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **'प्लुत उदात्तः'** की अनुवृत्ति आ रही है। **'तस्य परमाम्रेडितम्'** (अष्टा० 8.1.2) में कहा गया है कि द्वित्व किये हुए पर वाले अर्थात् दूसरे शब्द की **'आम्रेडित'** संज्ञा होती है। **'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु'** (अष्टा० 8.1.8) में बताया गया है कि यदि वाक्य में असूया, सम्मति, कोप कुत्सन, भर्त्सन गम्यमान हो रहा हो, तो वाक्य के आदि के आमन्त्रित को द्वित्व होता है। इस सूत्र में 'भर्त्सन' की गम्यमानता में द्वित्व कहा है, अतः प्रस्तुत सूत्र का अर्थ हुआ कि आम्रेडित को (टि को) भर्त्सन में प्लुत उदात्त होता है। **चौरचौर3, वृषलवृषल3, दस्योदस्यो३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा**- यहां द्वित्व किये हुए के आम्रेडित-संज्ञक को प्रस्तुत सूत्र से प्लुत उदात्त हो गया। **'भर्त्सने पर्यायेणेति वक्तव्यम्'।।** - यह वार्तिक पढ़कर वार्तिककार 'भर्त्सनार्थ' में पर्याय से भी प्लुत उदात्त होता है। **चौर3चौर, चौरचौर3।** आम्रेडितग्रहण द्विरुक्त का उपलक्षण (बोधक) होने से दोनों में प्लुत उदात्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन भर्त्सनप्रक्रिया में ही है।।

244. अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम्।। अष्टा० 8.2.96

का०- अङ्ग इत्यनेन युक्तं तिङन्तमाकाङ्क्षं भर्त्सने प्लवते। अङ्ग कूज३, अङ्ग व्याहर३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। तिङिति किम्? अङ्ग देवदत्त, मिथ्या वदसि। आकाङ्क्षमिति किम्? अङ्ग पच। नैतदपरमाकाङ्क्षति। भर्त्सन इत्येव- अङ्गाधीष्व, आदनं ते दास्यामि।।

सि०- 'अङ्ग' इत्यनेन युक्तं तिङन्तं प्लवते। अङ्ग कूज३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। तिङ् किम्? अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि। आकाङ्क्षं किम्? अङ्ग पच। नैतदपरमाकाङ्क्षति। भर्त्सन इत्येव। अङ्गाधीष्व भक्तं तवदास्यामि।।

प्रस्तुत सूत्र में **'आम्रेडितं भर्त्सने'** (अष्टा० 8.2.85) से **'भर्त्सने'** की तथा पूर्ववत् **'प्लुत उदात्तः'** की अनुवृत्ति आ रही है। किसी वाक्य में भर्त्सना

गम्यमान होने पर 'अङ्ग' शब्द से युक्त जो आकांक्षा रखने वाला तिङन्त उसके टि को प्लुत उदात्त होता है। उदा०- **अङ्ग कूज३, अङ्ग व्यवहर३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म।** यहां 'कूज' और 'व्याहर' में लोडन्त तिङन्त अङ्ग शब्द से युक्त तथा आकांक्षा रखते हैं, अतः इन्हें प्लुत उदात्त हो गया। 'आकांक्षा' का अर्थ नागेशभट्ट ने '**आकाङ्क्षीति आकाङ्क्षम्**'- अर्थात् किसी अन्य बात की आकांक्षा रखना 'आकांक्ष' कहलाता है' किया है तथा जहां एक ही वाक्य में एक तिङन्त दूसरे तिङन्त के साथ सम्बन्ध रखता है वहां आकाङ्क्षतिङ होता है। सूत्र के प्रयोगों में भर्त्सना का अर्थ प्रकट हो रहा है। समग्र भावाभिव्यक्ति 'कूज' क्रिया से अज्ञात है, अतः यह आकांक्षातिङ् है। इसी 'कूज' क्रिया के टि 'अ' भाग को प्लुत होकर 'कूज3' हो गया है। यहां किसी ने किसी से कहा कि 'खूब कूज लो, खूब व्याकरों अभी जान जाओगे'। तिङ् यह क्यों कहा गया? '**अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि**'। यहां सूत्र-निर्धारित पद तो है किन्तु मात्र 'अङ्ग' के साथ 'तिङ्' के अभाववश यहां प्लुत नहीं होगा। यहां देवदत्त सुबन्त अर्थात् सम्बोधन में है, तिङ्न्त में नहीं। 'आकाङ्म्' ऐसा क्यों कहा गया? अङ्ग पच।- यहां 'पच्' क्रिया किसी की आकाङ्क्षा नहीं रख रही है। स्वयं ही भावों को स्पष्ट कर रही है, अतः आकाङ्क्षा के अभाव में प्लुत नहीं हुआ। भर्त्सन से क्या अभिप्राय है? **अङ्गाधीष्व आदेनं ते दास्यामि**।- यहां आकाङ्क्षतिङ् 'अधीष्व' तिङन्त होने पर भी 'दास्यामि' तिङन्त से सम्बन्ध होने पर भी, अङ्ग पद होने पर भी मात्र अर्थ 'भर्त्सन' नहीं है, यहां तो लोभ दिया जा रहा है, अतः 'अधीष्व' क्रिया के टि को प्लुत नहीं होगा।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोग किसी वाक्य में भर्त्सना गम्यमान होने पर 'अङ्ग' शब्द से युक्त जो आकांक्षा रखने वाले 'तिङन्त', उसके 'टि' को उदात्त होते समय होगा।।

245. विचार्यमाणानाम्।। अष्टा० 8.2.97

का०- प्रमाणेन वस्तुपरीक्षणं विचारः तस्य विषये विचार्यमाणानां वाक्यानां टेः प्लुतो भवति। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ (तै० सं० 6.1.4.5)। होतव्यं न होतव्यमिति विचार्यते। तिष्ठेद्यूपा३इ। अनुप्रहरेद्यूपा३इ। यूपे तिष्ठेत्, यूपेऽनुप्रहरेदिति विचार्यते।।

सि०- वाक्यानां टे प्लुतः। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ (तै० सं० 6.1.4.5)। न होतव्य3मिति। होतव्यं न होतव्यमिति विचार्यते। प्रमाणैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षणं विचारः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः**' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। सूत्रार्थ से पूर्व दो पदों का अर्थ जानना आवश्यक है (1) **विचार**-काशिकाकार ने लिखा है '**प्रमाणेन वस्तु परीक्षणं विचारः**', अर्थात् प्रमाण से वस्तुपरीक्षण विचार कहलाता है। नागेशभट्ट ने '**कोटिद्वयस्पृक् ज्ञानं विचारः**'- अर्थात् स्वीकारात्मक और नकारात्मक- इन दोनों पक्षों के स्पर्श का ज्ञान ही विचार है'' कहा है। आचार्य भर्तृहरि लिखते हैं- **कोटिद्वयस्पृग्विज्ञानं विचार इति कथ्यते।।** जिस विशेष ज्ञान में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का स्पर्श किया जाता हो, विचार कहलाता है। भट्टोजिदीक्षित ने भी काशिकाकार के वचनों का ही विस्तारमात्र करते हुए लिखा- '**प्रमाणों के द्वारा वस्तु के यथार्थ तत्व का परीक्षण विचार है।**' वस्तुतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी वस्तु का परीक्षण करना अर्थात् यह कैसा है, कैसा नहीं है, इस प्रकार पूर्वापर चिन्तन विचार है।

सूत्रार्थ से पूर्व द्वितीय समझने योग्य पद है 'विचार्यमाण'। नागेशभट्ट ने लिखा है- **''तादृश ज्ञानविषयीभूतो विचार्यमाणः''**। अर्थात् किसी वस्तु का जिसमें विचार होता है, वह विचार्यमाण है। आचार्य भर्तृहरि ने भी कहा- '**विचार्यमाणस्तज्ज्ञानविषयीभूत उच्यते**'।। विचार का विषयरूप ज्ञान विचार्यमाण कहलाता है। अतः सूत्रार्थ होगा कि ऐसे विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत उदात्त होता है। वि पूर्वक चर धातु से कर्म में यक् शानच् प्रत्यय होकर 'विचार्यमाण' बना है। उदा०- '**होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ**'। '**दीक्षित के घर में यज्ञ करना चाहिए अथवा नहीं**'- यह विचार किया जा रहा है। '**तिष्ठेद्यूपा३इ। अनुप्रहरेद्यूपा३इ**'। '**यूप पर रहे या यूप पर प्रहार किया जाये**'- यह विचार चल रहा है, अतः ये वाक्य विचार्यमाण हैं। इसीलिए '**गृहे**' '**यूपे**' के एकार को प्रस्तुत सूत्र से प्लुत करने पर '**एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते**' '**पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ**' (अष्टा० 8.2.107) सूत्र ने कहा कि 'अप्रगृह्यसंज्ञक एच्, जो दूर से बुलाने के विषय में न हो, तो प्लुत करने के

प्रसंग में उस एच् के पूर्वार्ध भाग को आकारादेश होता है, और वह प्लुत होता है तथा उत्तर वाले भाग को इकार उकार आदेश होते हैं।' इसीलिये प्रकृत सूत्र के उदाहरणों में 'ए' के उत्तरांश को 'इ' तथा पूर्व को अकार होकर प्लुत हुआ हैं। एच् की दो मात्रायें हैं, अतः एक-एक मात्रा को दोनों कार्य हुए हैं।। यह सूत्र वेद-विषयक है, यद्यपि इसमें 'छन्दसि' आदि पद आचार्य ने नहीं पढ़े हैं। पुनरपि अग्रिम प्रकरणवश इसे वैदिक कहना उचित होगा।

प्रस्तुत सूत्र पर वैयाकरणों द्वारा प्रदत्त प्रयोग ही वेदों में प्रयुक्त हुआ है, अन्य नहीं। यह प्लुत भी तब होगा, जब विचार किया जायेगा।

246. पूर्वं तु भाषायाम्। अष्टा० 8.2.88

का०- भाषायां विषये विचार्यमाणानां पूर्वमेव प्लवते। अहिर्नु३ रज्जुर्नु। लोष्टो नु३ कपोतो नु। प्रयोगापेक्षं पूर्वत्वम्। इह भाषाग्रहणात् पूर्वयोगश्छन्दसि विज्ञायते।।

सि०- विचार्यमाणानां पूर्वमेव प्लवते। अहिर्नु3 रज्जुर्नु। प्रयोगापेक्षं पूर्वत्वम्। भाषाग्रहणात्पूर्वयोगश्छन्दसीति ज्ञायते।।

प्रस्तुत सूत्र में '**विचार्यमाणानाम्**' (अष्टा० 8.2.88) की; तथा पूर्ववत् '**वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः**' की अनुवृत्ति आ रही है। वस्तुतः पूर्वसूत्र '**विचार्यमाणानाम्**' (अष्टा० 8.2.87) वेद में कार्य करता है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र '**भाषायाम्**' पदपठित होने से लैकिक संस्कृत में विधान कर रहा है। अर्थ इस प्रकार है- लैकिक भाषा में विचार्यमाण वाक्यों के पूर्व वाले वाक्य की टि को प्लुत उदात्त होता है। **अहिर्नु३ रज्जुर्नु। लोष्टो नु३ कपोतो नु।** 'यह सर्प है या रस्सी है', 'ढेला है या कपोत है'- यहां पूर्व वाले वाक्यों की टि को ही प्लुत हुआ है, परवाले को नहीं। 'नु' वितर्कवाची है। काशिका के कतिपय संस्करणों में 'लोष्ठः' पद मिलता है, जो अशुद्ध है।।

प्रस्तुत सूत्र का उपयोग विचार्यमाण वाक्यों के साथ ही होगा।।

247. प्रतिश्रवणे च।। अष्टा० 8.2.99

का०- प्रतिश्रवणमभ्युपगमः, प्रतिज्ञानम्, श्रवणाभिमुख्यं च।

तत्राविशेषात् सर्वस्य ग्रहणम्। प्रतिश्रवणे यद् वाक्यं वर्तते तस्य टेः प्लुतो भवति। देवदत्त भोः, किमात्थ३। गां मे देहि भोः, अहं ते ददामि३। नित्यः शब्दो भवतुमर्हुति३।।

सि०- वाक्यस्य टेः प्लुतोऽभ्युपगमे, प्रतिज्ञाने, श्रवणाभिमुख्ये च। गां मे देहि भोः। हन्त ते ददामि३। नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३। दत्त किमात्थ३।।

प्रस्तुत सूत्र में **'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः'** पदस्य, की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। प्रतिश्रवण का अर्थ स्वीकार करना या अङ्गीकार करना तथा अच्छी प्रकार श्रवणाभिमुख होना है। काशिकाकार ने 'प्रतिश्रवण' के **अभ्युपगमः, प्रतिज्ञानम्, श्रवणाभिमुखम्**- ये अर्थ किये हैं। प्रतिश्रवण में वर्तमान वाक्य के टि भाग को भी प्लुत उदात्त होता है। **देवदत्त भोः, किमात्थ३। गां मे देहि भोः, अहं ते ददामि3।** प्रथम उदाहरण में कोई देवदत्त को सम्बोधित करता है। सुनने वाला पूछता हैं- क्या कहा? इस प्रकार पूछने से उसके अच्छी प्रकार सुनने की चेष्ट्य प्रकट होती है, अतः टि भाग को प्लुत उदात्त हो गया है। द्वितीय उदाहरण में किसी ने किसी से कहा- **'भो देवदत्त, क्या कहा, 'गो मुझे दान करो'**। तब अन्य ने उसकी स्वीकृति में कहा- **'अहं ते ददामि'** = मैं तुम्हें गाय देता हूँ। अतः यह वाक्य अङ्गीकार अर्थ में प्रतिश्रवण है।

शब्द नित्य होता है- वक्ता इस प्रतिज्ञा वाक्य को सिद्ध करना चाहता है। प्रतिज्ञा वाक्य होने से 'अर्हति' के टि को प्लुत उदात्त हो गया। एवं काशिकाकार ने प्रतिश्रवण के अभ्युपगम, प्रतिज्ञान और श्रवणाभिमुख्य- तीनों के उदाहरण दिये हैं।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोग प्रतिश्रवणकाल में ही होगा।।

248. अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः।। अष्टा० 8.2.100

का०- अनुदात्तः प्लुतो भवति प्रश्नान्ते, अभिपूजिते च। अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ, पटा३उ। अग्निभूते, पटो इत्येतयोः प्रश्नान्ते वर्तमानयोरनुदात्तः प्लुतो भवति। अगम इत्येवमादीनां तु 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' (8.2.105)

इति स्वरितः प्लुतो भवति। अभिपूजिते- शोभनः खल्वसि माणवक३।।

सि०- अनुदात्तः प्लुतः स्यात्। दूराद्धूतादिषु सिद्धस्य प्लुतस्यानुदात्तत्व- मात्रमनेन विधीयते। अग्निभूता३इ। पटा३इ। अग्निभूते, पटो- एतयोः प्रश्नान्ते टेरनुदात्तः प्लुतः। शोभनः खल्वसि माणवक३।।

प्रस्तुत सूत्र में '**वाक्यस्य टेः प्लुतः**' तथा '**पदस्य**' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। प्रश्नान्त का अर्थ प्रश्न किये जाने वाले वाक्य का अन्तिम पद है। नागेशभट्ट ने कहा है- '**प्रश्नवाक्ये यच्चरमं प्रयुज्यते स प्रश्नान्तः**'।- अर्थात् प्रश्नान्त प्रश्न किये जाने वाले वाक्यों के अन्तिम पद होते हैं। अभिपूजित पद सत्कारार्थक है। एवं सूत्रार्थ यह है कि प्रश्नान्त तथा अभिपूजित में विधीयमान प्लतु को अनुदात्त होता है। **अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३इ**। यहां 'अग्निभूते' के एकार को अ + इ करके 'अ' को प्लुत हो गया एवं वह अनुदात्त हो गया है। पटो (पट + उ) में 'पट' के 'अ' को प्लुत तथा यह प्लुत अनुदात्त हो गया है। प्रश्नान्त में प्लुत का विधान '**अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः**' (अष्टा० 8.2.105) सूत्र से है। वाक्यस्थ अन्त्य एवं अनन्त्य समस्त समस्त पदों के टि को प्लुत स्वरित '**अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः**' (अष्टा० 8.2.105) से निर्दिष्ट है। इसलिये यहां इस वचनप्रामाण्य से प्रश्नावक्य के अन्तिम पद को पक्ष में प्लुत अनुदात्त भी हो जाता है, पक्ष में स्वरितत्व रहेगा। एवं अन्तिम पद का प्लुत स्वरित एवं प्लतु अनुदात्त होकर दो पक्ष बन जायेंगे। इसीप्रकार अभिपूजितार्थ में सम्बोधन के पद को उदात्त प्लुत '**दूराद्धूते**' (अष्टा० 8.2.84) से प्राप्त था, प्रस्तुत सूत्र से अनुदात्त प्लुत हो गया। अभिपूजितार्थ में प्रयोग है- **शोभनः खल्वसि माणवक३**। यहां 'माणवक' के अन्तिम 'टि' के 'अ' को प्लुत हुआ और यह प्लुत अनुदात्त हो गया।।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन 'प्रश्नान्त' तथा 'अभिपूजितार्थ' में है।।

249. चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने।। अष्टा० 8.2.101

का०- अनुदात्तमिति वर्तते। चिदित्येतस्मिन् निपात उपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति। प्लुतोऽप्यत्र विधीयते, न

गुणमात्रम्। अग्निचिद् भाया३त्। राजचिद् भाया३तू। अग्निरिव भायात्। राजेव भायादित्यर्थः। उपमार्थ इति किम्? कथंचिदाहुः। प्रयुज्यमान इति किम्? अग्निर्माणवको भायात्।।

सि०- वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतः। अग्निचिद् भाया३त्। अग्निरिव भायात्। उपमार्थे किम्? कथंचिदाहुः। प्रयुज्यमाने किम्? अग्निर्माणवको भायात्।।

प्रस्तुत सूत्र में '**अनुदात्तं प्रश्नान्तभिपूजितयोः**' (अष्टा० 8.2.100) से 'अनुदात्तम्' पद की; तथा पूर्ववत् '**वाक्यस्य टेः प्लुतः**' '**पदस्य**' की अनुवृत्ति आ रही है। उपमा के अर्थ में जब 'चित्' यह निपात प्रयुक्त होवे, तब वाक्य के टि को अनुदात्त प्लुत होता है। **अग्निचिद् भाया३त्। राजचिद् भाया३त्। अग्निरिव भायात्, राजेव भायादित्यर्थः।** अग्नि के समान प्रकाशित हो, राजा के समान प्रकाशित हो। यहां चित् शब्द के उपमार्थ में होने के कारण भायात् के टि को प्लुत- अनुदात्त हुआ है। 'उपमा अर्थ में' - ऐसा क्यों कहा गया? उपमा से भिन्नार्थ में चित् के रहने पर वाक्य के टि को प्लुत-अनुदात्त नहीं होगा। जैसे-'**कथंचिदाहुः**।' यहां 'चित्' का प्रयोग कृच्छार्थ में है। अतः टि को प्लुत-अनुदात्त नहीं हुआ। प्रयुज्यमान में- ऐसा क्यों कहा? यह भी ध्यान रखना होगा कि चित् का उपमार्थ में साक्षात् प्रयोग होना चाहिए। उपमा का अर्थ होने पर भी यदि वाचक चित् का प्रयोग न हो तो यह सूत्र कार्य नहीं करेगा, यथा- '**अग्निर्माणवको भायात्**'। इस वाक्य में उपमा का अर्थ तो है पर 'चित्' पद का नहीं है। अतः न प्लुत हुआ और न अनुदात्त। इति पद का प्रयोग इसलिये किया है कि दूसरे उपमावाचक 'इव' 'यथा' आदि पदों का प्रयोगानन्तर भी यह सूत्र कार्य नहीं करेगा, यथा-'**अग्निरिव भायात्**'- यहां 'इव' पद उपमार्थक है, किन्तु प्लुत अथवा उदात्त पुनरपि नहीं हुआ। अतः 'प्रयुज्यमाने' पद का आचार्य ने प्रयोग किया है।

सूत्र का प्रयोग उपमा के अर्थ में जब 'चित्' का प्रयोग हो, तभी होता है।।

250. उपरिस्विदासीदिति च।। अष्टा० 8.2.102

का०- अनुदात्तमिति वर्तते। उपरिस्विदासीदित्येतस्य टेरनुदात्तः प्लुतो

भवति। अधस्स्विदासी३द् उपरि स्विदासी३त् (तै० ब्रा० 2.8.9.5)। अधः स्विदासीदित्यत्र 'विचार्यमाणानाम्' (अष्टा० 8.2.97) इत्युदात्तः प्लुतः। उपरिस्विदासीदित्यत्र तु अनेनानुदात्तः।।

सि०- टेः प्लुतोऽनुदात्तः स्यात्। उपरि स्विदासी3त् (तै० ब्रा० 2.8.9.5)। अधस्स्विदासी3द् (तै० ब्रा० 2.8.9.5) इत्यत्र तु 'विचार्यमाणानाम्' (अष्टा० 8.2.97) इत्युदात्तः प्लुतः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः'** (अष्या० 8.2.100) से **'अनुदात्तम्'** की तथा **'वाक्यस्य टेः प्लुतः उदातः'** (अष्या० 8.2.82) से **'वाक्यस्य टेः प्लुतः'** की अनुवृत्ति आ रही है। **'उपरि स्विदासीत्'** इसकी टि को भी प्लुत अनुदात्त स्वर होता है। जैसे-**अधस्स्विदासी3त्**- इसमें **'विचार्यमाणानाम्'** (अष्या० 8.2.97) इस सूत्र द्वारा वाक्य की टि का उदात्त प्लुत होता है। उपरि स्विदासी3त्- इसमें **'उपरिस्विदासीदिति च'** (अष्या० 8.2.102) इस प्रस्तुत सूत्र द्वारा अनुदात्त प्लुत हुआ है।।

वेदों में इस सूत्र का निम्न प्रयोग प्राप्त हुआ है-

1. **अथः स्विदासी३ दुपरि स्विदासी३त्।।**

   (क) **तिरश्चिनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।।**

   ऋ० 10.129.5; मा० 33.74; का० 32.6.5

इस सूत्र का एक ही मन्त्र तीनों स्थलों पर पुनरावृत्ति से प्रयुक्त हुआ है।।

251. स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासंमतिकोपकुत्सनेषु।। अष्टा० 8.2.103

का०- स्वारितः प्लुतो भवति आम्रेडिते परतोऽसूयायाम्, संमतौ, कोपे, कुत्सने च गम्यमाने। 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमति-कोपकुत्सनभर्त्सनेषु' (8.1.8) इति द्विर्वचनमुत्तफम्, तत्रायं प्लुतविधिः। असूयायां तावत्-माणवक३माणवक, अभिरूपक३, अभिरूपक रित्तफं त आभिरूप्यम्। संमतौ-माणवक३ माणवक, अभिरूपक३ अभिरूपक शोभनः खल्वसि। कोपे-माणवक३ माणवक, अविनीतक३ अविनीतक

इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने शात्तफीक३ शात्तफीक, याष्टीक३ याष्टीक रित्तफा ते शत्तिफः।। असूयादिषु वावचनं कर्तव्यम्।। माणवक माणवकेत्येवमाद्यपि यथा स्यात्।।

सि०- स्वरितः प्लुतः स्यादाम्रेडिते परेऽसूयादौ गम्ये। असूयायाम्- अभिरूपक३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ- अभिरूपक३ अभिरूपक शोभनोऽसि। कोपे-अभिनीतक३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने- शाक्तीक३ शाक्तीक रिक्ता ते शक्तिः।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् 'टेः' प्लुतः की अनुवृत्ति आ रही है। असूया = निन्दा, सम्मति = पूजा, कोप और कुत्सन गम्यमान होने पर आम्रेडित परे रहते पूर्वपद की टि को स्वरित प्लुत होता है। **'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासम्मतिकोप-कुत्सनभर्त्सनेषु'**(अष्या० 8.1.8) सूत्र द्वारा आमन्त्रित को द्वित्व होता है, इसलिये परवाले पद 'आम्रेडितम्' (अष्या० 8.1.2) के परे रहते पूर्व टि को प्लुत स्वरित हो जायेगा। असूया- **माण्वाक३ माणवक, अभिरूपक३ अभिरूपक रिक्तं त आभिरूप्यम्।** यहां द्विरुक्ति में बाद वाले आम्रेडित के परे रहते पूर्व को प्लुत हुआ है, तथा यह प्लुत स्वरित है। **संमति-माणवक३ माणवक, अभिरूपक३ अभिरूपक शोभनः खल्बसि-** यहां भी आम्रेडित परे रहते पूर्व को प्लुत स्वरित हो गया। **कोप - माणवक३ माणवक, अविनीतक३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सन- शाक्तीक३ शाक्तीक, याष्टीक३ याष्टीक रिक्ता ते शक्तिः।** - सर्वत्र उदाहरणों में आम्रेडित के पूर्व वाले को प्लुत स्वरित हो गया है। वार्तिककार का कथन है कि असूयादि वचनों में प्लुतस्वरित विकल्प से होना चाहिए- माणवक माणवकेत्येवमाद्यपि यथा स्यात्- यहां प्रयोग में आम्रेडित के पूर्ववाले को प्लुत स्वरित नहीं हुआ है।।

प्रस्तुत सूत्र का असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन- ये अर्थ गम्यमान होने पर उपयोग होगा।।

252. क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्।। अष्टा० 8.2.104

का०-स्वरित इति वर्तते। क्षिया आचारभेदः, आशीः प्रार्थनाविशेषः,

शब्देन व्यापारणं प्रैषः- एतेषु गम्यमानेषु तिङन्तमाकाङ्क्षं यत् तस्य स्वरितः प्लुतो भवति। आकाङ्क्षतीत्याकाङ्क्षम्, तिङन्तमुत्तरपदमाकाङ्क्षतीत्यर्थः। क्षियायां तावत्-स्वयं रथेन याति३, उपाध्यायं पदातिं गमयतीति। स्वयम् आदेनं ह भुङ्क्त्फे३, उपाध्यायं सत्तफून् पाययति। पूर्वमत्र तिङन्तमुत्तरपदमाकाङ्क्षतीति आकाङ्क्षं भवति। आशिषि- सुताश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात। छन्दोऽध्येषीष्ट३ व्याकरणं च भद्र। प्रैषे-कटं कुरु३ ग्रामं च गच्छ। यवान् लुनीहि३ सत्तफूंश्च पिब। आकाङ्क्षमिति किम्? दीर्घं त आयुरस्तु। अग्नीन् विहर।।

सि०- आकाङ्क्षस्य तिङन्तस्य टेः स्वरितः प्लुतः स्यादाचारभेदादौ। आचारभेदे-स्वयं रथेन याति३, उपाध्यायं पदातिं गमयति। प्रार्थनायाम्- पुत्राँश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात। व्यापारणे- कटं कुरु३ ग्रामं च गच्छ। आकाङ्क्षं किम्? दीर्घायुरसि, अग्निदग्नीन्विहर।।

प्रस्तुत सूत्र में '**स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु**' (अष्टा० 8.2.103) से '**स्वरितम्**' की तथा पूर्ववत् '**टेः प्लुतः**' की अनुवृत्ति आ रही है। आचार के उल्लङ्घन को '**क्षिया**', विशेष प्रकार की प्रार्थना को '**आशीः**' तथा शब्द से प्रेरित करने को '**प्रैष**' कहा जाता है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा- आकाङ्क्ष तिङन्त की टि को क्षिया, आशीः तथा प्रैष गम्यमान होने पर स्वरित प्लुत होता है।। उदा०- **क्षिया- स्वयं रथेन याति३, उपाध्यायं पदातिं गमयति।** यहां गुरु को पैदल भेजकर स्वयं रथ से जाना ही क्षिया अर्थात् आचार का उल्लंघन है। साथ ही '**याति**' क्रिया का दूसरी क्रिया '**गमयति**' के साथ सम्बन्ध है, अतः आकांक्षतिङन्त '**याति**' के टि भाग (ति) को स्वरित प्लुत हो गया। इसी प्रकार '**स्वयम् ओदनं ह भुङ्क्तो३**' **उपाध्यायं सक्तून् पाययति।** इसे भी पूर्व तिङन्त '**भुङ्क्ते**', अन्तरवर्ती तिङन्त '**पाययति**' का सम्बन्ध दिखा रहा है, अतः स्वरित प्लुत हो गया। **आशिषि- सुतांश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात।** यहां आशीर्वाद दिया जा रहा है, पूर्व '**लप्सीष्ट**' इस तिङन्त का दूसरे वाक्य के '**लप्सीष्ट**' (अध्याहार्य) से सम्बन्ध है, अतः '**लप्सीष्ट**' के '**टि**' को प्लुत स्वरित हो गया है। इसी प्रकार '**छन्दोऽध्येषीष्ट३ व्याकरणं च**

भद्र' में भी हुआ है। **प्रैषे-'कटं कुरु३ ग्रामं च गच्छ। यवान् लुनीहि३ सक्तूंश्च पिब'**- यहाँ चटाई बनाने की और गांव को जाने की तथा यवों को बीनने की और सक्तू पीने की प्रेरणा है। अतः 'कुरु' और 'गच्छ', तथा 'लुनीहि' और 'पिब' का सम्बन्ध भी है तो क्रिया के टि को प्लुत स्वरित हो गया। 'आकांक्षातिङ्' क्यों कहा गया? **'दीर्घं त आयुरस्तु'। 'अग्नीन् विहर'।** यहाँ 'आशीः' तथा 'प्रैष' दोनों अर्थ तो हैं, किन्तु 'अस्तु' तिङन्त का दूसरे 'विहर' तिङन्त से काई सम्बन्ध नहीं है, अतः न प्लुत हुआ और न ही स्वरित।।

प्रस्तुत सूत्र का उपयोग 'क्षिया', 'आशीः' और 'प्रैष' अर्थ में सूत्रनिर्दिष्ट नियमानुसार ही होगा।।

253. अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः।। अष्टा० 8.2.105

का०- पदस्येति वर्तते, स्वरितमिति च। अनन्त्यस्यापि पदस्य टेः प्लुतो भवति प्रश्न आख्याने च। अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ। सर्वेषामेव पदानामेष स्वरितः प्लुतः। अन्त्यस्य 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' (8.2.100) इति अनुदात्तोऽपि पक्षे भवति। आख्याने-अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न् भोः३।।

सि०-अनन्त्यस्यान्त्यस्यापि पदस्य टेः स्वरितः प्लुत एतयोः। अगम३ पूर्वा३न् ग्रामा३न्? सर्वपदानामायम्। आख्याने-अगम3म् पूर्वा३न् ग्रामा३न्।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **'स्वरितम्' 'वाक्यस्य टेः प्लुतः' 'पदस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। प्रश्न एवं आख्यान होने पर वाक्यस्थ अनन्त्य एवं 'अपि' ग्रहण से अन्त्य पद की टि को स्वरित प्लुत होता है। सूत्र में 'पदस्य' और 'वाक्यस्य' इन दानों का अधिकार होने से वाक्यान्त पद को ही स्वरित प्लुत की प्राप्ति थी। अतः 'अनन्त्यस्य' पद पढ़ने से वाक्य के समस्त पदों को स्वरित प्लुत हो जायेगा। आख्यान कथन उत्तर का नाम है। **अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ।** आख्यान में जैसे-**अगम3म् पूर्वा३न् ग्रामा३न् भोः३।।**

प्रस्तुत सूत्र का उपयोग प्रश्न एवं आख्यान होने पर सूत्रनिर्दिष्ट व्यवस्थानुसार संभव है।।

254. प्लुतावैच इदुतौ।। अष्टा० 8.2.106

का० - दूराद्धूतादिषु प्लुतो विहितः। तत्र ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवभूताविदुतौ प्लुतौ। ऐ३तिकायन। औ3पमन्यव। अत्र यदेवर्णोवर्णयोरवर्णस्य च समविभागः, तदेदुतौ द्विमात्रावनेन प्लुतौ क्रियेते। प्लुताविति हि क्रियानिमित्तोऽयं व्यपदेशः। इदुतौ प्लवेते वृद्धिं गच्छत इत्यर्थः। तावती च सा प्लुतिर्भवति, यावत्या तावैचौ त्रिमात्रौ संपद्येते। यदा त्वर्धमात्रावर्णस्याध्यर्धमात्रे-वर्णोवर्णयोः, तदा तावर्धतृतीयमात्रौ क्रियेते इति। भाष्ये तूत्तफम्- इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुत इति। तत् कथम्? समप्रविभागपक्ष इदुतोरनेन त्रिमात्रः प्लुतो विधीयते।।

सि०- दूराद्धूतादिषु प्लुतो विहितः। तत्रैव ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवाविदुतौ प्लवेते। ऐ३तिकायन। औ३पगव। चतुर्मात्रावत्र ऐचौ सम्पद्यते।।

प्रस्तुत सूत्र में **'प्लतुः'** की अनुवृत्ति आ रही है। **'दूराद्धूते च'** (अष्या० 8.2.84) आदि में वाक्य के टि को प्लुत होने का विधान किया गया है। वहां ऐच् के स्थान में जब प्लुत होने का प्रसङ्ग हो, तब उस ऐच् = ऐ औ के अवयवभूत जो इकार उकार उनको प्लुत होता है। अ और इ के मेल द्वारा ए ऐ एवं अ तथा उ के मेल द्वारा ओ औ का निर्माण होता है। इस प्रकार एच् समाहार वर्ण हुआ। इसलिये **'दूराद्धूते च'** (अष्या० 8.2.84) इत्यादि सूत्रों द्वारा जो प्लुत का विधान किया गया है वहां यदि ऐ और औ को प्लुत करने की स्थिति होवे तो ऐ औ के अवयवभूत इवर्ण और उवर्ण को ही प्लुत किया जाये। तत्स्थित अवर्ण को नहीं, इसी उद्देश्य से आचार्य ने इस सूत्र की रचना की है। उदा०- **ऐ३तिकायन। औ३पमन्यव।** प्रस्तुत सूत्र से प्लुत के प्रसंग में ऐच् (अ + इ = ए, ऐ) के अवयवभूत इकार को प्लुत हुआ है, अवर्ण को नहीं। इसी प्रकार **'औपगव'** में भी उवर्ण को ही प्लुत हुआ, अ वर्ण को नहीं। ऐ = (अ + इ) और (अ + उ) यहां इवर्ण, उवर्ण को प्लुत करने से लाभ यह हुआ

कि ऐ, औ की चार मात्राएं हो गयी हैं, अर्थात् अवर्ण को एक मात्रा तथा प्लुत इवर्ण की तीन मात्राएं, कुल चार मात्राएं होती हैं। इसी प्रकार औ में भी अ को एक मात्रा और प्लुत उवर्ण की तीन मात्राएं, कुल चार मात्राएं हो गयी। काशिकाकार ने भाष्यकार के मत को प्रमाणार्थ उद्धृत किया है। नागेशभट्ट ने भी इसीलिये कहा- 'एचोः मात्रा अवर्णस्य' मात्रा इवर्णोवर्णयोरिति। उत्तरखण्डस्य त्रिमात्रत्वे चतुर्मात्रतेति भावः। स्पष्टं चेदं भाष्ये। अत्र चतुर्मात्रस्याऽच्त्वमपि। तेन प्रत्यङ्ङैतिकायने' त्यादौ ङमुडादि सिध्यतीति बोध्यम्।।'

प्रस्तुत सूत्र का उपयोग नियमानुसार प्लुत करणार्थ ही होगा।।

255. एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ।। अष्टा० 8.2.107

का०-एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते प्लुतविषयस्य पूर्वस्यार्धस्याकार आदेशो भवति, स च प्लुतः, उत्तरस्येकारोकारावादेशौ भवतः। विषयपरिगणनं कर्तव्यम्।। प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्य-भिवादयाज्यान्तेष्विति वत्तफव्यम्।। प्रश्नान्ते-अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ। अभिपूजिते- भद्र करोषि माणवक३ अग्निभूता३इ, पटा३उ। विचार्यमाणे-होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ (तै० सं० 6.1.4.5)। प्रत्यभिवादे-आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ, पटा३उ। याज्यान्ते- उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ (ऋ० 8.43.11)। सोऽयम् अकारः प्लुतो यथाविषयमुदात्तोऽनुदात्तः स्वरितो वेदितव्यः। इदुतौ पुनरुदात्तावेव भवतः। परिगणनं किम्? विष्णुभूते विष्णुभूते३ घातयिष्यामि त्वा। आगच्छ भो माणवक विष्णुभूते। परिगणने च सत्यदूराद्धूत इति न वत्तफव्यम्। पदान्तग्रहणं तु कर्तव्यम्। इह मा भूत्- भद्रं करोषि गौ३ः इति। अप्रगृह्यस्येति किम्? शोभने खलु स्तः खट्वे३।। आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वत्तफव्यः।। अग्ना३इ पत्नीवा३ः (तै० सं० 1.4.27.1)।।

सि०-अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्याकारः प्लुतः स्यादुत्तरस्य त्वर्धस्य इदुतौ स्तः।। प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाण-प्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्वेव।। प्रश्नान्ते-अगमः३ पूर्वा३न्ग्रामा३न् अग्निभूता३इ? अभिपूजिते-भद्रं करोषि पटा३उ। विचार्यमाणे-होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ, न होतव्य3मिति। प्रत्यभिवादे-आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ, याज्यान्ते- स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ परिगणनं किम्? विष्णुभूते। घातयिष्यामि त्वाम्। 'अदूराद्धूते' इति न वक्तव्यम्। पदान्तग्रहणं तु कर्त्तव्यम्। इह मा भूत-भद्रं करोषि गौरिति। 'अप्रगृह्यस्य' किम्? शोभने माले३ ।। आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः।। अग्ना३इ पत्नी वः।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् '**प्लुतः**' की अनुवृत्ति आ रही है। अप्रगृह्यसंज्ञक एच्, जो दूर से बुलाने के विषय में न हो, तो प्लुत विधान के समय उस एच् के पूर्वार्ध भाग को आकारादेश होता है और वह प्लुत होता है एवं उत्तरवाले भाग को इकार उकार आदेश होते हैं। प्रश्नान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवाद तथा याज्यान्त अर्थो में ही पूर्वविहित सूत्रों द्वारा प्लुत होता है और वह पूर्वार्ध के आत् को होता है, जैसे प्रश्न में-**अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ**। यहां '**अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः**' (अष्या० 8.2.100) से प्रश्न के अन्त में 'टि' को अनुदात्त 'प्लुत' हो रहा है, किन्तु वार्तिक द्वारा प्रश्नान्त के दो भाग करके पूर्वार्ध को '**अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजि-तयोः**' (अष्या० 8.2.100) से अनुदात्त प्लुत हुआ और बाद में इकार हुआ। अभिपूजितार्थ में-**भद्रं करोषि माणवक3 अग्निभूता३इ, पटा३उ**। विचार्यमाणार्थ में- **होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ**। प्रत्यभिवादन अर्थ में-**आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ, पटा३उ**। याज्याकाण्ड में पढ़े जाने वाले मन्त्रों में जो अन्तिम है उस याज्यान्त में-**उक्षन्नाय वशन्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ**।। वार्तिक में प्रश्नान्त आदि पदों की परिगणना क्यों की गयी है? **विष्णुभूते विष्णुभूते३ घातयिष्यामि त्वा। आगच्छ भो माणवक विष्णुभूते**। परिगणना इसलिये है कि प्रस्तुत उदाहरण में 'विष्णुभूते' का एकार 'अप्रगृह्य' संज्ञक है तथा दूर से पुकारे जाने के कारण अदूराद्धूत भी। इसीलिये प्रस्तुत सूत्र द्वारा 'विष्णुभूते' के 'एकार' को दो भाग करके पूर्वार्ध को

आत् करके प्लुत कर देना चाहिए था, किन्तु प्रश्नान्तादि में न आने के कारण दोनों कार्य नहीं हुए। अतः यह पद **'विष्णुभूते३ घातयिष्यामि त्वाम्'** इसी रूप में रहा। **'अदूराद्धूते'** का पाठ करना ठीक नहीं है, क्योंकि **'दूराद्धूते च'** (अष्टा० 8.2.84) द्वारा दूर से आह्वान करने पर वाक्य के टि को प्लुतोदात्त होता है और इस **'दूराद्धूते च'** (अष्टा० 8.2.84) की अनुवृत्ति **'हैहेप्रयोगे हैहयोः'** (अष्टा० 8.2.85) तक ही जाती है, तब तो **'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः** (अष्टा० 8.2.100) आदि सूत्र **'अदूराद्धूत'** हैं। पुनः **'अदूराद्धूते'** ऐसे पाठ की आचार्य ने क्यों उपयोगिता मानी? अतः काशिकाकार ने कहा-**'परिगणने च सत्यदूराद्धूत इति न वक्तव्यम्'**। एवं इन्होनें परिगणना को नियमार्थ मानते हुए **'अदूराद्धूते'** पद को आवश्यक दर्शाया है। नागेशभट्ट ने इस विषय में लिखा है कि वार्तिकान्तर्गत परिगणना से **'अदूराद्धूत'** पद का खण्डन करना अनुचित है। **'दूराद्धूत'** पद यहाँ न केवल सम्बोधन मात्र का उपलक्षण है किन्तु सामान्यरूप से जो बातें सुनी जाती हैं, वह भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। **'दूराद्धूत'** जो सम्बोधन विशिष्ट स्थल है, उसकी अभिपूजितार्थ आदि में प्रवृत्ति नहीं होती है, इसी कारण परिगणना के माध्यम से इसका प्रत्याख्यान करना समुचित नहीं है-**'परिगणनसत्त्वे तेनैव सिद्धत्वादिति भावः। इदं च वृत्यनुरोधेन। केचित्तु परिगणनेऽपीदं कार्यमेव। अत्र 'दूराद्धूत' पदं न सम्बोधनमात्रोपलक्षणं, किन्तु यथाश्रुतमेवेति, दूरादाह्वानसम्बोधनविशिष्टाभिपूजितार्थे 'स्वागच्छ भो माणवकऽग्निभूते' इत्यादौ नाऽस्य प्रवृत्तिरिति न परिगणनेन प्रत्याख्यानं युक्तम्। 'अदूराद्धते इति न वक्तव्यमि' त्यनुक्त्या भाष्यात् तथैव लाभादि' त्याहुः'**।। सूत्र व्याख्याकारों का विचार है कि सूत्र में **'पदान्तस्य'** यह पद रखना उचित था, जिसका अर्थ होता कि पद के अन्त में आने वाले एच् को द्विभाग करके पूर्वार्ध को आत् और प्लुतादि हों। नहीं तो **'भद्रं करोषि गौ३ः इति'** में **'औस्'** के टि भाग को भी प्लुतादि हो जायेगा। 'पदान्तस्य' कहने से यह नहीं होगा, क्योंकि 'गौस्' को औ पदान्त नहीं है, पदान्त सु स् है, अतः गौस् के एच् का द्विभाग नहीं हुआ। अतः प्लुतादि नहीं हुआ। 'अप्रगृह्यस्य' पद सूत्रान्तर्गत क्यों पढ़ा? **'शोभने खलु स्तः खटवे३'**।- यह अभिपूजितार्थ में है। किन्तु **'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्'** से दोनों का एकार प्रगृह्यसंज्ञक होने से

एकार को द्विभाग नहीं हुआ। द्विभाग न होने से पूर्वार्ध का प्रश्न ही नहीं होता। **आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः।।** - प्लुत का यह विकार वेद में सम्बोधन एकवचन में ही होता है।। **अग्ना३इ पत्नीव३ः**- यहां 'अग्नेः' सम्बोधन एकवचन है अतः 'अग्ने' के एच् का द्विभाग हो गया- **अग्न-इ**, और पूर्वार्ध को आत्, प्लुत एवं बाद में इकार होकर, '**अग्ना३इ पत्नीव३ः**' बन गया है।।

प्रस्तुत सूत्र का कार्य प्लुत विधानकाल में ही है।।

256. तयोर्य्वावचि संहितायाम्।। अष्टा० 8.2.108

का०- तयोरिदुतोर्यकारवकारादेशौ भवतोऽचि संहितायां विषये। संहितायामित्येतत् चाधिकृतम्। इत उत्तरमाध्यायपरिसमाप्तेर्यद् वक्ष्यामः संहितायामित्येवं तद् वेदितव्यम्। अग्ना३याशा। पटा३वाशा। अग्ना३यिन्द्रम। पटा३वुदकम्। अचीति किम्? अग्ना३इ। पटा३उ। संहितायामिति किम्? अग्ना३इ इन्द्रम्। पटा३उ उदकम्। इदुतोरसिद्धत्वात् 'इको यणचि' (6.1.77) इति न प्राप्नोतीत्ययमारम्भः। अथापि कथंचित् तयोः सिद्धत्वं स्यात्, एवमपि सवर्णदीर्घत्वनिवृत्त्यर्थम्, (6.1.101) शाकलनिवृत्त्यर्थं (6.1.127) च वत्तफव्यमेतत्। अथापि तन्निवृत्त्यर्थं यत्नान्तरमस्ति, तथापि यणस्वरनिवृत्त्यर्थमिद-मारभ्यते। यणादेशस्यासिद्धत्वाद् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इत्येष स्वरो न भवति।

किं तु यणा भवतीह न सिद्धं य्वाविदुतोर्यदयं विदधाति।
तौ च मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्यौ।।
इत्तफु यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम्।
तेन तयोश्च न शाकलदीर्घौ यणस्वरबाधनमेव तु हेतुः।।

सि०- इदुतोर्यकारवकारौ स्तोऽचि संहितायाम्। अग्नाऽयाशा। पटाऽवाशा। अग्नाऽयिन्द्रम्। पटाऽवुदकम्। अचि किम्? अग्नाऽइ वरुणा। संहितायां किम्? अग्नाऽइ इन्द्रः। 'संहितायाम्'

इत्यध्यायसमाप्तेरधिकारः इदुतोरसिद्धत्वादयमारम्भः। सवर्णदीर्घत्वस्य शाकल्यस्य च निवृत्त्यर्थः। यवयोरसिद्धत्वात् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इत्यस्य बाधनार्थो वा।।

प्रस्तुत सूत्र में '**प्लुतः**' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आ रही है। अच् परे रहते, सन्धि के विषय में, प्लुत के प्रसंग में एच् के उत्तरार्ध को जो इकार उकार पूर्व सूत्र से विधान किये गये हैं, उन इकार के स्थान में य् तथा उकार के स्थान में व् हो जाते हैं। यहाँ से आगे '**संहितायाम्**' पद का अधिकार इस अध्याय की समाप्ति (अष्टा० 8.4.67) तक जायेगा। **अग्नाऽयाशा। पटाऽवाशा।** यहाँ पूर्व सूत्रोक्तानुसार '**प्रश्नान्त**'० (अष्टा० 8.2.100) अभिपूजितादि किसी अर्थ में प्लुत होकर पूर्व सूत्र से आकारादेश, एवं उत्तरार्ध को इकार उकार होकर '**अग्नाऽइ आशा**', '**पटाऽउआशा**' बना। तब प्रस्तुत सूत्र से अच् परे रहते य् व् हुआ, **अग्नाऽयाशा, पटाऽवाशा** बना। **अग्ना३यिन्द्रम्। पटाऽवुदकम्।** अच् परे रहे-ऐसा क्यों कहा? **अग्नाऽइ, पटाऽउ।-अच्**-भिन्न अर्थात् हलादि परे रहते इकार या उकार के स्थान में यकार या वकार आदेश नहीं होगा। संहिता में ही हो, ऐसा क्यों कहा गया? **अग्नाऽइ इन्द्रम्। पटाऽउ उदकम्।** संहिता का बन्धन नहीं रहने से उत्तरार्द्ध के इकार और उकार के स्थान में क्रमशः यकार और वकरादेश नहीं होगा। वृत्तिकारों ने प्रस्तुत सूत्र पर एक प्रश्न उठाया है कि इ उ को य् व् होने का विधान तो '**इको यणचि**' (अष्टा० 6.1.77) से हो चुका है। उसी सूत्र से ऐसे उदाहरणों में भी काम क्यों नहीं चलाते। प्रस्तुत सूत्र की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः '**इको यणचि**' (अष्टा० 6.1.77) के प्रति '**एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ**' (अष्टा० 8.2.107) के इत् उत् असिद्ध हो जाते हैं क्योंकि '**पूर्वत्रासिद्धम्**' (अष्टा० 8.2.1) परिभाषानुसार त्रिपादी सपादसप्ताध्यायी के प्रति असिद्ध हो जाती है। '**अग्ना३इ इन्द्रः**' में जब इ को य् '**इको यणचि**' (अष्टा० 6.1.77) से होने लगता, तब 'अग्ने' को 'अग्ना३इ' करने वाला त्रिपादी सूत्र ही असिद्ध हो जाता। अतः यहाँ '**संहितायाम्**' (अष्टा० 6.1.72) का आरम्भ करके इ उ को य् व् करने का नियम बनाया गया है। वृत्तिकारों ने काशिकाकार द्वारा प्रदत्त सूत्रव्याख्यान का विस्तार अनेकशः किया है। हमारा उद्देश्य उसकी पुनरावृत्ति

नहीं है, अतः काशिका में प्रदत्त श्लोकों का अर्थ दर्शन कराते हैं-इत् उत् के स्थान में जो य् व् होने का विधान किया है वह यण् से यहाँ सिद्ध नहीं होता। पूर्वपक्ष-आपकी स्वरसिद्धि में वे दोनों असिद्ध होगें। उत्तरपक्ष-तब शाकल प्रकृतिभाव और दीर्घ को हटाने के लिये यह सूत्र है। पूर्वपक्ष- **भोऽयिन्द्रः** इत्यादि उदाहरणों में जब प्लुतपूर्वक इक् रहता है तब तो यणादेश होता ही है फिर कठिनाई कैसी? उत्तरपक्ष-य् व् करने का कारण शाकल और दीर्ध नहीं, प्रस्तुत यण् के बाद होने वाले अनुदात्त के स्थान में स्वरित स्वर को रोकने के लिये ही ऐसा किया गया है।

अष्टाध्यायी में प्लुत-विचार यहाँ तक दर्शाया गया है। भट्टोजिदीक्षित ने इस प्लुत विधान को वैदिक प्रकरण के अन्तर्गत दर्शाया है। इन प्लुतों का प्रयोग वैदिक रूप में किसी न किसी प्रकार होता रहा होगा, जो आज दृष्टिगत नहीं होता है।।

257. मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि।। अष्टा० 8.3.1

का०- संहितायामिति वर्तते। मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च पदस्य रुरित्ययमादेशो भवति संबुद्धौ परतश्छन्दसि विषये। मत्वन्तस्य तावत्-इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम् (तै० सं० 1.4.18.1)। हरिवो मेदिनं त्वा (तै० सं० 4.7.14.4)। मरुतोऽस्य सन्ति, हरयोऽस्य सन्तीति मतुप्। सुतकारयोः हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्ङ्यादिलोपे (6.1.68) संयोगान्तस्य लोपे (8.2.23) च कृते नकारास्य रुर्भवति। वस्वन्तस्य खल्वपि- मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ (ऋ० 2.33.14)। इन्द्र साह्वः। क्वसोर्निपातनं 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वाश्च (6.1.12) इति। मतुवसोरिति किम्? ब्रह्मन् स्तोष्यामः। सबुद्धाविति किम्? य एवं विद्वानग्निमुपतिष्ठते (मै० सं० 1.5.7)। छन्दसीति किम्? हे गोमन्। हे पपिवन्।। वन उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।। यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वः (ऋ० 1.125.2)। इणः प्रातःपूर्वस्य छन्दसि क्वनिप्।। विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य।। छन्दसि भाषायां च भवद्

भगवद् अघवद् इत्येतेषां विभाषा रुर्वत्तफव्यः, अवशब्दस्य च ओकारादेशः। सामान्येन छन्दसि भाषायां चेदं वचनम्। भवत्- हे भोः, हे भवन्। भगवत्- हे भगोः, हे भगवन्। अघवत्- हे अघोः, हे अघवन्। निपातविज्ञानाद् वा सिद्धम्। अथवा भो इत्येवमादयो निपाता द्रष्टव्याः। असंबुद्धावपि द्विवचनबहुवचनयोरिपि दृश्यन्ते। भो देवदत्तयज्ञदत्तौ। भो देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः। तथा स्त्रियामपि च दृश्यन्ते- भो ब्राह्मणि इत्यादि। संहिताधिकार उत्तरत्रोपयुज्यते, यत्र भिन्नपदस्थौ निमित्तनिमित्तिनौ-नश्छव्यप्रशान् (8.3.7) इति।।

सि०- 'रु' इत्यविभक्तिको निर्देशः। मत्वन्तस्य च रुः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्य' (1.1.52) इति परिभाषया नकारस्य। इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० 3.5.7)। हरिवो मेदिनं त्वा। 'छन्दसीरः' (8.2.15) इति वत्वम्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'तयोर्य्वावचि संहितायाम्'** (अष्या० 8.2.108) से **'संहितायाम्'** की तथा पूर्ववत् **'पदस्य'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में मत्वन्त तथा वस्वन्त पद को संहिता में सम्बुद्धि परे रहते रु आदेश होता है। मत्वन्त के प्रयोग-**इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम्। हरिवो मेदिनं त्वा। 'मरुतोऽस्य सन्ति'** तथा **'हरयोऽस्य सन्ति'**-इस अर्थ में यहाँ मतुप् है। वस्वन्त के प्रयोग-**मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ। इन्द्र साह्वः।** यहाँ क्वसु का निपातन हुआ है **'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च'** (अष्या० 6.1.12) सूत्र द्वारा। **'मतुवसोः'** ऐसा क्यों कहा? **'ब्रह्मन् स्तोष्यामः'**।- इसमें न मत्वन्त है, न ही वस्वन्त। **'सम्बुद्धौ'**- ऐसा क्यों कहा? **'य एवं विद्वानग्निमुपतिष्ठते'**।- यहाँ सम्बोधन पद नहीं है। 'छन्दसि'-ऐसा किसलिये कहा गया है? **हे गोमन्। हे पपिवन्।**- यहाँ वेद विषय ही नहीं है। वन्नन्त का भी ग्रहण करना चाहिए। **'यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वः'**।- प्रातः उपपद में रहते **प्रातरित्वः प्रातः + इत्वन् - न्** को रुत्व होकर।। वेद में और भाषा में भी भवद्, भगवद्, अघवद् को विकल्प से रु आदेश होता है और अव के स्थान में ओकारादेश होता है सामान्य से सर्वत्र होगा-उदा० **हे भोः, हे भवन्। हे भगोः, हे भगवन्। हे अघोः, हे**

अघवन्। ये तो निपात से भी सिद्ध है। अतः वार्तिक की आवश्यकता नहीं है। सम्बुद्धिरहित भी द्विवचन और बहुवचन में भी यह नियम होता है। उदा०- **भो देवदत्तौ। भो देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः**। और स्त्रिलिङ्ग में भी देखने को आता है- **भो ब्राह्मणि** इत्यादि। संहिता का अधिकार यहाँ नही है, जहाँ निमित्त निमित्ति अलग-अलग पदों में स्थित हों, जैसे '**नश्छव्यप्रशान्**' (अष्या० 8.3.7) इति।।

वेदों में प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. मरुत्वः।।
   - (क) **यद् वा मरुत्वः परमे सधस्थे**।। ऋ० 1.101.8
   - (ख) **इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम्**।। मा० 7.35 ; काठ० 4.8
2. हरिवः।।
   - (क) **उप ब्रह्माणि हरिवः**।। ऋ० 1.3.6; मा० 20.89
   - (ख) **सूरिभिर्हरिवससँ स्वस्त्या**।। काठ० 4.12
   - (ग) **अस्माकं कृण्मो हरिवो मेदिनं त्वा**।। पै० 5.4.10
3. मीढ्वः।।
   - (क) **मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ**।। ऋ० 2.33.14; मा० 16.50; काठ० 17.16

258. दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च।। अष्टा० 6.1.12

का०-दाश्वान् साह्वान् मीढ्वानित्येते शब्दाछन्दसि भाषायां चाविशेषेण निपात्यन्ते। दाश्वानिति 'दा शृ दाने' (भ्वा० 622) इत्येतस्य धातोः क्वसावद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपात्येते। दाश्वांसो दाशुषः सुतम् (ऋ० 1.3.7) इति। साह्वानिति 'षह मर्षणे' (भ्वा० 591) इत्येतस्य परस्मैपदमुपधादीर्घत्वमद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपातनात्। साह्वान् बलाहकः। मीढ्वानिति-'मिह सेचने' (भ्वा० 718) इत्येतस्याद्विर्वचनमनिट्त्वमुपधादीर्घत्वं ढत्वं च निपातनात्। मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० 2.33.14)। एकवचनमतन्त्रम्।। कृञादीनां के द्वे भवत इति वत्तफव्यम्।।

क्रियतेऽनेनेति चक्रम्।। चिक्लिदम्। कृञः क्लिदेश्च 'घञर्थे कविधानम्०' (3.3.58 वा०) इति कः प्रत्ययः।। चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमच्याक्चाभ्यासस्य।। चरादीनां धातूनामचि प्रत्यये परतो द्वे भवतः। अभ्यासस्यागागमो भवति। आगागमविधानसामर्थ्याच्च हलादिशेषो न भवति। हलादिशेषे हि सत्यागमस्यादेशस्य च विशेषो नास्ति। चराचरः। चलाचलः। पतापतः। वदावदः।। वेति वक्तव्यम्।। तेन चरः पुरुष, चलो रथः, पतं यानम्, वदो मनुष्य इत्येवमाद्यपि सिद्धं भवति।। हन्तेर्घत्व च।। हन्तेरचि प्रत्यये परतो द्वे भवतोऽभ्यासस्य च हकारस्य च घत्वमाक् चागमो भवति। परस्य 'अभ्यासाच्च' (7.3.55) इति कुत्वम् घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् (ऋ० 10.103.1)। पाटेर्णिलुक् चोक् च दीर्घश्चाभ्यासस्य।। पाटेरचि परतो द्वे भवतो णिलुक् च भवति। अभ्यासस्य चोगागमो दीर्घश्च भवति। पाटूपटः।।

सि०- एते क्वस्वन्ता निपात्यन्ते। मीढ्वस्तोकाय तनयाय (ऋ० 2.33.14)। वनउपसंख्यानम् (8.3.1 वा०)। क्वनिब्वनिपोः सामान्यग्रहणम्। अनुबन्धपरिभाषा तु नोपतिष्ठते। अनुबन्धस्येहा-निर्देशात्। यस्त्वायन्त वसुना प्रातरित्वः। इणः क्वनिप्।।

छन्द तथा भाषा में सामान्य करके दाश्वान, साह्वान् और मीढ्वान् पद निपातन किये जाते हैं। 'दाशृ दाने' धातु से लिट् के स्थान में क्वसु प्रत्यय **'क्वसुश्च'** (अष्ट्या० 3.2.107) से हो गया। क्वसु को स्थानिवद्भाव से लिट् मानकर **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (अष्ट्या० 6.18) से द्वित्व प्राप्त था, किन्तु उस द्वित्व का निपातन से अभाव तथा **'वस्वेकाजाद्घसाम्'** (अष्ट्या० 7.2.67) से जो इट् प्राप्त था, उसका भी निपातन से अभाव हो गया। दाश्वस् रूप मिला, सु लगाने पर **'अत्वसन्तस्य चाधातोः'** (अष्ट्या० 6.4.14) से उपधादीर्घ और **'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाधातोः'** (अष्टा० 7.170) से नुम्, संयोगान्तलोप (स् का) = **दाश्वान्** = **दाश्वांसो दाशुषःसुतम्** **'दाश्वांसः'** रूप बहुवचन का है।। षह मर्षणे धातु से क्वसु इत्यादि पूर्ववत् होकर परस्मैपदत्व अद्विर्वचन अनिटत्व एवं धातु की उपधा को दीर्घत्व निपातन से हो गया। षह

धातु आत्मनेपदी है, **'लः परस्मैपदम्'** (अष्ट्या० 1.4.98) से (तङ् और आन = को छोड़ कर) सब लादेश परस्मैपद होने से यहाँ लिट् के स्थान में होने से क्वसु आदेश लकार है। अतः यह परस्मैपद संज्ञक होने से परस्मैपदी धातु से ही होगा। तब धातु को परस्मैपदी का निपातन प्रस्तुत सूत्र से हुआ–**साह्वान्** = **साह्वान् बलाहकः**।। मिह सेचने धातु से पूर्ववत् क्वसु अद्विर्वचन, अनिटत्व, मिह् की उपधा को दीर्घ, हकार का ढ़कार–ये सब कार्य निपातन द्वारा सिद्ध हुए। सूत्र में निर्दिष्ट प्रयोग मीढवान् सम्बोधन का है। मीढ्वन् यहाँ न् को रु **'मतुवतो रु सम्बुद्धौ छन्दसि'** (अष्ट्या० 8.3.1) से होकर 'मीढ्वर' पुनः विसर्जनीय होकर मीढ्वः, इस विसर्ग को सत्व 'तोकाय' पद परे रहते **'विसर्जनीयस्य सः'** (अष्ट्या० 8.3.34) से होकर **'मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड**।। क प्रत्यय परे रहते 'कृञ्' आदि का द्वित्व होता है। **'क्रियते अनेन'** इस अर्थ में **चक्रम्**। **चिक्लिदम्**। कृञ् और क्लिद् इन धातुओं से घञ् के अर्थ में क प्रत्यय होता है। इस वचन से क= अ प्रत्यय होता है। चरि, चलि, पति और वदि – इनका अच् परे रहते द्वित्व होता है अभ्यास को 'आक्' का आगम होता है।। चर आदि धातुओं का भी प्रत्यय परे रहते द्वित्व होता है। अभ्यास को आक् का आगम होता है और आगम के विधान सामर्थ्य से हलादिशेष नहीं होता। क्योंकि हलादि शेष कर देने पर आगम और आदेश का कोई भेद नहीं रहता है। उदा०–**चराचरः**, **चलाचलः**। **पतापतः**। **वदावदः**।। पूर्वोक्तवचन विकल्प से कहना चाहिए। इसलिये **चरः पुरुषः**, **चलः रथः**, **पतं यानम् वदो मनुष्यः**– ये सभी रूप भी सिद्ध होते हैं।। हन् धातु का घत्व भी होता है।। अच् प्रत्यय परे रहते हन् धातु का द्वित्व होता है। अभ्यास को हकार का घकार होता है और आक् आगम होता है। बाद वाले 'ह' का कुत्व **'अभ्यासाच्च'** (अष्ट्या० 7.3.55) इस सूत्र से होता है– **घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्**।। पाटि धातु के 'णि' का लुक् होता है– अभ्यास को 'अक्' आगम और दीर्घ होता है। पाटि धातु का अच् परे रहते द्वित्व होता है। 'णि' का लुक् होता है और अभ्यास को 'अक्' आगम और दीर्घ होत है– **पाटूपटः**।।

प्रस्तुत सूत्र के वेदों में निम्न प्रयोग मिलते हैं–

1. **मीढवान्**।।

   (क) **मीढवाँ अस्माकं बभूयात्**।। ऋ० 1.27.2

(ख) **श्वेतं रूपं कृणुते यत्सिषासति सोमो मीढ्वाँ असुरो वेद भूमनः।।** ऋ० 9.74.7

(ग) **सोमो मीढवान्पवते गातुवित्तम ऋषिर्विप्रो विचक्षणः।।** ऋ० 9.107.7

(घ) **असर्जि कलशाँ अभि मीढ्वान्सप्तिर्न वाजयुः।।** कौ० 2.942

(ङ) **सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावित्।।** कौ० 2.13.59

2. मीढवः।।

(क) **मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड।।** ऋ० 2.33.14; मा० 16.50; का० 17.8.4

(ख) **राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप् स्त्रिधः सेध।।** ऋ० 8.79.9

3. दाश्वान्।।

(क) **प्र प्र दाश्वान्पस्त्याभिरस्थितान्।।** ऋ० 1.40.7

(ख) **प्र दाश्वाँ अग्ने अस्थात्।।** ऋ० 1.74.8

(ग) **पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा।।** ऋ० 1.150.1

(घ) **अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः।।** ऋ० 3.11.7

(ङ) **दाश्वाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतः।।** ऋ० 10.104.6

(च) **अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः।।** कौ० 2.15.57

4. साह्वान्।।

(क) **यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः।।** ऋ० 1.58.5

(ख) **साह्वान्विश्वा अभियुजः।।** ऋ० 3.11.6

(ग) **साह्वान्तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः।।** ऋ० 4.21.2

(घ) **स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वान्।।** ऋ० 7.12.2; कौ० 2.130.5

(ङ) **षाळ्हः साह्वान्पृतनासु शत्रून्।।** ऋ० 9.90.3; कौ० 2.140.9

(च) **साह्वान् विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः।।**

कौ० 2.15.58; जै० 4.15.2

वेदों में **मीढवान्** के पाँच, **मीढवः** के चार, **दाश्वान्** के छः तथा **साह्वान्** के नौ प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

259. उभयथर्क्षु।। अष्टा० 8.3.8

का०- पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः क्रियते। नकारान्तस्य पदस्य छवि परतोऽम्पर उभयथा ऋक्षु भवति, रुर्वा नकारो वा। तस्मिंस्त्वा दधाति, तस्मिन्त्वा दधाति। ऋक्ष्विति किम्? ताँस्त्वं खाद सुखादितान् (मा० सं० 11.78)।।

सि०- अम्परे छवि नकारस्य रुर्वा। पशूंस्तांश्चक्रे (ऋ० 10.90.8)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'नश्छव्यप्रशान्'** (अष्टा० 8.3.7) से **'नश्छवि'** की; **'पुमः खय्यम्परे'** (अष्टा० 8.3.6) से **'अम्परे'** की; **'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि'** (अष्टा० 8.3.1) से **'रु'** की तथा पूर्ववत् **'पदस्य' 'संहितायाम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। ऋक् का लक्षण जैमिनि ने **'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्'** (मी० 2.1.35) जिन मन्त्रों में अर्थानुकूल पादव्यवस्था होती है, वे ऋक् कहलाते हैं- किया है। इस प्रकार ऋक् शब्द से पादबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होता है, मात्र ऋग्वेद का नहीं। एवं सूत्रार्थ हुआ-पादयुक्त मन्त्रों में नकारान्त पद को अम्परक छव् प्रत्याहार् परे रहते एक पक्ष में रु और अपरपक्ष में नकार ही रहता है। अर्थात् दोनों प्रकार से होता है। **'नश्छव्यप्रशान्'** (अष्टा० 8.3.7) से लोक में नित्य प्राप्त था, वेद में इस सूत्र से विकल्प कर दिया गया। उदा०- **तस्मिंस्त्वा दधाति, तस्मिन्त्वा दधाति। 'ऋक्षु'** से क्या अभिप्राय है? **ताँस्त्वं खाद सुखादितान्।** यह मन्त्र यजुर्वेद का है, अतः यहां सूत्र कार्य नहीं करेगा।।

सूत्रानुसार प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **तस्मिन् त्सन्ति।।**

   (क) **तस्मिन् त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः।।** ऋ० 1.145.1

2. तस्मिन् त्साकम्।।

(क) तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवः।। ऋ० 1.64.48

3. तस्मिन् त्सुम्नानि।।

(क) तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके।। ऋ० 3.3.3

4. तस्मिन् तम्।।

(क) तस्मिन् तं धेहि मा पणी।। ऋ० 8.97.2

5. तस्मिन् तदेनः।।

(क) तस्मिन् तदेनो वसवो नि धेतन।। ऋ० 10.37.12

6. तान् त्सद्यः।।

(क) तान् त्सद्यो अध्वनो जगम्यात्।। ऋ० 10.104.2

7. तान् त्सुकृतः।।

(क) ररक्ष तान् त्सुकृतो विश्ववेदाः।। ऋ० 1.147.3

8. अस्माञ्च तांश्च।।

(क) अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ।। ऋ० 2.1.16; 2.13

9. ताँस्त्रायस्व।।

(क) ताँस्त्रायस्व सहस्व द्रुहो निदः।। ऋ० 7.16.8

10. ताँस्ते।।

(क) ताँस्ते अश्याम पुरुकृत् पुरुक्षो।। ऋ० 8.91.5

11. ताँश्चक्रे।।

(क) पशून् ताँश्चक्रे वायव्यान्।। ऋ० 10.90.8

12. ताँश्च।।

(क) ताँश्च पाहि गृणतश्चे सूरीन्।। ऋ० 10.115.9

13. ताँश्चित्।।

(क) ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।। ऋ० 10.154.1

प्रस्तुत सूत्र के उभयथा प्रयोग अनेकशः हैं।।

260. दीर्घादटि समानपादे।। अष्टा० 8.3.9

का०- न इत्यनुवर्तते। दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य रुर्भवत्यटि परतः तौ चेद् निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः। ऋक्ष्विति प्रकृतत्वाद ऋक्पाद इह गृह्यते। परिधीँरति (ऋ० 9.107.19)। देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० 3.1.1)। महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० 8.6.1)। दीर्घादिति किम्? अहन्नहिम् (ऋ० 1.32.1)। अटीति किम्? इभ्यान् क्षत्रियान्। समानपाद इति किम्? यातुधानानुपस्पृश (ऋ० 10.87.2)। उभयथेत्येव-आदित्यान् हवामहे।।

सि०- दीर्घान्नकारस्य रुर्वा स्यादटि, तौ चेन्नाटौ एकपादस्यौ स्याताम्। देवाँ अच्छा सुमती। महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० 8.6.1)। उभयथेत्यनुवृत्तेर्नेह- आदित्यान्याचिषामहे।।

प्रस्तुत सूत्र में '**उभयथर्क्षु**' (अष्या० 8.38) से 'ऋक्षु' की; तथा पूर्ववत् '**नः**' '**रु**' '**पदस्य**' '**संहितायाम्**' की अनुवृत्ति आ रही है। दीर्घ से परे नकारान्त पद को अट् प्रत्याहार के वर्ण परे रहते पादबद्ध मन्त्रों में रु होता है, यदि निमित (= जिसको मानकर कार्य हो) तथा निमित्ती (= जिसको विधि करनी है) दोनों एक ही पाद में हों। सूत्र में '**सामनपादे**' का अर्थ '**एक**' से है अर्थात् एकपाद। अतः नागेशभट्ट ने कहा '**एकपर्यायः**'। पाद से ऋचा (= मन्त्र)का पाद गृहीत होगा।ऋक्षु से ऋक्पाद का यहां ग्रहण होता है। **परिधीँरति**। **देवाँ अच्छा दीद्यत्। महाँ इन्द्रो य ओजसा**। '**दीर्घात्**' से क्या अभिप्राय है? **अहन्नहिम्**।- यहां 'अहन्' का न दीर्घ के परे नहीं है, अतः रु नहीं हुआ। '**अटि**' ऐसा क्यों? **इभ्यान् क्षत्रियान्**।- यहां न् से पूर्व दीर्घ तो है किन्तु पर में अट् प्रत्याहार नहीं है। '**समानपाद**' का क्या अर्थ है? **यातुधानानुपस्पृश**।- यहां 'यातुधानान्' अन्य पाद का है और 'उपस्पृश' अन्य पाद का है। अतः रु नहीं हुआ। वेदों में विकल्प भी मिलता है जैसे-**आदित्यान् हवामहे**।- यहां सूत्रानुसार सब विधान है किन्तु रु नहीं हुआ वेद में सब विधियाँ विकल्प होने के कारण।

प्रस्तुत सूत्र के अनेकशः प्रयोग मिले हैं-

(क) ताँ उशतो वि बोधय।। ऋ० 1.12.4।।

(ख) ताँ इन्द्र सहसे पिब।। ऋ० 1.16.5

(ग) ताभिः ष्व1स्माँ अवतम्।। ऋ० 1.47.5।।

(घ) वशाँ अनु योजा।। ऋ० 1.82.3

(ङ) मधुमाँ अस्तु सूर्यः।। ऋ० 1.90.8।।

(च) दिवो अन्ताँ अबोधि।। ऋ० 1.92.11

(छ) अश्वाँ अद्यारुणाँ उषः।। ऋ० 1.92.15

प्रस्तुत सूत्र के अन्य भी अनेक प्रयोग मिलते हैं।।

261. आतोऽटि नित्यम्।। अष्टा० 8.3.3

का०- अटि परतो रोः पूर्वस्याकारस्य स्थाने नित्यमनुनासिकादेशो भवति। 'दीर्घादटि समानपादे,' (8.3.9) इति रुत्वं वक्ष्यति, ततः पूर्वस्यातोऽनुनासिकविकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम्। महाँ असि (ऋ० 3.46.2) महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० 8.6.1) दवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० 3.1.1)। केचिदनुस्वारमधीयते, सच्छान्दसो व्यत्ययो द्रष्टव्यः। आत इति किम्? ये वा वनस्पतीँ1रनु (मा०सं० 13.7) अटीति किम्? भवांश्चरति। भवांश्छादयति। नित्यग्रहणं विस्पष्टार्थम्।।

सि०-अटि परतो रोः पूर्वस्यातः स्थाने नित्यमनुनासिकः। महाँ इन्द्रः। तैत्तिरीयास्तु अनुस्वारमधीयते। तत्र छन्दसो व्यत्यय इति प्राञ्चः। एवं च सूत्रस्य फलं चिन्त्यम्।।

प्रस्तुत सूत्र में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (अष्या० 8.3.2) से 'अनुनासिकः पूर्वस्य' की, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (अष्या० 8.3.1) से 'रु' की तथा पूर्ववत् 'पदस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। अट् प्रत्याहार परे रहते रु से पूर्व अकार को (आतः) को संहिता में नित्य ही अनुनासिक होता है। यहां नित्यग्रहण प्रायिकत्व द्योतनार्थ प्रयुक्त है। अतः कहीं कहीं अनुस्वार भी दिखायी देता है। 'वा' ग्रहण से समानकोटिक विकल्प होता है। 'दीर्घादटि समानपादे' (अष्या० 8.3.9) से रुत्व होगा। नित्यार्थ यह वचन है। उदा०-

महाँ असि। महाँ इन्द्रो य ओजसा। देवाँ अच्छ दीद्यत्। कुछ विद्वान् यहां अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार पढ़ते हैं, वह छान्दस व्यत्यय होता है। **'आतः'**-ऐसा क्यों कहा? **ये वा वनस्पतीँ1रनु**- यहां ई होने से अनुस्वार हो गया। 'अट्' परे रहने पर- ऐसा क्यों कहा? **भवांचरति, भवांश्छादयति**- यहां पर में 'अट्' प्रत्याहार नहीं है। सूत्र में नित्य का ग्रहण स्पष्टता हेतु है।।

वेद से प्राप्त-प्रयोग कतिपय उद्धृत हैं -

(क) **स देवाँ एह वक्षति।।** ऋ० 1.1.2

(ख) **महाँ अभिष्टिरोजसा।।** ऋ० 1.9.1

(ग) **अग्ने देवाँ इहा वह।।** ऋ० 1.12.3

(घ) **ताँ उशतो वि बोधय।।** ऋ० 1.12.4

(ङ) **इन्द्रो विद्वाँ अनु।।** ऋ० 5.2.8

(च) **स्तुतो यासि वशाँ2अनु।।** मा० 3.52

(छ) **उदस्थाममृताँ2 अनु।।** मा० 4.28

ऐसे प्रयोग स्थल वेदों में अनेकत्र हैं।।

262. स्वतवान् पायौ।। अष्टा० 8.3.11

का०-स्वतवानित्येतस्य नकारस्य रुर्भवति पापुशब्द परतः। स्वतवाँः पायुरग्ने (ऋ० 4.2.6)।।

सि०- रुर्वा। भुवस्तस्य स्वतवाँः प्रायुरग्ने (ऋ० 4.2.6)।।

प्रस्तुत सूत्र में **'नश्छव्यप्रशान्'** (अष्या० 8.3.6) से **'नः'** की, **'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि'** (अष्या० 8.3.1) से **'रु'** की, **'तयोर्य्वावचि संहितायाम्'** (अष्या० 8.2.108) से **'संहितायाम्'** की तथा **'पदस्य'** (अष्ट० 8.1.16) की अनुवृत्ति आ रही है। **'पायु'** शब्द परे रहते **'स्वतवान्'** शब्द के नकार को रु हो जाता है। **स्वतवाँः पायुरग्ने। स्वतवान्**- यह वैदिक प्रयोग है। पदपाठ में **'स्वतवान् पायुः'** रहेगा।

वेदों में मात्र इसका एक ही प्रयोग प्राप्त हुआ है।-

1. **स्वतवाँः पायुः।।**

(क) **भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने।।** ऋ० 4.2.6

263. छन्दसि वाप्राम्रेडितयोः ।। अष्टा० 8.3.49

का०- छन्दसि विषये विसर्जनीयस्य वा सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः प्रशब्दमाम्रेडितं च वर्जयित्वा। अयःपात्रम्, अयस्पात्रम् (शौ० 8.13.2)। विश्वतः पात्रम्, विश्वतस्पात्रम्। उरु णः कारः, उरु णस्कारः। अप्राम्रेडितयोरिति किम्? अग्निः प्रविद्वान् (शौ० सं० 5.26.1)। परुषःपरुषः परि (मा० सं० 13.20)। सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् (ऋ० 10.139.1), स नः पावकः (1.12.10) इत्येवमादिषु 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परि० 35) इति सत्वं न भवति।।

सि०- विसर्गस्य सो वा स्यात् कुप्वोः, प्रशब्दमाम्रेडितं च विर्जयित्वा। अग्ने त्रातऋतस्कविः गिरिर्न विश्वतस्पृथु (ऋ० 8.98.4)। नेह-वसुनः पूर्व्यस्पतिः (ऋ० 10.48.1)। अप्रेत्यादि किम्? अग्निः प्र विद्वान् (अथर्व० 5.26.1)। परुषः परुषः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'सोऽपदादौ'** (अष्टा० 8.3.38) से **'सः'** की, **'कुप्वोः क पौ च'** (अष्टा० 8.3.37) से **'कुप्वोः'** की; तथा पूर्ववत् **'पदस्य' 'संहितायाम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में विसर्जनीय का विकल्प से सकारादेश होता है, कवर्ग तथा पवर्ग परे हों तो, प्र और ओम्रेडित को छोड़कर। **अयःपात्रम्, अयस्पात्रम्। विश्वतः पात्रम्, विश्वतस्पात्रम्** इन सब में षष्ठीतत्पुरुष समास कर लेने पर **'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णाष्वनव्ययस्य'** (अष्टा० 8.3.46) से नित्य सकारादेश प्राप्त था, प्रस्तुत सूत्र से विकल्प कर दिया। **उरु णः कारः, उरु णस्कारः।**-**उरुणः** में उरु शब्द से उत्तर अस्मद् को **'बहुवचनस्य वस्नसौ'** (अष्टा० 8.1.21) से नस् आदेश, पुनः **'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः'** (अष्टा० 8.4.26) से णत्व, एवं विसर्जनीय होकर **उरुणःकारः**। पक्ष में सकारादेश होकर **उरु णस्कारः**। **'अप्राम्रेडित'** ऐसा क्यों कहा? प्र और आम्रेडित (द्विरुक्ति) को छोड़कर क्यों कहा है? क्योंकि प्र और आम्रेडित परे रहने पर विसर्ग को सत्वादेश नहीं होगा। **अग्निः प्रविद्वान्।**- विसर्ग से परे 'प्र' रहते विसर्ग को सत्वादेश नहीं हुआ है। **परुषः परुषः परि।**-यहां **'परुष'** शब्द की द्विरुक्ति आम्रेडित है, अतः पवर्ग

(परुष का 'प') परे रहते भी विसर्ग को सकारादेश नहीं हुआ है। इसी प्रकार **'सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्। स नः पावकः'**-इत्यादि में भी सकारादेश नहीं हुआ। सभी विधियां वेद में वैकल्पिक होती हैं- अतः सकारादेश नहीं हुआ है। विसर्ग के सकारादेश न होने को आचार्य शौनक ने **'उपाचरित सन्धि'** नाम दिया है। इसके लिये प्रातिशाख्य (4.41) में उन्होंने लिखा-

यथादिष्टं नामिपूर्वः षकारं सकारमन्योऽरिफितः ककारे।

पकारे च प्रत्ययेऽन्तःपदं तु सर्वत्रैवोपाचरितः स सन्धिः।।

वेदों से प्रस्तुत सूत्र के कतिपय प्रयोग उद्धृत हैं-

(क) **आसीदयस्पात्रं पात्रम्**।। शौ० 8.13.2

(ख) **मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय**।। मा० 30.14

(ग) **अयस्मयस्तम्वादाम विप्राः**।। ऋ० 5.30.15

(घ) **अयस्मयं वि चृता**।। मा० 12.63

(ङ) **यो विश्वतस्पाणिरुत**।। शौ० 13.2.26

(च) **विश्वतोबाहुतरुत विश्वतस्पात्**।।

ऋ० 10.81.3; मा० 17.19

प्रस्तुत सूत्र के वेदों में कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते प्र और आम्रेडित को छोड़कर विसर्जनीय के सकारादेशीय प्रयोग हमें प्राप्त हुए हैं, सूत्रकार ने सकारादेश विकल्प से कहा है, किन्तु विकल्पपक्ष के प्रयोग वेदों में नहीं मिल पाये। अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों ने भी जो प्रयोग दर्शाये हैं, वे वेदसंहिताओं में अप्रयुक्त हैं।। अतः सूत्र का **'वा'** पद निरर्थक है।।

264. कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः।। अष्टा० 8.3.50

का०- कः करत् करति कृधि कृत इत्येतेषु परतोऽनदितेर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति छन्दसि विषये। कः-विश्वतस्कः। करत्-विश्वतस्करत्। करति-पयस्करति। कृधि-उरु णस्कृधि (ऋ० 8.75.11)। कृत-सदस्कृतम्। अनदितेरिति किम्? यथा नो अदितिः करत् (ऋ० 1.43.2)।।

सि०- विसर्गस्य सः स्यात्। प्र दिवो अपस्कः (ऋ० 6.23.5)।

यथा नो वस्यसस्करत्। सुपेशस्करति (ऋ० 2.35.1)। उरुणस्कृधि (ऋ० 8.75.1)। सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम् (ऋ० 10.39.2)। अनदितेरिति किम्? यथा नो अदितिः करत् (ऋ० 1.43.2)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः' (अष्ट्या० 8.3.50) से 'छन्दसि' की, 'सोऽपदादौ' (अष्ट्या० 8.3.38) से 'सः' की, तथा पूर्ववत् 'पदस्य', 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में अदिति को छोड़कर कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे रहते जो विसर्जनीय उसको सकारादेश होता है। विश्वतस्कः, अपस्कः,। विश्वतस्करत्, वस्यसस्करत्। पयस्करति, सुपेशस्करति। उरु णस्कृधि। सदस्कृतम्, नस्कृतम। अदिति से भिन्न के विसर्ग का -इसका क्या अभिप्राय है? 'यथा नो अदितिः करत्'' इस प्रयोग में 'करत्' पद के परे रहते हुए भी विसर्ग को एकारादेश विसर्ग के पूर्व अदिति पद होने से नहीं हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र के वेदों में निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. मृधस्कः।।
   (क) सुमख मा मृधस्कः।। ऋ० 2.18.4
   (ख) मा नो देवताता मृधस्कः।। ऋ० 7.43.3
2. सस्रुतस्कः।।
   (क) इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः।। ऋ० 4.28.1
3. अपस्कः।।
   (क) इन्द्राय यो नः प्रदिवो अपस्कः।। ऋ० 6.23.5
4. वस्यसस्करत्।।
   (क) कुविच्छकत्कुवित्करत्कुविन्नो वस्यसस्करत्।।
   ऋ० 8.91.4
5. मयस्करत्।।
   (क) सरस्वती नः सुभगामयस्करत्।।
   ऋ० 1.89.3; मा० 25.16
   (ख) सा शंताति मयस्करदप स्रिधः।। ऋ० 8.18.7

6. इषस्करत्।।

(क) अनमीवा इषस्करत्।। ऋ० 3.62.14

7. बलिहृतस्करत्।।

(क) विशो बलिहृतस्करत्।। ऋ० 10.173.6

8. श्रेयसस्करत्।।

9. वस्यसस्करत्।।

(क) यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करत्।।

मा० 3.58; का० 3.8.2; मै० 1.10.4

10. समनसस्करत्।।

(क) असपत्नाः समनसस्करत्।। मा० 7.25; का० 7.10.3

11. भूयसस्करत्।।

(क) यथा नो भूयसस्करत्।। मै० 1.10.4

12. श्रेयसस्करत्।।

(क) यथा नश्श्रेयस्करद्यथा नो व्यवसाययात्।। का० 9.7

13. सुपेशसस्करति।।

(क) स सुपेशसस्करति जोषिषद्धि।।

ऋ० 2.35.1; मै० 4.12.4

14. पत्नीवतस्कृधि।।

(क) तान्यजत्राँ ऋतावृधोअग्ने पत्नीवतस्कृधि।। ऋ० 1.14.7

15. मयस्कृधि।।

(क) मृडा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि।। ऋ०1.114.2

16. नस्कृधि।।

(क) महि शविष्ठ नस्कृधि।। ऋ० 1.127.12

(ख) उरु क्षयाय नस्कृधि।। ऋ० 8.68.12

17. वरिवस्कृधी।।

(क) पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः।।

ऋ० 9.64.14; कौ० 2.842

18. गोमतस्कृधि।।

(क) उत नो गोमतस्कृधि हिरण्यवतो अश्विनः।।ऋ० 8.32.9

19. उरुणस्कृधि।।

(क) उरुकृदुरु णस्कृधि।।ऋ० 8.75; कौ० 2.16.49

20. रेवतस्कृधि।।

(क) महश्च रायो रेवतस्कृधि नः।। (ऋ० 10.22.15)

21. पुरस्कृधि।।

(क) पश्चा सन्तं पुरस्कृधि।। ऋ० 10.171.4

(ख) अनमित्रं पुरस्कृधि।। शौ० 6.40.3; का० 3.2.6

(ग) अपिशाचं पुरस् कृधि।। पै० 19.11.8

22. कृषीस्कृधिः।।

(क) सुसस्याः कृषीस्कृधि।। मा० 4.10

23. पुनस्कृधि।।

(क) प्रबुधे नः पुनस्कृधि।। मा० 4.14

24. इषस्कृधि।।

(क) मधुमतीर्न इषस्कृधि।। मा० 7.2; तै० 1.4.2.2

25. नस्कृधि।।

(क) उरु क्षयाय नस्कृधि।। मा० 5.38; 5.42; का० 2.6.8

(ख) रुचे जनाय नस्कृधि।। मा० 5.38; 18.46

26. औषधीस्कृधि।।

(क) सुपिप्पला औषधीस्कृधी।। का० 26.5; मै० 1.2.2

27. पुनस्कृधि।।

(क) प्रबुधे नः पुनस्कृधि।। मै० 1.2.3

28. मनसस्कृधि।।

(क) तान्मा आ मनसस्कृधि स्वाहा।। मै० 2.3.2; का० 12.2

29. वस्यसस्कृधि।।

(क) अथा नो वस्यसस्कृधि।। कौ० 2.104; कौ० 2.10.56

30. मयस्तोकेभ्यस्कृधि।।

(क) नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि।। शौ० 1.26.4

31. मधुमतस्कृधि।।

(क) सा नो मधुमतस्कृधि।। शौ० 1.34.1

32. वर्षीयसस्कृधि।।

(क) दृंह प्रत्नाञ्जनयाजाताञ्जातानु वर्षीयसस्कृधि।।
शौ० 6.136.2

33. प्रजाननास्कृधि।।

(क) इहो पं पृ णु सम्पं पृण? विश प्रजननास् कृधि।।
पै० 19.21.9

34. जिग्युषस्कृतम्।।

(क) अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम्।। ऋ० 1.17.7

35. अस्मद्रपस्कृतम्।।

(क) द्यावाक्षामारे अस्मद्रपस्कृतम्।। ऋ० 8.18.16

36. मधुमतस्कृतम्।।

(क) ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम्।। ऋ० 10.24.6

37. नस्कृतम्।।

(क) सोमं न चारुं मघवत्सुनस्कृतम्।। ऋ० 10.39.2

265. पञ्चम्याः परावध्यर्थे।। अष्टा० 8.3.51

का०- छन्दसीत्येव। पञ्चमीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति परौ परतोऽध्यर्थे। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (ऋ० 10.45.1)। अग्निः हिमवतस्परि (शौ० सं० 4.9.9)। दिवस्परि (ऋ० 1.121.10)। महस्परि। पञ्चम्या इति किम्? अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम् (ऋ० 6.75.14)। पराविति किम्? एभ्यो वा एतल्लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत्। अध्यर्थ इति किम्? दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतम् (ऋ० 6.47.27)। अत्र परिः सर्वतोभावे, अध्यर्थ उपरिभावः।।

सि०- पञ्चमीविसर्गस्य सः स्यादुपरिभवार्थे परिशब्द परितः। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (ऋ० 10.45.1)। अध्यर्थे किम्? दिवस्पृथिव्याः पर्योजः (ऋ० 6.47.27)।।

प्रस्तुत सूत्र में '**छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः**' (अष्या० 8.3.49) से '**छन्दसि**' की, तथा पूर्ववत् 'सः' '**पदस्य**' '**संहितायाम्**' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में अधि के अर्थ में वर्त्तमान जो परि शब्द उसके परे रहते, पञ्चमी के विसर्ग को सकारादेश होता है। **दिवस्परि प्रथमं जज्ञे। अग्निः हिमवतस्परि। दिवस्परि। महस्परि।** यहाँ सर्वत्र 'परि' अध्यर्थ में है अर्थात् 'परि' ऊपर के अर्थ का द्योतक है। दिवस्परि अर्थात् अग्नि पहले द्यु लोक से परि = ऊपर उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार **अग्निः हिमवतस्परि** = 'अग्नि हिमवान् से ऊपर' ऐसा अर्थ होगा। 'पञ्चमी विभक्ति' ही क्यों? **अविरिव भोगैः पर्येति बाहुम्**।-यह परि उपसर्ग से पूर्व तृतीयान्त वचन है न कि पञ्चम्यन्त, अतः सकारादेश नहीं हुआ। 'परि' उपसर्ग से पूर्व- ऐसा क्यों कहा? **एभ्यो वा एतल्लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत्**- यहाँ 'सम्' 'उपसर्ग है, परि नहीं, अत् सकारादेश नहीं हुआ। अध्यर्ध में ही क्यों? **दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतम्**।- यहाँ परि उपसर्ग अवश्य है किन्तु यह चारों तरफ के अर्थ का वाचक है। अतः सकारादेश नहीं होगा। सूत्र में 'परि' सर्वतोभाव अर्थ में तथा 'अध्यर्ध' उपरिभावार्थ में गृहीत किये गये हैं।

प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं।-

(क) **इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।।**

ऋ० 1.7.10; तै० 1.6.12.1

(ख) **रयिं समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं पुरुस्पृहम्।।**

ऋ; 1.47.6

(ग) **उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि।।** ऋ० 1.49.3

(घ) **ऋतुर्जनित्री तस्या अपसपरि।।** ऋ० 2.13.1

(ङ) **विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि।।** ऋ० 2.23.17

(च) **अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।।** ऋ० 8.6.10

(छ) **आ यातं नहुषस्पर्यान्तरिक्षात्सुवृक्तिभिः।।** ऋ० 8.8.3

(ज) कवी ऋतस्य पत्मभिरर्वाग्जीवेभ्यस्परि।। ऋ० 8.8.23

(झ) विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि।।

मा० 12.10; 12.41; कौ० 2.18.33; तै० 1.5.3.3; का० 8.14; 13.1.11

(ञ) दिवस्परि प्रथमं जज्ञे।।

मा० 12.18; का० 13.2.1; का० 16.9; तै० 1.314.5; मै० 2.7.9

(ट) काण्डात् काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।।

मा० 13.20; का० 14.2.5; मै० 2.7.15

(ठ) उद्वयं तमसस्परि।।

मा० 20.2.1; मा० 27.10; 35.14; 38.24; तै० 4.1.7.4

(ड) यत्ते भामेन विचकरानीशानो हृदयस्परि।। मै० 1.7.1

(ढ) अवपतन्तीरवदन् दिवोऽन्तेभ्यस्परि।। काठ० 16.13

(ण) प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि।। कौ० 1.95

(त) अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह।।

कौ० 1.152; 2.1500

(थ) यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।। कौ० 1.298

(द) इन्द्राग्नी आपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः।।

कौ० 2.15.77; 2.16.94

(ध) यद् इन्द्रो शासो अव्रतं च्यावया सदसस् परि।।

जै० 1.31.6

(न) अयं स यो दिवस् परि रघुयामा पवित्र आ।।

जै० 3.21.15

(प) मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि।। शौ० 1.10.4

(फ) यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।। शा० 4.9.9

(ब) वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि।। शौ० 4.10.1

(भ) देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि।। शौ० 6.111.3

(म) त्रि शाम्बुभ्यो आङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि।।

शौ० 19.39.5

(य) ते न कृण्वन्तु भेषजं देवसेनाभ्यस् परि।। पै० 3.10.1

पञ्चम्यन्त परि उपसर्ग के सूत्रानुसार पैंतालिस प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

266. पातौ च बहुलम्।। अष्टा० 8.3.52

का०- पातौ च धातौ परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य बहुलं सकार आदेशो भवति छन्दसि विषये। दिवस्पातु (ऋ० 10.158.1)। राज्ञस्पातु। न च भवति-परिषदः पातु।।

सि०-पञ्चम्या इत्येव। सूर्यो नो दिवस्पातु (ऋ० 10.158.1)।।

प्रस्तुत सूत्र में '**पञ्चम्याः परावध्यर्थे**' (अष्टा० 8.3.51) से '**पञ्चम्याः**' की; तथा पूर्ववत् **छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में पा धातु के प्रयोग परे हो तो भी पञ्चमी के विसर्जनीय को बहुल करके सकारादेश होता है। **दिवस्पातु। राज्ञस्पातु।** बहुल ग्रहण के कारण कहीं- कहीं सूत्रानुसार पा धातु होने पर भी सकारादेश नहीं होता है- **परिषदः पातु।।** आचार्य शौनक ने भी प्रातिशाख्य (4.61) में पा धातु से सकारादेश का विधान किया है-

कबन्धं पृथु कण्वासः पुत्रः पातु पथा पयः।
पायुः पृष्ठं पदं तेषां प्रवादा उदये दिवः।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

(क) **वाजो नु ते शवस्पातु।।** ऋ० 5.15.5।।

(ख) **सरस्वती निदस्पातु।।** ऋ० 6, 61.11

(ग) **सूर्यो नो दिवस्पातु।।** ऋ० 10, 158.1

(घ) **पूषाऽध्वनस्पातु।।** मा० 4.16

(ङ) **पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय।।** का० 4.6.4

(च) **कुष्ठो नो विश्वतस्पातु।।** पै० 1.31.4

प्रस्तुत सूत्र के छः प्रयोग हमें वेदों से प्राप्त हुए हैं।।

267. षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु।। अष्टा० 8.3.53

का०-षष्ठीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति पति पुत्र पृष्ठ पार पद पयस् पोष इत्येतेषु परतः छन्दसि विषये। वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये (ऋ० 10.81.7)। पुत्र-दिवस्पुत्राय सूर्याय (ऋ० 10.37.1)। पृष्ठ- दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम् (शौ० सं० 13.2.37)। पार-अगन्म तमसस्पारम् (मा० सं० 12.73)। पद- इडस्पदे समिध्यसे (ऋ० 10.191.1)। पयस्-सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः। पोष- रायस्पोषं यजमानेषु धारय (ऋ० 10.122.8)। षष्ठ्या इति किम्? मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् (तै० सं० 3.19.4)।।

सि०- वाचस्पतिं विश्वकर्माणम् (ऋ०10.81.7)। दिवस्पुत्राय सूर्याय। दिवस्पृष्ठं भन्दमानः (ऋ० 3.2.12)। तमसस्पारमस्य (ऋ० 1.92.6)। परिवीत इळस्पदे। दिवस्पयो दिधिषाणाः। (ऋ० 1.114.1)। रायस्पोषं यजमानेषु (ऋ० 10.122.8)।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम्,** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में **पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष**-इन शब्दों के परे रहते षष्ठी विभक्ति के विर्सजनीय को सकारादेश होता है। **पति-वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये। पुत्र-दिवस्पुत्राय सूर्याय। पृष्ठ-दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम्। पार-अगन्म तमसस्पारम्। पद- इडस्पदे समिध्यसे। पयस्-सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः। पोष-रायस्पोषं यजमानेषु धारय।**- इन सब प्रयोगों में षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सूत्रानुसार सकारादेश हुआ है। 'षष्ठी' का ग्रहण किसलिये? **मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्।**- यहाँ विसर्ग से परे 'पुत्र' शब्द अवश्य है किन्तु 'मनुः' पद में षष्ठी न होकर प्रथमा विभक्ति है। अतः षष्ठी-भिन्न होने से विसर्ग का सत्वादेश नहीं हुआ। मात्र 'पति' शब्द के विषय में प्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक ने लिखा- **अन्तःपादं विग्रहेऽकारपूर्वः, पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुंस्प्रवादे** (प्रा० 4.42)।

वेदों में सूत्रानुसार निम्नप्रयोग मिलते हैं-

1. ब्रह्मणस्पतिः।।

(क) स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।।

ऋ० 1.18.4

(ख) तस्मै देवा अधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः।। मा० 17.52

(ग) ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मैवोपसरद्।। मै० 2.2.3

(घ) प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।। का० 7.14

(ङ) त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।।

शौ० 6.4.1

2. इषस्पतिः।।

(क) इषस्पतिः सुवितं गातुमग्निः।। ऋ० 4.55.4

3. इळस्पतिः।।

(क) इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः।। ऋ० 9.58.4

4. रजसस्पतिः।।

(क) शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः।।

ऋ० 7.35.5; शौ० 19.10.5

5. शतिनस्पतिः।।

(क) वाजस्य शतिनस्पतिः।।

ऋ० 8.75.4; मा० 15.21; तै० 2.6.11.1

6. वाचस्पतिः।।

(क) वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा।।

मा० 9.1; 11.7; का० 12.1.7

(ख) वाचस्पतिस्सोमं पिबतु।। काठ० 9.8

(ग) वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसः।।

कौ० 2.873; जै० 3.20.7

(घ) वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।। शौ० 1.1.1

(ङ) उपहूतो वाचस् पतिर् उपहूतो ऽहं वाचस् पत्युः।।

पै० 1.6.4

7. धर्मणस्पतिः।।

(क) अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो अग्निः पृथुर्धर्मणस्पति-राज्यस्य वेतु स्वाहा।। मा० 10.29; का० 11.8.7

8. जगतस्पतिः।।

(क) धाता ददातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः।।

तै० 2.4.5.1; शौ० 7.17.1

9. नभसस्पतिः।।

(क) अयं नो नभसस्पतिः।। शौ० 6.79.1

(ख) वायुर्वै नभसस्पतिर्वायुमेव।। तै० 3.3.8.6

10. मनसस्पति।।

(क) एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः।। कौ० 2.12.80

11. इडायास्पुत्रः।।

(क) इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट।। ऋ० 3.29.3

12. दिवस्पुत्राय।।

(क) पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे।। ऋ० 7.102.1

(ख) दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत।। ऋ०10.37.1; मा० 4.35

(ग) दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः।। ऋ० 3.2.12

(घ) आ दिवस्पृष्ठमश्वयुर्गव्ययुः।। ऋ० 9.36.6

(ङ) दिवस्पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे।। ऋ० 9.69.5

(घ) दिवस्पृष्ठज्ज स्वर्गत्वा मिश्रा।। मा० 17.65; शौ० 4.14.2

13. तपसस्पारम्।।

(क) अतारिष्म तमसस्पारम्।।

ऋ० 1.92.6; 183.6; 184.6; क० 17.18

(ग) अगन्म तमस्पारमस्य।।

मा० 12.73; का० 13.5.12; काठ० 16.12

(घ) अतारिष्ट तमस्स्पारमस्य।। मै० 2.7.12

14. दिवस्पदम्।।

(क) अभि प्रिया दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम्।।
ऋ० 9.10.9; कौ० 2.11.27

15. इडायास्पदम्।।

(क) इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा।। मा० 4.22; का० 4.7.2

(ख) इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपम्।। शौ० 3.10.6

16. दिवस्पदे।।

(क) तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे।। कौ० 2.876

17. मातुष्पदे।।

(क) मातुष्पदे परमे शुक्र आयोः।। ऋ० 5.43.14

18. इडायास्पदे।।

(क) इडायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।। ऋ० 3.23.4

19. इडस्पदे।।

(क) अदब्धो होता नि षददिळस्पदे परिवीत इळस्पदे।।
ऋ० 1.128.1

(ख) इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।।
मा० 15.30; शौ० 6.63.4

(ग) इडस्पदे नमसा राहव्यं सपर्यता पस्त्यानाम्।। कौ० 1.63.20

20. दिवस्पयः।।

(क) दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन्।। ऋ० 10.114.1

(ख) वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः।। शौ० 19.44.5

21. रायस्पोषः।।

(क) मा वयञ्‍ रायस्पोषेण वियौष्म् तातो रायः।।
मा० 4.20; का० 3.7.3

(ख) प्रजां दृंह रायस्पोषं....रायस्पोषो यजमानं मनुष्या।।
तै० 1.3.6.2

(ग) रक्षसामहत्यै रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्तीरित्याह पशवो वै रायस्पोषः।। तै० 5.4.6.2

(घ) रायस्पोषः स्थ, रायस्पोषं वो भक्षीय।। मै० 1.5.2; 1.5.9

(ङ) सं मया प्रजा समहं रायस्पोषेण सं मया रायस्पोषः।। का० 5.5

22. रायस्पोषम्।।

(क) रायस्पोषं वि ष्यतां नाभिमस्मे।। ऋ० 2.40.4

(ख) ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे।। ऋ० 4.33.10

(ग) स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे।। ऋ० 4.36.3

(घ) रायस्पोषं यजमानेषु धारय।। ऋ० 10.122.8

(ङ) रायस्पोषं विश्वमायुरशीय।। मा० 8.62

(च) रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा।। मा० 8.51; का० 9.3.3

(छ) रायस्पोषं विष्यतु नाभिमस्मे।। मा० 27.20

(ज) आयुष्यं वर्चस्यञ्ज रायस्पोषमौद्भिदम्।। मा० 34.50

(झ) तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व।। का० 16.2.3

(ञ) प्रजां दृंह रायस्पोषं दृंह।। तै० 1.3.1.2

(ट) विदेर्गौपत्यं रायस्पोषम्।। तै० 3.1.9.4

(ठ) धारया मयि प्रजां रायस्पोषम्।। मै० 2.7.6; का० 16.5

(ड) रायस्पोषमावदेत्याशिषमेवावाशास्ते।। मै० 4.1.6

(ढ) रायस्पोषं नो धेहि।। का० 40.5

(ण) रायसपोषमुत चित्तान्यग्ने।। शौ० 1.9.4

(त) देव त्वष्टा रायस्पोषम्।। शौ० 5.27.10

(थ) रायस्पोषं यजमानाय धेहि।। शौ० 18.1.43; 18.4.47

(द) रायस्पोषं यजमानाय धेहि।। शौ० 19.52.1

(ध) रायस्पोषं वि ष्यतु नाभिम् अस्मे।। पै० 9.1.10

(न) रायस्पोषं शुनासीराथो सीता भगश् च यः।। पै० 10.6.11

इस सूत्र के ब्रह्मणस्पतिः, इषस्पतिः, इळस्पतिः, रजसस्पतिः, शतिनस्पतिः, वाचस्पतिः, धर्मणस्पतिः, जगतस्पतिः, नभसस्पतिः, मनसस्पतिः, - ये पद पति से युक्त होकर; इडायास्पुत्रः, दिवस्पुत्राय, - ये पद पुत्र से युक्त होकर; दिवस्पृष्ठम्- पद पृष्ठ से युक्त होकर; तमसस्पारम्- पार से युक्त होकर; दिवस्पदम्, इडायास्पदम्, दिवस्पदे, मातुष्पदे, इळायास्पदे, इडस्पदे-ये पद पद से युक्त होकर; दिवस्पयः, -पद पय से युक्त होकर; रायस्पोषः रायस्पोषम्-, ये पद पोष से युक्त होकर मिलते हैं। वेदों में कुल प्रयोग अठासी स्थलों पर हैं।।

268. इडाया वा।। अष्टा० 8.3.54

का०- इडायाः षष्ठीविसर्जनीयस्य वा सकार आदेशो भवति पत्यादिषु परतश्छन्दसि विषये। इडायास्पतिः, इडायाः पतिः। इडायास्पुत्रः (ऋ० 3.29.3), इडायाः पुत्रः। इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम्। इडायास्पारम्, इडायाः पारम्। इडायास्पदम् (मा० सं० 4.22), इडायाः पदम् (तै० सं० 1.2.5.1)। इडायास्पयः, इडायाः पयः। इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम्।।

सि०- पतिपुत्रादिषु परेषु। इळायास्पुत्रः (ऋ० 3.29.3)। इळायाः पुत्रः। इळायास्पदे इळायाः पदे।

प्रस्तुत सूत्र में 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' (अष्टा० 8.3.53) की, तथा पूर्ववत् छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में पति , पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् पोष-इन शब्दों के परे रहते 'इडा' शब्द के षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को विकल्प से सत्वादेश हो जाता है। पति-इडायास्पतिः, इडायाः पतिः। पुत्र-इडायास्पुत्रः, इडायाः पुत्रः। पृष्ठ-इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम्। पार-इडायास्पारम्, इडायाः पारम्। पदम्-इडायास्पदम्, इडायाः पदम्। पयः-इडायास्पयः, इडायाः पयः। पोषम्-इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम्।। पूर्व सूत्र से नित्य सकारादेश प्राप्त था, अतः विकल्पार्थ यह सूत्र रचा है। आचार्य शौनक ने

'इडाया' पद से पूर्व सकारादेश का विधान इस प्रकार किया है **'इळाया गा नमसो देवयुर्दुहो मातुरिळस्तानि पदप्रवादे।।'** अर्थात् 'पद' शब्द का कोई भी रूप बाद में हो तो **'इळायाः'** गाः, नमसः, देवयुः, दुहः, मातुः, इळः- ये पद सकारभाव को प्राप्त होते हैं।।

वेदों में प्रकृत सूत्रानुसार प्राप्त प्रयोग निम्न हैं-

1. **इडायास्पदे।।**
   - (क) **इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।।** ऋ० 3.23.4
   - (ख) **इळायास्पदे घृतवन्तमासदः।।** ऋ० 10.91.4
   - (ग) **इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा।।** मा० 4.22; मै० 1.2.4
   - (घ) **यद्देवयजनमिडायास्पद इति।।** मै० 3.7.3
   - (ङ) **इडायास्पदे घृतवति स्वाहा।।**
     मै० 1.2.4; काठ० 2.5; काठ० 24.4
   - (च) **इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपम्।।**
     शौ० 3.10.6; पै० 1.105.2

'सकार' के अभाव पक्ष में -

1. **इडायाः पदे।।**
   - (क) **देवयजन इडायाः पदे घृतवति स्वाहा।।** तै० 1.2.5.1
   - (ख) **यद्देवयजनमिडायाः पद इत्याह।।** तै० 6.1.8.2
   - (ग) **विष्णोः पदे सीदेडायाः पदे सीद।।** काठ० 36.6
2. **इडायास्पुत्रः।।**
   - (क) **इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट।।**
     ऋ० 3.29.3; मा० 34.14; का० 33.1.8

एवं प्रस्तुत सूत्र के सकार के भाव पक्ष में **'इडायास्पदे, इडायास्पुत्रः'**-के तेरह प्रयोग तथा सकार के अभाव पक्ष में **'इडायाः पदे'**-के तीन प्रयोग प्राप्त होते हैं।

269. निसस्तपतावनासेवने।। अष्टा० 8.3.100

का०- निसः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति तपतौ परतोऽनासेवनेऽर्थे। आसेवनं पुनः पुनः करणम्। निष्टपति सुवर्णम्। सकृदग्निं स्पर्शयतीत्यर्थः। अनासेवन इति किम्? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः। पुनः पुनरग्निं स्पर्शयतीत्यर्थः। निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः। (मा० सं० 1.7) इत्यत्र सदप्यासेवनं न विवक्ष्यते, छान्दसो वा वर्णविकारः।।

सि०- निसः सकारस्य मूर्धन्यः स्यात्। निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः (मा०स० 1.7)। अनासेवने किम्? निस्तपति। पुनः पुनस्तपतीत्यर्थः।।

प्रस्तुत सूत्र में **'सहेः साडः सः'** (अष्टा० 8.3.56) से **'सः'** की; **'अपदान्तस्य मूर्धन्यः'** (अष्टा० 8.3.55) से **'मूर्धन्यः'** की तथा पूर्ववत् **'संहितायाम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। आवृत्ति बार-बार होना अर्थ यदि हो तो निस् के सकार को **'तपति'** परे रहते मूर्धन्य षकार हो जाता है। **निष्टपति सुवर्णम्**। एक बार अग्नि में डालता है। आसेवन से भिन्न में इसका क्या अभिप्राय है? **निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः''**। स्वर्णकार सोने को पुनः पुनः आग का स्पर्श कराता है। अर्थात् आग में डालता है। **निष्टप्तं रक्षाः, निष्टप्ता अरातयः-** इनमें आसेवन अर्थ रहने पर भी विवक्षित नहीं है। या वैदिक प्रयोग में वर्ण विकार= षत्व् ष्टुत्व बहुल रूप से होता ही है।।

इस सूत्र के वेदों में निम्न प्रयोग प्राप्त होते हैं-

1. **निष्टपति।।**

   (क) **यद्धविनिर्वप्स्यन्नग्नौ निष्टपत्य ग्नेरेव यज्ञनिर्मिमीते।।** मै० 1.4.6

   (ख) **यदग्निहोत्रहवर्णीं निष्टपति।।** मै० 1.8.5

   (ग) **अग्नेर्वस्तेजिष्ठेन तेजसा निष्टपामि।।** तै० 1.1.10.1

2. **निष्टप्तम्।। निष्टप्ता।।**

   (क) **निष्टप्तञ्जरक्षो निष्टप्ता अरातयः।।**

   मा० 1.7; का० 1.3.3; मा० 1.29; का० 1.10.1

एवं प्रस्तुत सूत्र के सात प्रयोग प्राप्त होते हैं।।

270. युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्।। अष्टा० 8.3.101

का०- युष्मत् तत् ततक्षुस् इत्येतेषु तकारादिषु परतः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, स चेत् सकारोऽन्तःपादं भवति। युष्मदादेशास्त्वम्, त्वाम् ते, तव। अग्निष्ट्वं नामासीत्। त्वा-अग्निष्ट्वा वर्धयामसि। ते-अग्निष्टे विश्वमानय। तव-अप्स्वग्ने सधिष्टव (ऋ० 8.43.9)। तत्-अग्निष्टद्विश्वमापृणाति (ऋ० 10.2.4)। ततक्षुस्-द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः (ऋ० 10.31.7)। अन्तः पादमिति किम्? यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निस्तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः(तै० सं० 3.2.5.4)।।

सि०-पादमध्यस्थस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्तकारादिष्वेषु परेषु। युष्मदादेशाः त्वं-त्वा-ते-तवाः। त्रिभिष्ट्वं दैव सवितः (ऋ० 9.67.26)। तेभिष्ट्वा। अभिष्टे। अप्स्वग्ने सधिष्टव (ऋ० 8.43.9)। अग्निष्टद्विश्वम् (ऋ० 10.2.4)। द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। अन्त पादं किम्? तदग्निस्तदर्यमा। यन्म आत्मनोमिन्दाभूदग्निस्तत्पुन- राहार्जातवेदाविचर्षणिः। अत्राग्निरिति पूर्वपादस्यान्तो न तु मध्यः।।

प्रस्तुत सूत्र में '**ह्रस्वात्तादौ तद्धिते**' (अष्ट्या० 8.3.99) से '**तादौ**' की, '**सहेः साडः सः**' (अष्ट्या० 8.3.56) से '**सः**' की, '**इण्कोः**' (अष्टा० 8.3.57) की; '**नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि**' (अष्टा० 8.3.58) की; '**अपदान्तस्य मूर्धन्यः**' (अष्ट्या० 8.3.55) से '**मूर्धन्यः**' की; तथा पूर्ववत् संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। '**अन्तःपादम्**' का अर्थ ''ऋग्वेद की ऋचाओं के पाद का मध्य'' है। इण् तथा कवर्ग से परे सकार को तकारादि युष्मद्, तत् तथा ततक्षुस् परे रहते मूर्धन्यादेश होता है, यदि वह सकार पाद के अन्तर् = मध्य में वर्तमान हो तो। सूत्र में तकारादि युष्मद् का अर्थ युष्मद् को जो तकारादि ओदश हुए हैं, वही लिये जायेगें। जैसे -'**त्वाहौ सौ**' (अष्ट्या० 7.29.4) से '**त्व**', '**त्वामौ द्वितीयायाः**' (अष्ट्या० 8.1.23) से '**त्वा**' जो द्वितीयान्त को हुआ है; '**तवममौ ङसि**' (अष्ट्या० 7.2.96) से '**तव**' हुआ,

'**तेमयावेकवचनस्य**' (अष्या० 8.1.22) से 'ते' इसका अर्थ यह है कि तकारादि युष्मद् से 'त्व' (प्रथमा एकवचन में 'त्वम्') त्वा, तव, ते- इनका ग्रहण होगा। इसीलिये नागेशभट्ट ने लिखा- ''**तादाविति विशेषणाद्युष्मदादेशानां ग्रहणम्। तदाह-त्वमित्यादि**''।। काशिकाकार का वचन अति स्पष्ट है-'**युष्मदादेशास्त्वम्, त्वाम्, ते, तव**'। **युष्मद्- अग्निष्ट्वं नामासीत्। त्वा-अग्निष्ट्वा वर्धयामसि। ते- अग्निष्टे विश्वमानय। तव- अप्स्वग्ने सधिष्टव। तत्-अग्निष्टद्विश्वमापृणाति। ततक्षुस्- द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।** उदाहरणों में सर्वत्र जिनको षत्व हुआ है, वह ऋचा के मध्य में है। '**अन्तःपादम्**'- ऐसा क्यों कहा गया? **यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निस्तत्पुन- राहाजातवेदा विचर्षणिः।** यतोहि पाद के प्रारम्भ में अथवा पाद के अन्त में रहने पर सकार का मूर्धन्यादेश न होने से प्रस्तुत उदाहरण में भी '**यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निस्**'- यह पाद का एक चरण है और यहाँ '**अग्निस्**' पूर्वपाद के अन्त में है, '**तत् पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः**' यहाँ तत् दूसरे पाद के प्रारम्भ में है, पादमध्य में न होने के कारण सकार का मूर्धन्यादेश न हुआ, विसर्ग का सकारादेश ही रह गया।

वेदों में इस सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. **त्वम्।।**

(क) **त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः।।**

ऋ० 9.67.26

2. **त्वा।।**

(क) **शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि।।**

ऋ० 10.155.1

3. **ते।।**

(क) **उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः।।** ऋ० 1.11.6

(ख) **विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर।।**

ऋ० 1.11.7; मै० 2.2.5

4. **तव।।**

(क) **अपस्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे।।** ऋ० 8.43.9

5. तत्।।
   (क) अग्निष्टच्छोचन्नप।। ऋ० 7.50.2
   (ख) अग्निष्टद्विश्वमा पृणाति।। ऋ० 10.2.4
   (ग) अग्निष्टद्धोता ऋतुविद्विजानन्।। ऋ० 10.2.5
   (घ) अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु।। ऋ० 10.16.6
   (ङ) निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्।। ऋ० 10.68.8
6. ततक्षुः।।
   (क) वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः।। ऋ० 4.58.4
   (ख) यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।।
ऋ० 10.31.7; ऋ० 10.81.4

एवं त्वम्, त्वा, ते, तव, तत्, ततक्षुस् के प्रयोग वेदों में प्राप्त होते हैं।।

271. यजुष्येकेषाम्।। अष्टा० 8.3.102

का०-यजुषि विषये युष्मत्तत्ततक्षुःषु परत एकेषामाचार्याणां मतेन सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। अर्चिर्भिष्ट्वम् (मा० सं० 12.32), अर्चिर्भिस्त्वम्। अग्निष्टेऽग्रम्, अग्निस्तेऽग्रम् (तै० सं० 3.5.6.2)। अग्निष्टत् (तै० सं० 1.1.14.5), अग्निस्तत् (तै० सं० 3.2.5.4)। अर्चिर्भिष्टतक्षुः, अर्चिर्भिष्ततक्षुः।।

सि०-युष्मत्तत्ततक्षुषु परतः सस्य मूर्धन्यो वा। अर्चिभिष्ट्वम् अनिष्टे अग्रम्। अर्चिभिष्टतक्षुः। पक्षे- अर्चिभिस्त्वमित्यादि।।

प्रस्तुत सूत्र में **'युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्'** (अष्या० 8.3.101) से **'युष्मत्तत्ततक्षुःषु'** की; तथा पूर्ववत् तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। है। तकारादि युष्मद् तत् तथा ततक्षुस् परे रहते यजुर्वेद में इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को कतिपय आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है। **'एकेषाम्'** पद का ग्रहण यहाँ विकल्प हेतु है। अर्चिर्भिष्ट्वम्, अर्चिर्भिस्त्वम्। अग्निष्टेऽग्रम, अग्निस्तेऽग्रम्। अग्निष्टत्, अग्निस्तत्,। अर्चिर्भिष्टतक्षुः, अर्चिर्भिस्ततक्षुः।। प्रस्तुत सूत्र में **'अन्तः पादम्'** पद की चर्चा आचार्य ने इसलिये नहीं की है कि यजुर्वेद गद्यबहुल है। ऋग्वेदीय मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के षत्व विधान के क्रम

में 'अन्तःपादम्' का विधान इसलिये किया गया है कि ऋग्वेद के मन्त्र छन्दों में हैं, और मन्त्र भी कई-कई पादों में विद्यमान हैं।।

''वेद संहिताओं में उपलब्ध उदाहरण निम्न हैं-

1. त्वम्।।
   (क) शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।।
   मा० 12.32; का० 13.3.3; मै० 2.7.10; का० 16.10
2. त्वा।।
   (क) अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती।।
   मा० 11.61; मै० 4.9.1
   (ख) प्रजापतिष्ट्वा सादयतु।। मा० 13.17
   (ग) आयोष्ट्वा सदने सादयामि।। मा० 15.63
   (घ) वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसित।। मा० 23.13
   (ङ) बृहस्पतिष्ट्वा विश्वैदेवैः।। मै० 4.9.5
   (च) अग्निष्ट्वा वसुभिः पुरस्तात्।। मै० 4.9.5
   (छ) ब्राह्मणस्य सभेष्ट्वा पाङुत्क्रम्य ब्रूयाद्..।। तै० 1.6.8
   (ज) सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः।। का० 2.14
3. ते।।
   (क) ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे।। मा० 1.22
   (ख) आभिष्टे अद्य गीर्भिर्गृणन्तः।।
   तै० 4.4.4.7; मै० 2.13.8
   (ग) आयुष्टे।। तै० 2.5.12.1
   (घ) आयुष्टे विश्वतो दधत्।। तै० 1.3.14.14
   (ङ) अग्निष्टे तेजः प्रयछत्।। मै० 2.2.5
   (च) अदित्यै रास्नास्य दितेष्टे।। मा० 12.59
4. तत्।।
   (क) अग्निष्टदविश्वमापृणाति।।
   मै० 4.10.2; तै० 1.1.14.14; का० 35.58

5. ततक्षुः।।

(क) यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।।

मा० 17.20; का० 18.2; का० 18.2.5; तै० 4.6.2.5; मै० 2.10.2

(ख) वेनादेकञ्ज स्वधया निष्टतक्षुः।।

मा० 17.92; का० 19.1.6; का० 40.7

एवं इकतीस प्रयोग-स्थल प्रस्तुत सूत्र के हमें प्राप्त हुए हैं।।

272. स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि।। अष्टा० 8.3.103

का०- एकेषामिति वर्तते। स्तुत स्तोम इत्येतयोः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवत्येकेषामाचार्याणां मतेन। त्रिभिष्टुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य। गोष्टोम (तै० सं० 7.4.11.1) षोडशिनम्, गोस्तोमं षोडशिनम् (तु०-आ० श्रौ० 9.5.2)। पूर्वपदादित्येव सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।।

सि०- नृभिष्टुतस्य, नृभिः स्तुतस्य। गोष्टोमम्, गोस्तोमम्। 'पूर्वपदात्' (8.3.106) इत्येव सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।।

प्रस्तुत सूत्र में 'यजुष्येकेषाम्' (अष्या० 8.3.104) से 'एकेषाम्' की तथा पूर्ववत् सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। स्तुत और स्तोम के सकार को इण् तथा कवर्ग से उत्तर वेदविषय में कतिपय आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है। 'एकेषाम्' पद का ग्रहण आचार्य ने विकल्प हेतु किया है। उदा०- त्रिभिष्टुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य। गोष्टोमं षोडशिनम्, गोस्तोमं षोडशिनम्। यद्यपि प्रस्तुत सूत्र का कार्य अग्रिम सूत्र 'पूर्वपदात्' (अष्या० 8.3.104) से सम्पन्न हो जाता, परन्तु आचार्य ने इस सूत्र की रचना प्रपञ्चार्थ = विस्तारार्थ की है।। अतः भाष्यकार ने भी लिखा- 'स्तुतस्तोमयोश्छन्दस्यनर्थकं वचनं पूर्वपदादिति सिद्धत्वात्।। स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि वचनमनर्थकम् इत्येव।। किं कारणम्? पूर्वपदादिति सिध्यत्वात्। पूर्वपदादित्येव सिद्धम्'।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलें हैं-

1. स्तुतः ।।
   (क) उदु ष्टुतः समिधा यह्वो अद्यौत् ।। ऋ० 3.5.9
   (ख) नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः ।।

   ऋ० 4.16.21; 4.17.21; 4.19.11
   (ग) नृभिष्टुतस्य यस्ते गोसनिर्भक्षः ।। मै० 1.3.39
2. स्तोमः ।।
   (क) स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ।।

   मा० 14.25; का० 15.4.8; तै० 4.3.9.2
   (ख) चतुष्टोमः स्तोमो भवति... ।। तै० 5.3.12.2
   (ग) त्रिवृदग्निस्टोमोऽग्निष्टुदाग्नेयीषु भवति....... । त्रिवृदग्निष्टोमो वैश्वदेवीषु पुष्टिमेवाव रूध्धे सप्तदशोऽग्निष्टोमः प्राजापत्यासु..... ।। तै० 7.2.5.4
   (घ) ज्योतिष्टोमं प्रथमुप यन्त्यस्मिन्नेव तेन लोके तिष्ठन्ति गोष्ठोमं द्वितीयमु ।। यन्ति अन्तिरिक्ष एव तेन तिष्ठन्त्यायुष्टोमं तृतीयमुपयन्ति... ।। तै० 7.4.11.1; का० 33.3
   (ङ) अग्निष्टोममग्रे ज्योतिष्टोममाहरति, यज्ञमुखंवा अग्निष्टोमः...अथेष त्रिष्टोमः ।। मै० 4.4.10

एवं प्रस्तुत सूत्रानुसार 'स्तुतः' के पाँच, 'स्तोमः' के आठ प्रयोग स्थल प्राप्त होते हैं ।।

273. पूर्वपदात् ।। अष्टा० 8.3.104

का०- छन्दसीति वर्तते, एकेषामिति च। पूर्वपदस्थाद् निमित्तादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषय एकेषामाचार्याणां मतेन। द्विषन्धिः (मै० सं० 3.8.2), द्विसन्धिः। त्रिषन्धिः (मै० सं० 3.8.2), त्रिसन्धिः। मधुष्ठानम्, मधुस्थानम्। द्विषाहस्रं चिन्वीत (तै० सं० 5.6.8.2), द्विसाहस्त्रं चिन्वीत। असमासेऽपि यत् पूर्वपदं तदपीह गृह्यते। त्रिःषमृद्धत्वाय, त्रिःसमृद्धत्वाय ।।

सि०- पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सस्य षो वा। यदिन्द्राग्नी दिविष्ठः (ऋ० 1.108.11)। (पूर्वपदात् किम्?) युवं हि स्थः स्वर्पती (ऋ० 9.19.2)।।

प्रस्तुत सूत्र में '**स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि**' (अष्या० 8.3.105) से '**छन्दसि**' की तथा पूर्ववत् **एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद विषय में पूर्वपद में स्थित निमित्त (इण् और कवर्ग) से उत्तर सकार को कतिपय आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है। **द्विषन्धिः, द्विसन्धिः। त्रिषन्धिः, त्रिसन्धिः। मधुष्ठानम्, मधुस्थानम्। द्विषाहस्रं चिन्वीत, द्विसाहस्रं चिन्वीत।** असमास में भी जो पूर्वपद है उसका भी यहाँ ग्रहण होता है, यथा- **त्रिःषमृद्धत्वाय, त्रिःसमृद्धत्वाय।** तैत्तिरीयसंहिता (2.4.11.5) में यह प्रयोग इस प्रकार है- **त्रिष्षमृद्धत्वाय।** यहीं प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण (2.16) में भी मिलता है।।

वेदों में अनेक प्रयोग मिलते हैं-

1. **त्रिषत्याः।।**
   (क) **त्रिषत्या हि देवा।।** तै० 6.3.10.1; मै० 1.4.8
2. **त्रिषंयुक्तम्।।**
   (क) **त्रिषंयुक्तंयत् पूर्वम्।।** मै० 4.3.7
3. **त्रिषधस्थम्।।**
   (क) **बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।।**
   शौ० 20.88.1; काठ० 9.19
4. **त्रिषंधिः।।**
   (क) **त्रिव्रतो भवति त्रिषन्धिर्हीषुः।।** काठ० 25.1
5. **त्रिषप्ताः।।**
   (क) **ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वा।।** मै० 4.12.1
   (ख) **भयादपवहति त्रिषप्ताः कवचिनस्त्रिषप्ताः।।** काठ० 37.11
6. **द्विषन्धिः।।**
   (क) **द्विव्रतो भवति द्विषन्धिर्हीषुः।।** काठ० 25.1

7. द्विषाहस्त्रम्।।

(क) द्वितीयं चिन्वानो द्विषाहस्रं वा अन्तरिक्षम्।। तै० 5.6.8.2

8. मधुषुत्।।

(क) ग्रावेव सोता मधुषुद् यमीळे।। ऋ० 4.3.3

(ख) ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहत्।। ऋ० 10.64.15

9. मधुषुत्तमः।।

(क) अश्विना मधुषुत्तमो युवाकुः।। ऋ० 3.58.9

10. मधुष्ठालम्।।

(क) मधुष्ठालं ब्रह्मणे।। मै० 1.11.7

11. त्रिस्समृद्धम्।।

(क) त्रिस्समृद्धमेवैनं करोति सर्वाणि।। काठ० 12.4

12. त्रिसंदृशम्।।

(क) त्रिमूर्धानं त्रिसंदृशम्।। मै० 4.12.5

13. त्रिसमृधाना।।

(क) अप त्रिसमृधाना दर्माद्?।। पै० 5.34.4

14. त्रिस्तोभम्।।

(क) अथ यत् त्रिस्तोभम्।। मै० 4.8.5

15. मधुसंश्लिष्टेन।।

(क) मद्घ्ना मधुसंश्लिष्टेन व्यवोक्षति।। मै० 3.3.6

16. मधुसंस्त्रावा।।

(क) जिह्वा मे मधुसंस्त्रावा।। पै० 4.22.5

17. मधुसंकाशे।।

(क) अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे।।

शौ० 7.37.1; पै० 1.55.3; 20.30.8

18. मधुसंदृशः।।

(क) भूयासं मधुसंदृशः।। शौ० 1.34.3

19. मधुसंदृशी।।

(क) अक्ष्यौ मे मधुसंदृशी।। पै० 4.20.2; 6.6.1

20. मधुसंदृशे।।

(क) अक्ष्यौ मे मधुसंदृशे।। पै० 19.43.1

21. मधुसूदिनी।।

(क) जिह्वा मे मधुसूदिनी।। पै० 20.30.8

एवं प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग अन्य भी अनेक स्थलों पर उभयथा प्राप्त हैं।।

274. सुञः।। अष्टा० 8.3.105

का०- सुञिति निपात इह गृह्यते, तस्य पूर्वपदस्याद् निमित्तादुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषये। अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० 4.3.1.3)। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (ऋ० 1.36.13)।।

सि०- पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सूञो निपातस्य सस्य षः। ऊर्ध्व ऊ षु णः (ऋ० 1.36.13)। अभी षु णः (ऋ० 4.31.3)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'पूर्वपदात्' (अष्या० 8.3.106) की; तथा पूर्ववत् छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् की अनुवृत्ति आ रही है। 'सूञ्' से यहाँ निपात का ग्रहण है। पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर सूञ् निपात के सकार को वेदविषय में मूर्धन्य आदेश होता है। अभी षु णः सखीनाम्। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये। यहां 'इकः सूञि' (अष्या० 6.3.132) से सूञ् से पूर्व को दीर्घ तथा 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (अष्या० 8.4.27) से णत्व हो गया है।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

(क) इमा उ षु श्रुधी गिरः।। ऋ० 1.26.5

(ख) मो षु णः परापरा।। ऋ० 1.38.6

(ग) अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवो। ओ षु त्वा ववृतीमहि।।
ऋ० 1.138.4

(घ) षु णः प्र भरामहे।। ऋ० 2.20.1।।

(ङ) ओ षु स्वसारः कारवे।। ऋ० 3.36.9

(च) महे षु णः सुविताय।। ऋ० 3.54.3

(छ) अभी षु णः सखीनाम्।।

ऋ० 4.31.3; मा० 27.41; 36.6

(ज) मो षु णः इन्द्रात्र पृत्सु।। मा० 3.46; का० 3.5.3

(झ) ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये।। का० 12.4.6; मा० 12.42

(ञ) गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना।। मा० 20.81

(ट) एह्यूषु ब्रवाणि ते।। मा० 26.13

(ठ) सहस्त्रमूर्ध्व ऊ षु णः।। मा० 33.97

(ड) महीमू षु मातरं सुव्रतानाम्।। तै० 1.5.11.5

(ढ) मो षु णः इन्द्र पृत्सु।। तै० 1.8.3.1; मै० 1.10.2

(ण) ऊर्ध्व ऊ षु णः ऊतये।। मै० 2.7.4

(त) एह्यू षु ब्रवाणि ते।। काठ० 7.17

(थ) ऊर्ध्व ऊ षु णः ऊतये।। का० 15.12

(द) इममू षु त्वमस्माकम्।। कौ० 1.28

(ध) उपो षु जातमार्यस्य।। कौ० 1.49

(न) गव्यो षु णो यथा पुरा।। कौ० 1.86

(प) स्तुष ऊ षु वो।। कौ० 1.390

(फ) उपो षु जातमप्तुरम्।। कौ० 2.7.62; 2.13.35

(ब) पर्यू षु प्र धन्ववाजसातये।। कौ० 2.13.64

(भ) गव्यो षु णो यथा पुरा।। जै० 1.2.2

(म) अभी षु णः सखीनाम्।। जै० 3.4.5

(य) इदमू षु प्र साधय।। शौ० 1.24.4

(र) धर्मस्तदुषु प्र वोचत्।। शौ० 9.15.4

(ल) स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे।। शौ० 18.1.37

(व) मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुः।। शौ० 20.90.1

एवं प्रस्तुत सूत्र के पैंतिस प्रयोगस्थल मिलते हैं।।

275. सनोतेरनः।। अष्टा० 8.3.106

का०- सनोतेरनकारान्तस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। गोषाः (ऋ० 9.2.10)। नुषाः (ऋ० 9.2.10)। अन इति किम्? गोसनिं वाचमुदेयम् (शौ० सं० 3.20.10)। पूर्वपदादित्येव सिद्धे नियमार्थमिदम्। अत्र केचित् सवनादिपाठाद् गोसनिर्नियमस्य फलं न भवतीति सिसानयिषतीति प्रत्युदाहरन्ति। सिसनिषतेरप्रत्ययः, सिसनीरित्यपरे।।

सि०- गोषा इन्द्रो नृषा असि (ऋ० 9.2.10)। अनः किम्? गोसनिः।।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववत् **पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में अनकारान्त अपदान्त सन् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है। **गोषाः नृषाः**।'अनकारान्त'- ऐसा क्यों कहा गया? **गोसनिं वाचमुदेयम्**। -यहाँ **'गां सनोति इति'** इस अर्थ में **'गो'** पूर्वक सन् धातु से **'छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्'** (अष्या० 3.2.27) से **'इन्'** प्रत्यय हुआ है। इसलिये कहा है कि नकारान्त सन् परे रहते मूर्धन्यादेश नहीं होता है। यहां **'पूर्वपदात्'** (अष्या० 8.3.106) सूत्र से ही षत्व सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियम करता है कि- **'अनकारान्त सन् को ही षत्व हो'**। यहाँ कतिपय आचार्य सवनादिगण में पाठ होने के कारण यह रूप नियम का फल नहीं मानते। अतः **'सिसानयिष्यति'** इसको प्रत्युदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं। अन्य कतिपय आचार्य **'सिसनिषति'-'सिसनिष'**-इस सन्नन्त से अप्रत्यय = क्विप् प्रत्यय मानकर **'सिसनिः'** ऐसे प्रत्युदाहरण प्रदान करते हैं।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिले हैं-

(क) **गोषा इन्दो नृषा अस्य।।**

ऋ० 9.2.10; काठ० 35.6; कौ० 2.10.45; जै० 3.31.15

(ख) **गोषा उ अश्वसा असि।।** ऋ० 9.61.20

(ग) गोषाः शतसा न रंहिः।। ऋ० 10.95.3

एवं वेदों में ये छः प्रयोग स्थल हमें उपलब्ध हुए हैं।।

276. सहेः पृतनर्ताभ्यां च।। अष्टा० 8.3.107

का०- पृतना ऋत इत्येताभ्यामुत्तरस्य सहिसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति। पृतनाषाहम् (ऋ० 6.72.5)। ऋताषाहम्। केचित् सहेः इति योगविभागं कुर्वन्ति। ऋतीषहम् (ऋ० 6.14.4) इत्यत्रापि यथा स्यात्। ऋतिशब्दस्य पूर्वपदस्य 'संहितायाम्' (6.3.116) एतद् दीर्घत्वम्, षत्वं च। अवग्रहे तु ऋति सहम् इत्येव भवति। चकारोऽनुत्तफसमुच्चयार्थः। तेन ऋतीषहम् (ऋ० 6.14.4) इति सिद्धम्।।

सि०- पृतनाषाहम् (ऋ० 6.72.5)। ऋताषाहम्। चात्-ऋतीषाहम्।।

प्रस्तुत सूत्र में 'पूर्वपदात्' (अष्टा० 8.3.106) की; 'स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि' (अष्टा० 8.3.105) से 'छन्दसि' की; 'सहेः साडः सः' (अष्टा० 8.3.56) से 'सः' की; 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (अष्टा० 8.3.55) की; तथा पूर्ववत् 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में पृतना तथा ऋत शब्द से उत्तर भी सहधातु के सकार को मूर्धन्य षकारादेश होता है। पृतनाषाहम्। ऋताषाहम्। कतिपय विद्वान् इस सूत्र में 'सहेः' इतना योगविभाग करते हैं, जिसमें 'ऋतीषहम्' इस पद में भी षकारादेश हो जाये। पूर्वपद 'ऋति' शब्द का संहिता में ही यह दीर्घ षत्व होता है। काशिका के कतिपय संस्करणों में 'षत्वं च' पद नहीं है। अवग्रह में 'ऋतिषहम्' ही होगा। सूत्र में चकार पद का प्रयोग अनुक्त (ऋति) शब्द के समुच्चय के लिये है, इस कारण 'ऋतीषहम्' भी सिद्ध हो जायेगा।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. पृतनाषाहम्।।

   (क) सं विव्यथुः पृतनाषाहमुग्रा।। ऋ० 6.72.5

2. पृतनाषाहा।।

   (क) पृतनाषाहा पशुभ्यः पशून् जिन्व।। मै० 2.8.8

3. पृतनाषहः।।

(क) वीरस्य पृतनाषहः।। ऋ० 6.45.8

4. पृतनाषहम्।।

(क) तमग्ने पृतनाषहं रयिं सहस्व आ भर।। ऋ० 5.23.2

(ख) आ वीरं पृतनाषहम्।। ऋ० 8.98.10; शौ० 20.108.1

1. ऋतीषाहम्।।

(क) नू ष्ठिरं वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्मासु धत्त।।

ऋ० 1.64.15

2. ऋतीषहम्।।

(क) अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम्।। ऋ० 6.14.4

(ख) तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते।।

ऋ० 8.68.1; कौ० 1.345; 2.17.71; जै० 1.37.3

(ग) तं वो दस्ममृतीषहम्।। ऋ० 8.88.1; शौ० 20.9.1; मा० 26.11; शौ० 20.49.4; कौ० 1.236; 2.17.71

'ऋताषाह'-(ऋत सह्) रूप वेदों में अनुपलब्ध है। एवं 'पृतना' शब्द से उत्तर 'सह' धातु के छः प्रयोग तथा 'ऋत' शब्द से उत्तर 'सह' धातु के बारह प्रयोग हमें प्राप्त हुए हैं।।

277. निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि।। अष्टा० 8.3.117

का०- नि वि अभि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य सकारस्याड्व्यवाये छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो न भवति वा। न्यषीदत् पिता नः, न्यसीदत्। व्यषीदत् पिता नः, व्यसीदत्। अभ्यषीदत्, अभ्यसीदत्। सदिष्वञ्जोरिति तदिह नानुवर्तते। सामान्येनैव एतद्वचनम्। न्यष्टौत्, न्यस्तौत्, अभ्यस्तौत् इत्येतदपि सिद्धं भवति।।

सि०-सस्य मूर्धन्यः। न्यषीदत्-न्यसीदत्। व्यषीदत्-व्यसीदत्। अभ्यष्टौत्- अभ्यस्तौत्।।

प्रस्तुत सूत्र में **'न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम्'** (अष्टा० 8.3.110) से **'न'** की; **'सहेः साडः सः'** (अष्टा० 8.3.56) से **'सः'** की; **'इण्कोः'** (अष्टा० 8.3.57 की, **'अपदान्तस्य मूर्धन्यः'** (अष्टा० 8.3.55) की तथा पूर्ववत् **'संहितायाम्'** की अनुवृत्ति आ रही है। वेद-विषय में नि वि तथा अभि उपसर्गों से उत्तर सकार को अट् का व्यवधान होने पर विकल्प से मूर्धन्य आदेश नहीं होता। उदा०-**न्यषीदत् पिता नः, न्यसीदत्। व्यषीदत् पिता नः व्यसीदत्। अभ्यषीदत्, अभ्यसीदत्।** **'सदेः परस्य लिटि'** (अष्टा० 8.3.118) इस पूर्वसूत्र से **'सदेः'** की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। इसलिये सामान्यरूप से इन उपसर्गों से उत्तर सकार को षत्व का विकल्प होता है। इस प्रकार जिस किसी सूत्र से षत्व की प्राप्ति हो, उसी का छन्द में पक्ष में प्रतिरोध हो जाता है। यह वचन सामान्य ही है, इसलिये **न्यष्टौत्, न्यस्तौत्, अभ्यस्टौत्, अभ्यस्तौत्**- ये सब रूप सिद्ध हो जायेगें।।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

1. **न्यषदाम।।**

   (क) **येन कामेन न्यषदामेति।।** तै० 7.5.2.1

2. **अभ्यषिञ्चन्।।**

   (क) **याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्।।**

   मा० 10.1; तै० 1.8.11.1

3. **अभ्यषिच्यन्त।।**

   (क) **येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त।।** शौ० 14.1.36; पै० 4.10.7

4. **अभ्यषिक्षि।।**

   (क) **अभ्यषिक्षि राजाभूम्।।** मै० 4.4.9

5. **न्यसदाम।।**

   (क) **यस्मै कामाय न्यसदामेति।।** काठ० 33.1

6. **न्यसादि।।**

   (क) **दिवश्चित पूर्वो न्यसादि होता।।** ऋ० 1.60.2

   (ख) **दिवो वा नाभा न्यसादि होता।।** ऋ० 3.4.4

(ग) अमूरो होता न्यसादि वि क्षु।। ऋ० 4.6.2

7. न्यसादयन्त।।

(क) आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।। ऋ० 3.9.9; मा० 33.7

(ख) विक्षु होतारं न्यसादयन्त।। ऋ० 10.7.5

8. न्यसीदत्।।

(क) होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः।। ऋ० 1.143.1

9. व्यसृजत्।।

(क) तांवै रुद्रो व्यसृजत्।। मै० 3.8.1

10. व्यसृजन्।।

(क) विसृष्टीर्व्यसृजँस्ते देवा अविदुः।। काठ० 10.7

11. व्यसृष्ट।।

(क) अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्।। ऋ० 10.31.9

12. व्यसर्पः।।

(क) देवैर्नुत्ता व्यसर्पो महित्वा।। काठ० 7, 12

(ख) देवैस् सृष्टा व्यसर्पो महित्वम्।। पै० 17.6.3

13. अभ्यसुषुवः।।

(क) एतत् सोमंयदभ्यसुषुवुः।। मै० 4.7.2

इस सूत्र के वेदों में उभयथा प्रयोग मिलते हैं।।

278. छन्दस्यृदवग्रहात्।। अष्टा० 8.4.26

का०- पूर्वपदादिति वर्तते। ऋकारान्तादवग्रहात् पूर्वपदादुत्तरस्य णकारादेशो भवति छन्दसि विषये। नृमणाः (ऋ० 1.167.5)। पितृयाणम् (ऋ० 10.2.7)। अत्र हि नृऽमनाः, पितृऽयानम् इति ऋकारोऽवगृह्यते। अवग्रहग्रहणं किमर्थमुच्यते, यावता संहिताधिकार आध्यायपरिसमाप्तेः (8.2.108) इत्युक्तफम्? विषयोपलक्षणार्थमवग्रहग्रहणम्- अवगृह्यमाणाद् यथा स्यात्, अनवगृह्यमाणाद् मा भूत। अपदान्ते चावग्रहो नास्ति।।

सि०- ऋकारान्तादवग्रहात्परस्य नस्य णः। नृमणाः। पितृयाणम्।।

प्रस्तुत सूत्र में '**अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि**' (अष्टा० 8.4.2) की; '**रषाभ्यां नो णः समानपदे**' (अष्टा० 8.4.1) से '**रषाभ्यां नो णः**' की; '**पूर्वपदात् संज्ञायामगः**' (अष्टा० 8.4.3) से '**पूर्वपदात्**' की तथा पूर्ववत् '**संहितायाम्**' की अनुवृत्ति आ रही है। ऋकारान्त अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकार आदेश वेदविषय में होता है। उदा०-**नृमणाः। पितृयाणम्।** जिसका पदपाठ काल में अवग्रह = पद को अलग-अलग किया जाये वह अवगृह्यमाण है। केवल ऋ पद नहीं है।, अतः ऋकारान्त सूत्रार्थ में कहा गया है। यहाँ अवग्रह से मात्र इतना उद्देश्य है कि जिस पद में ऋकार पर अवग्रह सम्भव हो, उस ऋकारान्त पद से उत्तर। इससे ज्ञात हुआ कि अवग्रह की अवस्था में ही णत्व नहीं होगा। उदाहरणों में नृ पितृ पद ऋकारान्त हैं जो अवगृहीत होते हैं। जैसे **नृमणाः-नृमना इति नृ मनाः। पितृयाणम्-पितृयानमिति पितृयानम्।** यह अवग्रह याजुष पदपाठ के अनुसार है। नागेशभट्ट ने लिखा है कि संहिताकाल में ही णत्व होता है, पदपाठ के समय नहीं होता- '**संहिताकाले णत्वम्। पदकाले चाऽवग्रहात्। अतएव् पदपाठे णत्वं न प्रयुञ्जते**'।।

वेदों में प्राप्त-प्रयोग निम्न हैं-

1. **नृमणाः।।**
   (क) **विषितस्तुका रोदसी नृमणाः।।** ऋ० 1.16.75
   (ख) **तृतीयमप्सु नृमणा अजस्त्रम्।।**
   मा० 12.18; तै० 1.3.145; काठ० 16.9
2. **नृमणस्यसे।।**
   (क) **अस्मभ्यं नृम्णमा भराऽस्मभ्यं नृमणस्यसे।।** ऋ० 5.38.4
3. **पितृयाणम्।।**
   (क) **पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणम्।।** ऋ० 10.2.7
   (ख) **न स पितृयाणमप्येति लोकम्।।** शौ० 5.18.13
   (ग) **प्र पितृयाणं पन्थां जानाति।।** पै० 16.134.2
4. **पितृयाणाः।।**
   (क) **ये देवयाना पितृयाणाश्च लोकाः।।** शौ० 6.117.3

5. पितृयाणै: ।।
   (क) पितृयाणै: सं व आ रोहयामि ।। शौ० 18.4.1
   (ख) गम्भीरै: पथिभि: पितृयाणै: ।। शौ० 18.4.62
6. पितृयाना: ।।
   (क) ये देवयाना उत पितृयानास् ।। पै० 16.50.2
7. पितृयानै: ।।
   (क) प्र हिणोमि पथिभि पितृयानै: ।। पै० 17.30.10

उपर्युक्त उदाहरण दोनों प्रकार के हैं अर्थात् वेदों में ऋकारान्त अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकार भी हुआ है और नकार भी रह गया है। अत: सूत्र में विकल्प की स्थिति होनी चाहिए, जो सूत्रकार ने नहीं पढ़ी है। हमारी दृष्टि में सूत्र इस प्रकार पढ़ना उचित था। 'वा छन्दस्यृदवग्रहात्'। नागेशभट्ट ने जो यह कहा है कि 'संहिताकाल में ही णत्व होता है, पदपाठ के समय नहीं'- उनका यह कथन भी उपर्युक्त प्राप्त-प्रयोगों के अनुसार चिन्त्य है।।

279. नश्च धातुस्थोरुषुभ्य: ।। अष्टा० 8.4.27

का०- नस् इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति धातुस्थाद् निमित्तादुत्तरस्योरुशब्दात् षुशब्दात् च छन्दसि विषये। धातुस्थात् तावत्-अग्ने रक्षा ण: (ऋ० 7.15.13)। शिक्षा णो अस्मिन् (ऋ० 7.32.26)। उरुशब्दात्-उरु णस्कृधि (ऋ० 8.75.11)। षुशब्दात्-अभी षु ण: सखीनाम् (ऋ० 4.31.3)। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (ऋ० 1.36.13)। अस्मदादेशोऽयं नस्शब्दो 'बहुवचनस्य वस्नसौ' (8.1.21) इति।।

सि०- धातुस्थात्। अग्ने रक्षा ण: (ऋ० 7.15.13)। शिक्षा णो अस्मिन् (ऋ० 7.32.26)। उरु णस्कृधि (ऋ० 8.75.1)। अभीषु ण: (ऋ० 1.36.13)। मो षु ण: (ऋ० 1.38.6)।।

प्रस्तुत सूत्र में 'छन्दस्यृदवग्रहात्' (अष्टा० 8.4.26) से 'छन्दसि' की; 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (अष्टा० 8.4.2) की; 'रषाभ्यां नो ण: ' तथा 'संहितायाम्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। वेदविषय में धातु में स्थित

निमित्त से उत्तर तथा उरु एवं षु शब्द से उत्तर नस् के नकार को णकार आदेश होता है। प्रथम धातुस्थ निमित्त से उत्तरवर्ती-**'अग्ने रक्षा णः'** **'शिक्षा णो अस्मिन्'**। उरु शब्द से उत्तर **'उरु णस्कृधि'**। षु शब्द से उत्तर-**'अभी षु णः सखीनाम्'**। **'ऊर्ध्व ऊ षु ण उतये'**। यहाँ **'नस्'** शब्द **'बहुवचनस्य वस्नसौ'** (अष्या० 8, 2, 21) सूत्र द्वारा अस्मद् शब्द के द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के बहुवचन के निष्पन्न रूपों के स्थान पर 'नस्' आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है।

वेदों में प्रस्तुत सूत्र के निम्न प्रयोग मिलते हैं-

(क) **रक्षा णो ब्रह्मणस्पते।।**

ऋ० 1.18.3; मा० 3.30; का० 3.3.22

(ख) **रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी।।** ऋ० 4.3.14

(ग) **रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे।।** ऋ० 6.16.30; जै० 4.6.10

(घ) **अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति।।**

ऋ० 7.15.13; कौ० 1.24; जै० 1.3.4

(ङ) **रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका।।** ऋ० 10.4.7

(च) **रक्षा णो अप्रयुच्छन्।।** मा० 4.14; का० 4.5.6

(छ) **शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत।।**

ऋ० 7.32.26; कौ० 1.259; 2.14.56;
शौ० 18.3.67

2. **उरु।।**

(क) **उरु णो वाजसातये कृतं राये स्वस्तये।।** ऋ० 5.64.6

(ख) **उरुणस्तन्वे३ तन उरु क्षयाय नस्कृधि।।**
उरु णो यन्धि जीवसे।। ऋ० 8.68.12

(ग) **उरुकृदुरु णस्कृधि।।**

ऋ० 8.75.11; काठ० 7.17; कौ० 2.16.49; तै० 2.6.
11.3; मै० 4.11.6

(घ) **आरे देवाः द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये।।**

ऋ० 10.63.12

3. सु।।

(क) मो षु णः परापरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्।। ऋ० 1.38.6

(ख) अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवो।। ऋ० 1.138.4

(ग) विद्धि षु णः प्र भरामहे।। ऋ० 2.20.1

(घ) महे षु णः सुविताय प्र भूतम्।। ऋ० 3.54.3

(ङ) उशन्नु षु णः सुमना उपाके।। ऋ० 4.20.4

(च) अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम्।।

मा० 27.41; 36.6; जै० 3.4.5; ऋ० 4.31.3

(छ) त ऊ षु णो महो यजत्रा।। ऋ० 10.61.27

(ज) विदो षु ण उर्विया गाधमद्य।। ऋ० 10.113.10

(झ) नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा।।

ऋ० 10.126.6

(ञ) मो षु णः इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति।।

मा० 3.43; का० 3.5.3; तै० 1.8.3.1; मै० 1.10.2

(ट) ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये।।

मा० 11.42; का० 12.4.6; मै० 2.7.4; काठ० 15.22

(ठ) सहस्त्रमूर्ध्व ऊ षु णः।। मा० 33.97

(ड) गव्यो षु णो यथा पुरा।। कौ० 1.86; जै० 1.20.2

एवं वेदसंहिताओं में प्रस्तुत सूत्र के छियालिस प्रयोग-स्थल मिलते हैं।।

।। इति नवम अध्याय।।

उपसंहार

भाषा के संवर्धन और संरक्षण में जहाँ उसका विशाल साहित्य तथा भाषाविज्ञों के सुदृढ़ नियम उपादेय होते हैं, वहीं राज्याश्रय भी बहुत महत्व रखता है। संस्कृत भाषा के विकास में वैयाकरणों, साहित्यकारों तथा नृपतियों ने विशाल काल तक अपूर्व योगदान दिया। यही कारण है कि आज भी इस भाषा की विस्तृत साहित्य सम्पदा अन्य भाषाओं से ज्येष्ठता स्थापित करती है। वैदिक साहित्य के वे नियम जो हजारों-सहस्त्रों वर्ष पूर्व उन आचार्यों ने प्रातिशाख्यों तथा अनुक्रमणियों आदि में उपनिबद्ध किये थे, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ग्रन्थों में निहित करने में अपना सर्वस्व जीवन अर्पित किया था एवं इस साहित्याराधना को ही भगवद्सेवाव्रत माना था उनके माध्यम से आज भी वेदों की यथावद्स्थिति पूर्ववत् संरक्षित है। वैयाकरणों के अपूर्व योगदान तथा अहर्निश तपस्या का इतिहास हमने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में दर्शाया है।

पाणिनि व्याकरण के वैदिक भाषा नियमों का अध्ययन करते हुए हमने पाया कि वृत्तिकारों ने वैदिक सूत्रों के कतिपय प्रयोग वेदसंहिताओं से न देकर अन्य ग्रन्थों से भी दिये हैं। कतिपय प्रयोग ऐसे भी हमें मिले हैं जिनकी प्राप्ति वर्तमान में प्राप्त किसी भी ग्रन्थ में नहीं हो पायी। कतिपय सूत्रों में अन्य पद का संयोजन करना तथा कतिपय में पदनिरर्थक होने से निष्कासन करने का विचार भी हमने रखा है। संभव है विद्वानों को यह विचार चिन्त्य भी प्रतीत हो सकता है। किन्तु सूत्र की उपयोगिता और अनुपयोगिता को देखकर ऐसा लिखा गया है। कतिपय सूत्रों के प्रयोग हमें वर्तमान में प्राप्त वेदसंहिताओं में उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। संभव है सूत्रकार के समय इन प्रयोगों की प्राप्ति उपलब्ध संहिताओं में होती हो, जो आज अनुपलब्ध हैं। ग्रन्थ के द्वितीय

अध्याय से नवम अध्याय तक हमने इन सब विषयों की यथाप्रसंगानुसार चर्चा की है।

आचार्य पाणिनि का मुख्य प्रयोजन लौकिक संस्कृत के नियमों का उपनिबद्धन था। यथावसर संप्राप्त कतिपय वैदिक नियमों की भी चर्चा उन्होनें कर दी है। वस्तुतः वैदिक सूत्रों के निर्माण की उनकी शैली तथा चिन्तनधारा वन्दनीया है, जिन्होंने इतने स्वल्प-सूत्रों में अनेकशः वैदिक नियमों का संरक्षण, संवर्द्धन और प्रणयन किया हैं।

।। नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यो नमः वैयाकरणेभ्यो नमः गुरुभ्यः विद्याप्रदातृभ्यो नमो नमः।।

परिशिष्ट- क

सूत्रानुक्रमणिका

240. अग्नीत्प्रेषणे परस्य च।। 8.2.92
82. अग्राद्यत्।। 4.4.116
178. अङितश्च।। 6.4.103
145. अङ्ग इत्यादौ च।। 6.1.119
244. अङ्गयुक्तं तिङाकांक्षम्।। 8.2.96
100. अद्भिः संस्कृतम्।। 4.4.134.
253. अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः।। 8.2.105
127. अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि।। 5.4.103
248. अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः।। 8.2.100
146. अनुदात्ते च कुधपरे।। 6.1.120
230. अतो नुट्।। 8.2.16
41. अन्येभ्योऽपि दृश्यते।। 3.3.130
164. अन्येषामपि दृश्यते।। 6.3.137
205. अपरिह्वृताश्च।। 7.2.32
135. अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे तित्याज श्राताः श्रितमाशीराशीर्ताः।। 61.36
222. अपो भिः।। 4.7.48
16. अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयांरमयामकः पावयांक्रियाद् विदामक्रन्नि- तिच्छन्दसि।। 3.1.42
125. अमु च च्छन्दसि।। 5.4.12
187. अमो मश्।। 7.1.40

258. दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च।। अष्य० 6.1.12
68. दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि।। 4.1.59
260. दीर्घादटि समानपादे।। 8.3.9
217. दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यतिरिषण्यति।। 7.4.36
86. दूतस्य भागकर्मणि।। 4.4.120
202. दृक्स्ववःस्वतवसां छन्दसि।। 7.1.86
58. दृशे विख्ये च।। 3.4.11
219. देवसुम्नयोर्यजुषि काठके।। 7.4.38
8. द्वितीया ब्राह्मणे।। 2.3.60
73. द्व्यचश्छन्दसि।। 4.3.150
162. द्व्यचोऽतस्तिङः।। 6.3.135
189. ध्वमो ध्वात्।। 7.1.42
224. न कवतेर्यङि।। 7.4.63
107. नक्षत्राद्घः।। 4.4.141
216. न छन्दस्यपुत्रस्य।। 7.4.35
279. नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः।। 8.4.27
232. नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त्तसूर्त्तगूर्त्तानि छन्दसि।। 8.2.61
231. नाद्घस्य।। 8.2.17
214. नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके।। 7.3.87
242. निगृह्यानुयोगे च।। 8.2.94
66. नित्यं छन्दसि।। 4.1.46
215. नित्यं छन्दसि।। 7.4.8
163. निपातस्य च।। 6.3.136
277. निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि।। 8.3.117
269. निसस्तपतावनासेवने।। 8.3.100
184. नेतराच्छन्दसि।। 7.1.26
74. नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात्।। 4.3.151
18. नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः।। 3.1.51

166. नृ च।। 6.4.6
36. णेश्छन्दसि।। 3.2.137
265. पञ्चम्याः परावध्यर्थे।। 8.3.51
155. पथि च छन्दसि।। 6.3.108
122. पश्च पश्चा च च्छन्दसि।। 5.3.33
266. पातौ च बहुलम्।। 8.3.52
77. पाथोनदीभ्यां ड्यण्।। 4.4.111
152. पितरामातरा च छन्दसि।। 6.3.33
246. पूर्वं तु भाषायाम्।। 8.2.98
273. पूर्वपदात्।। 8.3.106
99. पूर्वैः कृतमिनयौ च।। 4.4.133
141. प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे।। 6.1.115
237. प्रणवष्टेः।। 8.2.99
247. प्रतिश्रवणे च।। 8.2.99
124. प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि।। 5.3.111
57. प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै।। 3.4.10
228. प्रसमुपोदः पादपूरणे।। 8.1.6
254. प्लुतावैच इदुतौ।। 8.2.106
208. बभूथा ततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे।। 7.2.64
85. बर्हिषि दत्तम्।। 4.4.119
128. बहुप्रजाश्छन्दसि।। 5.4.123
11. बहुलं छन्दसि।। 2.4.39
13. बहुलं छन्दसि।। 2.4.73
14. बहुलं छन्दसि।। 2.4.76
32. बहुलं छन्दसि।। 3.2.88
119. बहुलं छन्दसि।। 5.2.122
133. बहुलं छन्दसि।। 6.1.34
182. बहुलं छन्दसि।। 7.1.8

183. बहुलं छन्दसि।। 7.1.10
203. बहुलं छन्दसि।। 7.1.103
212. बहुलं छन्दसि।। 7.3.97
227. बहुलं छन्दसि।। 7.4.78
172. बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि।। 6.4.75
239. ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः।। 8.2.91
140. भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि।। 6.1.83
76. भवेश्छन्दसि।। 4.4.110
63. भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्।। 3.4.16
110. भावे च।। 4.4.144
37. भुवश्च।। 3.2.138
67. भुवश्च।। 4.1.47
234. भुवश्च महाव्याहृतेः।। 8.2.61
257. मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि।। 8.3.1
102. मतौ च।।
94. मत्वर्थे मासतन्वोः।। 4.4.128
105. मधोः।। 4.4.138
95. मधोर्ञ च।। 4.4.128
15. मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृजकृगमिजनिभ्यो लेः।। 2.4.80
39. मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः।। 3.3.86
27. मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्।। 3.2.71
179. मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः।। 6.1.141
158. मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ।। 6.3.131
104. मये च।। 4.4.138
90. मायायामण्।। 4.4.124
211. मीनातेर्निगमे।। 7.3.81
190. यजध्वैनमिति च।। 7.1.43
143. यजुष्युरः।। 6.1.117

126. वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि।। 5.4.41
78. वेशन्तहिमवद्भ्यामण्।। 4.4.112
97. वेशोयश आदेर्भगाद्यल्।। 4.4.131
49. वैताऽन्यत्र।। 3.4.93
52. व्यत्ययो बहुलम्।। 3.1.85
5. व्यवहिताश्च।। 1.4.82
59. शकि णमुल्कमुलौ।। 3.4.12
169. शमिता यज्ञे।। 6.4.54
109. शिवशमरिष्टस्य करे।। 4.4.143
137. शीर्षश्छन्दसि।। 6.1.170
139. शेश्छन्दसि बहुलम्।। 6.1.170
198. श्रीग्रामण्योश्छन्दसि।। 7.1.156
177. श्रुशृणुपृकृवृभ्यछन्दसि।। 6.4.102
3. षष्ठीयुक्तश्छन्दसि।। 1.4.9
267. षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु।। 8.3.53
47. स उत्तमस्य।। 3.4.98
80. सगर्भसयूथसनुताद्यन्।। 4.4.114
154. सधमादस्थयोश्छन्दसि।। 6.3.96
209. सनिंससनिवांसम्।। 7.2.69
275. सनोतेरनः।। 8.3.108
111. सप्तनोऽञ्छन्दसि। 5.1.61
153. समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु।। 6.3.84
84. समुद्राभ्राद् घः।। 4.4.128
114. संपरिपूर्वात्ख च।। 5.1.92
148. सर्वत्र विभाषा गोः।। 6.1.122
108. सर्वदेवात्तातिल्।। 4.4.142
226. ससूवेति निगमे।। 7.4.74
101. सहस्त्रेण संमितौ घः।। 4.4.135

परिशिष्ट- ख

वार्तिकानुक्रमणिका

इस अनुक्रमणिका में प्रारम्भ में पुस्तकस्थ सूत्रक्रमसंख्या निर्दिष्ट है-

परिशिष्ट- ग

परिभाषानुक्रमणिका

197. परत्वादसुकि पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्।। 1।।

197;201. सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव।।
2।।

3;199;229;263;239;०.सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः।। 3।।

परिशिष्ट- घ

प्रत्यय/निपात/आगम/आदेश-अनुक्रमणिका

इस अनुक्रमणिका में प्रत्यय/निपात/आगम/आदेश के उपरान्त ग्रन्थस्थ सूत्रक्रमसंख्या निर्दिष्ट है-

परिशिष्ट- ङ

इति किम्? अनुक्रमणिका

178. अङ्ङित इति किम्? हव्यं प्रीणिहि।।
256. अचीति किम्? अग्ना३इ। पटा३इ।।
65. अजसाविति किम्? यास्ता रात्रयः।।
275. अन इति किम्? गोसनिं वाचमुदेयम्।।
238. अन्तग्रहणं किम्? याज्यानाम ऋचःकाश्चिद् वाक्यसमुदायरूपाः, तत्र यावन्ति वाक्यानि तेषां सर्वेषां टेः प्लुतः प्राप्नोति। सर्वान्त्यस्यैवेष्यते, तदर्थमन्तग्रहणम्।।
264. अनदितेरिति किम्? यथा नो अदितिः करत्।।
25. अनन्तःपादमिति किम्? हव्यवाडग्निरजरः पिता नः।।
141. अन्तः पादमिति किम्? कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति।।
162. अत इति किम्? आ देवान् वक्षि यक्षि च।।
127. अनसन्तादिति किम्? बिल्वदारु जुहोति।।
146. अनुदात्त इति किम्? अधोऽग्रे।।
49. अन्यत्रेति किम्? मन्त्रयैते। मन्त्रयैथे। सुप्रयसा मादयैते।।
147. अनुदात्ते किम्? यदुद्रेभ्योऽवपथाः।।
159. अप्रथमायामिति किम्? स्थिरेयमस्त्वोषधिः।।
216. अपुत्रस्येति किम्? पुत्रीयन्तःसुदानवः।।
255. अप्रगृह्यस्येति किम्? शोभने खल स्तः खट्वे३।।
153. अमूर्धप्रभृत्युदर्केष्विति किम्? समानमूर्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्काः।।
260. अटीति किम्? इभ्यान् क्षत्रियान्।।

261. अटीति किम्? भवांश्चरति। भवांश्छदयति।।
269. अनासेवन इति किम्? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः।।
260. अन्तःपादमिति किम्? यन्म आत्मनोमिन्दाभूदग्निस्तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः।।
265. अध्यर्थ इति किम्? दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतम्।।
263. अप्राम्रेडितयोरिति किम्? अग्निः प्रविद्वान्। परुषः परुषः परि। सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्। स नः पावकः।।
235. अभ्यादान इति किम्? ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्।।
141. अव्यपर इति किम्? तेऽवदन्। तेजोऽयस्मयम्। तेऽयजन्।।
244. आकाङ्क्षमिति किम्? अङ्ग पच। नैतदपरमाकाङ्क्षति।।
252. आकाङ्क्षमिति किम्? दीर्घं त आयुरस्तु। अग्नीन् विहर।।
179. आङीति किम्? यदात्मनस्तन्ना वरिष्ठा।।
48. आटः कस्माद् न भवति? विधानसामर्थ्यात्।।
188. आत्मनेपदेष्विति किम्? उत्स दुहन्ति कलशं चतुर्बिलम्।।
261. आत इति किम्? ये व वनस्पतीँ1रनु।।
91. इष्टकास्विति किम्? वर्चस्वान उपधानमन्त्र एषां कपालानामित्यत्र मा भूत्।।
91. उपधान इति किम्? वर्चस्वानुपस्थानमन्त्र आसामित्यत्र मा भूत्।।
249. उपमार्थ इति किम्? कथंचिदाहुः।।
259. ऋक्ष्विति किम्? ताँस्त्वं खाद सुखादितान्।।
141. एङिति किम्? अन्वग्निरुषसामग्रमख्यत्।।
219. काठक इति किम्? सुम्नयुरिदमसीदमसि।।
146. कुधपर इति किम्? सोऽयमग्निः सहस्त्रियः।।
1. छन्दसीति किम्? पुनर्वसू इति।।
3. छन्दसीति किम्? ग्रामस्य पत्ये।।
4. छन्दसीति किम्? अयोमयं वर्म।।
7. छन्दसीति किम्? यवागूमग्निहोत्रं जुहोति।।
12. छन्दसीति किम्? दुःख हेमन्तशिशिरे। अहोरात्राविमा पुण्यौ।।

19. छन्दसीति किम्? अकार्षीत्। अमृत। अदारीत्। अरुक्षत्।।
38. छन्दसीति किम्? मित्रीयिता।।
69. छन्दसीति किम्? कद्रुः। कमण्डलुः।।
72. छन्दसीति किम्? शौनकीया शिक्षा।
128. छन्दसीति किम्? बहुप्रजा ब्राह्मणः।।
136. छन्दसीति किम्? चित्तं खेदयति।।
137. छन्दसीति किम्? शिरः।।
140. छन्दसीति किम्? भेयम्। प्रवेयम्।।
152. छन्दसीति किम्?मातापितरौ।।
170. छन्दसीति किम्? संयुत्य। आप्लुत्य।।
175. छन्दसीति किम्? वितेनिरे। पेतिम।।
184. छन्दसीति किम्? इतरत् काष्ठम्। इतरत् कुड्यम्।।
204. छन्दसीति किम्? ह्वृतम्।।
257. छन्दसीति किम्? हे गोमन्। ह पपिवन्।।
91. तद्वानिति किम्? मन्त्रसमुदायादेव मा भूत्।।
244. तिङिति किम्? अङ्ग देवदत्त, मिथ्या वदसि।।
260. दीर्घादिति किम्? अहन्नहिम्।।
162. द्व्यच इति किम्? अश्वा भवत वाजिनः।।
1. नक्षत्र इत्येव-पुनर्वसू माणवकौ।।
127. नपुंसकादिति किम्? सुत्रामाण पृथिवीं द्यामनेहसम्।।
167. निगम इति किम्? तक्षा, तक्षाणौ, तक्षाणः।।
211. निगम इति किम्? प्रमिणाति।।
156. निगम इति किम्? सोढ्वा सोढेति भाषायाम्।।
27. पदस्येति किम्? श्वेतवाहौ। श्वेतवाहः।।
265. पञ्चम्या इति किम्? अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्।।
265. पराविति किम्? एभ्यो वा एतल्लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत्।।
255. परिगणनं किम्? विष्णुभूत विष्णुभूते३ घातयिष्यामि त्वा।।
241. पृष्टप्रतिवचन इति किम्? कटं करिष्यति हि।।

249. प्रयुज्यमान इति किम्? अग्निर्माणवको भायात्।।
199. पादान्त इति किम्? गवा गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।।
228. पादपूरण इति किम्? प्र देव दैव्या धिया।।
9. बहुलग्रहणं किम्? कृष्णो रात्र्य हिमवते हस्ती।
245. भर्त्सन इत्येव-अङ्गाधीष्व, ओदन ते दास्यामि।।
168. मन्त्र इति किम्? जनयिता।।
151. मन्त्र इति किम्? सुचन्द्रा पौर्णमासी।।
179. मन्त्रेष्विति किम्? आत्मना कृतम्।।
234. महाव्याहृतेति किम्? भुवा विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः।।
257. मतुवसोरिति किम्? ब्रह्मन स्तोष्यामः।।
94. मासतन्वोरिति किम्? मधुमता पात्रेण चरति।।
169. यज्ञ इति किम्? शृतं हविः. शमयितः।।
237. यज्ञकर्मणीत्येव-अपां रेतांसि जिन्वति।।
236. यज्ञकर्मणीति किम्? ये यजामह इति पञ्चाक्षरम इति स्वाध्यायकाले मा भूत्।।
240. यज्ञकर्मणीत्येव-ओ श्रावय।।
219. यजुषीति किम्? देवाञ्जिगति सुम्नयुः।।
93. वयस्यास्विति किम्? यत्र मूर्धन्शब्द एव केवलो न वयः शब्दस्तत्र मा भूत्।।
159. विभक्ताविति किम्? ओषधिपते।।
3. षष्ठीग्रहणं किम्? मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।।
267. षष्ठ्या इति किम्? मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्।।
257. संबुद्धाविति किम्? य एवं विद्वानग्निमुपतिष्ठते।।
260. समानपाद इति किम्? यातुधानानुपस्पृश।।
256. संहितायामिति किम्? अग्ना३इ इन्द्रम्। पटा३उ उदकम्।।
241. हेरिति किम्? करोमि ननु।।
151. ह्रस्वादिति किम्? सूर्याचन्द्रमसाविव।।

परिशिष्ट- च

आचार्यपाणिनि प्रशस्त्यनुक्रमणिका

1. आकुमारं यश पाणिनेः।। महाभाष्य० 1.4.89
2. यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।। महाभाष्य० 2.1.1
3. पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते।। का० 2.1.6।।
4. सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्।। महाभाष्य० 2.1.68
5. शोभना खलु पाणिनेः सूत्रकारस्य कृतिः।। महाभाष्य 2.3.66
6. महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।। का० 4.2.74।।
7. पाणिनीयं महत् सुविहितम्।। महाभाष्य० 4.3.66
8. भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।। कात्यायन 8.4.68
9. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
   कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।
10. येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।
    तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः
11. प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।। महाभाष्य० 1.1.39।।
12. तदाचार्यः सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे।। महाभाष्य० 1.2.32
13. अनल्पमति आचार्यः।। महाभाष्य० 1.4.51
14. वृत्तज्ञ आचार्यः।। महाभाष्य० 1.3.9।।
15. तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत।। महाभाष्य० 1.4.4
16. शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते। श्लो० पा०शि० 56
17. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा- 'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः'। काव्यमीमांसा अ० 10, पृ० 55

18. शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इति ऋगर्थपरास्त्रयः।। वेंकटमाधवमन्त्रार्थानुक्रमणी ऋग्भाष्य० 7.1
19. तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।। महाभाष्य० 1.1.1
20. सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।। महाभाष्य० 6.1.77
21. मैत्र्या प्रशान्तो दयया शरण्यो वदान्यमूर्तिर्मुदिताबलेन। शब्दार्थसम्बन्धरहस्यविज्ञो जयत्यसौ पाणिनिनामधेयः।।
22. यस्तप्तवान् घोरतपो महात्मा, गोपर्वते शैववराभिलाषी। येनार्षदृष्ट्या विहितं च शास्त्रं दाक्षीसुतं तं शरणं व्रजामि।।
23. येनाष्टकं वै ग्रथितं सुबुद्ध्या अध्यायपादैः सुविभक्तरूपम्। गूढार्थकैः सूत्रचतुःसहस्त्रैः शालातुरीयं तमहं नमामि।।
24. आश्रित्यतन्त्राणि महान्ति प्राचां विहाय तन्त्रान्तरसंस्थदोषान्। अकालकं शास्त्रमतीव रम्यं येनर्षिनोक्तं तमिह प्रपद्ये।।
25. शब्दार्थनिश्चायकमार्गभूतं अनेककृत्यादियुतं महद् यत्। सप्रातिशाख्यं सखिलं सशिक्षं धिया विनेया नितरां पठन्तु।।

●●●

परिशिष्ट- छ

सहायकग्रन्थानुक्रमणिका

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में जिन ग्रन्थों/पत्रिकाओं का हमने उपयोग किया है, हम उनकी अनुक्रमणिका उपस्थित कर रहें हैं। इनमें कतिपय ग्रन्थ हमारे व्यक्तिगत पुस्तकालय में हैं तथा शेष ग्रन्थ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के विशाल पुस्तकालय से उपयोग किये गये हैं। अनुक्रमणिका में प्रथम ग्रन्थनाम, पुनः लेखक/सम्पादक/व्याख्याकार/संग्रहकार/भाष्यकार का नाम, तदनन्तर प्रकाशक और विक्रमी संवत्/ ईस्वी को दर्शाया गया है–

- **अथ पाणिनीयाष्टकम्**, भीमसेन शर्मा, वेदप्रकाश यन्त्रालय इटावा, 1905 ई०
- **अथर्ववेदभाष्यम्**, **सायण**, विश्वेश्वरानन्दवैदिकशोधसंस्थान होशियारपुर, 2019 वि०
- **अथर्ववेद संहिता**, नागप्रकाशक 11ए०/यू०ए० जवाहरनगर, दिल्ली–7, 1984 ई०
- **अथर्ववेद संहिता**, हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्झर हरयाणा, 2043 वि०
- **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, साहित्यभण्डार सुभाषबाजार मेरठ, 1982 ई०
- **अमरकोषः**, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 2034 वि०
- **अव्ययार्थः**, स्वामीदयानन्द, वैदिकयन्त्रालय अजमेर, 2048 वि०
- **अव्ययार्थनिबन्धनम्**, स्वामीब्रह्ममुनि, हरयाणासाहित्य संस्थान गुरुकुलझज्झर, हरयाणा, 1967ई०
- **अष्टाध्यायी**, वीरेन्द्रमुनि, विश्ववेदपरिषद् सी० 817 महानगर लखनऊ, 2040 वि०

- **अष्टाध्यायीकाशिका**, वेदपालविद्याभास्कर, साहित्यभण्डार सुभाषबाजार मेरठ, 1995ई०
- **अष्टाध्यायीप्रकाशिका**, वेदप्रकाश, पाणिनिअनुसन्धान मन्दिर 1 जी० जवाहरनगर दिल्ली, 2012 वि०
- **अष्टाध्यायीभाष्य** प्रथमावृत्ति, रामलालकपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत हरयाणा, 2050 वि०
- **अष्टाध्यायी सूत्रपाठः**, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत हरयाणा, 2041वि०
- **अष्टाध्यायी सूत्रपाठः** (वार्तिकगणपाठसहित), गुरुकुलवृन्दावन स्नातकशोध संस्थान वृन्दावन, 2000 ई०
- **आख्यातचन्द्रिका**, चौखम्बासंस्कृतग्रन्थालयविद्याविलासयन्त्रालयकाशी, 1961 वि०
- **आख्यातिकः**, स्वामीदयानन्द, हरयाणासाहित्यसंस्थानगुरुकुलझज्झरहरियाणा, 2059 वि०
- **आपस्तम्बधर्मसूत्रम्**, भण्डारकरप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान पूना, 1932 ई०
- **आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्**, अच्युत ग्रन्थमाला काशी, 1987 वि०
- **आर्षज्योति**, डॉ० रामनाथवेदालङ्कार, समर्पणशोधसंस्थान साहिबाबाद, 1991ई०
- **आश्वलायनगृह्यसूत्रम्**, ज्येष्ठराममुकुन्द जी पुस्तकालय मुम्बई, 1909ई०
- **आश्वलायनश्रौतसूत्रम्**, चौखम्बासंस्कृतसीरीज वाराणसी, 1928 ई०
- **ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः**, निर्णयसागरप्रेस, 1940 ई०
- **उणादिकोषः**, स्वामीदयानन्द, 56 एल० माडलटाउन करनाल, 2031 वि०
- **ऋग्वेदः**, विश्वेश्वरानन्दवैदिकशोधसंस्थानहोशियारपुर, 1963 ई०
- **ऋग्वेदखिलानि**, (सं० शेफ्तेलविज)ब्रेस्लान, 1906 ई०
- **ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्**, डॉ० वीरेन्द्रकुमारवर्मा, चौखम्बासंस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली-7, 1992 ई०
- **ऋग्वेदभाष्यम्**, सायण, वैदिक संशोधन मण्डलसमर्थभारतप्रेस पूना, 1933ई०
- **ऋग्वेदभाष्यम्**, स्वामीदयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय अजमेर, 2001ई०

- **ऋग्वेदभाष्यम्** (दशममण्डल), स्वामी ब्रह्ममुनि, वैदिक पुस्तकालय अजमेर, 2031वि०
- **ऋग्वेदसंहिता**, वैदिक यन्त्रालय अजमेर, 2010वि०
- **ऋग्वेदसंहिता**, स्वाध्याय मण्डल पारडी, 2013वि०
- **ऋग्वेदसंहिता**, विजयकुमारगोविन्दरामहासानन्द दिल्ली-6, 1999ई०
- **ऋग्वेदसंहिता**, हरयाणा साहित्यसंस्थान गुरुकुलझज्झर हरयाणा, 2041वि०
- **एकादशोपनिषद्**, विजयकृष्णलखनपाल नई दिल्ली48, 2000ई०
- **ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्शनरी**, सूर्यकान्त, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस बोम्बई, 1981ई०
- **ऐतरेयब्राह्मणम्**, सं० मार्टिन हाग, मुम्बई, 1863ई०
- **औणादिकपदार्णवः**, पेरुसूरि, मद्रपुरीयविश्वविद्यालय, 1939 ई०
- **कपिष्ठलकठसंहिता**, मेहरचन्दलक्ष्मणदास दिल्ली, 1968 ई०
- **कविकल्पद्रुमः**, वोपदेव, पूना, 1954ई०
- **काठकसंहिता**, स्वाध्याय मण्डल पारडी, 1943ई०
- **कातन्त्रव्याकरणम्**, शर्मवर्मदेव, भारतीयविद्याप्रकाशन दिल्ली, 1987ई०
- **काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्**, 31/144 अलवरगेट अजमेर, 2022वि०
- **काशकृत्स्न व्याकरणम्**, 31/144 अलवरगेट अजमेर, 2022वि०
- **काशिका**, आर्येन्द्रशर्मा, उस्मानियाविश्वविद्यालय हैदराबाद, 1969ई०
- **काशिका**, त्रिपाठी/मालवीय, तारा प्रिंटिंग वर्क्स कमच्छा वाराणसी, 2042 वि०
- **काशिका**, नारायणमिश्र, चौखम्बासंस्कृतसीरीजआफिस वाराणसी, 1969ई०
- **काशिका**, बालशास्त्री, काशीविद्यासुधानिधि (पत्रिका) वाराणसी, 1898ई०
- काशिका, विजयपालविद्यावारिधि, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 1997ई०
- **काशिकाविवरणपञ्जिका**, जिनेन्द्रबुद्धिपाद, राजकीयशाहीकालिज बंगाल, 1919ई०
- **काशिका**, शास्त्री/शुक्ल, तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी, 1966ई०
- **काशिका**, रघुवीरवेदालङ्कार, प्राच्यविद्याप्रतिष्ठानम् सरस्वतीविहार दिल्ली34, 1997ई०
- **काशिका**, शोभितमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीजवनारस, 2009वि०

- **कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता**, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 2059वि०
- **कौत्सव्यनिघण्टु** (वैदिकनिघण्टु संग्रहः), पाणिनिधाम तिलोरा अजमेर, 2045वि०
- **कौथुमसंहिता**, स्वाध्यायमण्डलपारडी, 1956 ई०
- **कौशिकगृह्यसूत्रम्**, अमेरिकन ओरियन्टलसोसायटी, 1889ई०
- **क्षीरतरङ्गिणी**, युधिष्ठिरमीमांसक, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 2042वि०
- **गणपाठः**, वैदिकयन्त्रालय अजमेर, 2038वि०
- **गणरत्नमहोदधिः**, वर्धमानकवि, सरस्वती यन्त्रालय प्रयाग, 1894ई०
- **गोपथब्राह्मणम्**, क्षेमकरणदासत्रिवेदी, 34 लूकरगंज इलाहाबाद, 1977ई०
- **गोपथब्राह्मणम्**, सावित्रीदेवी बागडियाट्रस्ट कलकत्ता, 1980ई०
- **चतुर्वेदवैयाकरणपदसूची**, विश्वेश्वरानन्दवैदिकशोधसंस्थानहोशियारपुर, 2017वि०
- **चान्द्रव्याकरणम्**, ससूत्रोणादिधातुपाठ, ब्रूनोलीबिश 1902 ई०
- **छान्दोग्योपनिषत्**, वैदिकसंशोधनमण्डलपूना, 1958ई०
- **जैमिनीयमीमांसासूत्रम्** (शावरभाष्यम्), रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 1987 ई०
- **जैमिनीयब्राह्मणम्**, सरस्वतीविहार नागपुर, 1954ई०
- **जैमिनीयसंहिता**, सरस्वतीविहार लाहौर, 1938ई०
- **ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्**, बंगालएशियाटिक सोसायटी, 1989वि०
- **ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्**, चौखम्बासंस्कृतसीरीज वाराणसी, 1991वि०
- **तैत्तिरीयारण्यकम्**, आनन्दाश्रम पूना, 1898 ई०
- **तैत्तिरीयब्राह्मणम्**, सायण, आनन्दाश्रम पूना, 1934 ई०
- **तैत्तिरीयसंहिता**, स्वाध्याय मण्डल पारडी, 1957 ई०
- **तैत्तिरीयसंहिता पदपाठः**, शास्त्रिणौ, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढसोनीपत हरयाणा, 2001ई०
- **दशपाद्युणादिवृत्तिः**, युधिष्ठिरमीमांसक, संज्ञावेदविद्यालयशाहदरामिल्सपंजाबलाहौर, 1943 ई०
- **दशपाद्युणादिवृत्तिसंग्रहः**, चन्द्रदत्तशर्मा, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपतहरयाणा, 2044वि०

- **दुर्घटवृत्तिः**, शरणदेव, भारतीयविद्याप्रकाशन दिल्ली, 1985 ई०
- **दैवम्**, भारतीयप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान 24/312 रामगंज अजमेर, 2019वि०
- **धातुप्रदीपः**, नारायण, गु०का०वि०वि० के पुस्तकालय में हस्तलेख सं० 440/4
- **धातुप्रदीपः**, अज्ञात, गु०का०वि०वि० के पुस्तकालय में हस्तलेख सं० 43, 413
- **धातुप्रदीपः**, मैत्रेयरक्षित, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 1992ई०
- **धातुपाठः**, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़ सोनीपत हरयाणा, 2031 वि०
- **धातुरत्नाकरः**, आर०बी०6 इन्द्रपुरी, दिल्ली-12, 1992 ई०
- **धात्वर्थविज्ञानम्**, भागीरथप्रसादत्रिपाठी, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, 2037वि०
- **नामिकः**, सद्धर्मप्रचारक यन्त्रालय जालन्धर, 1963 वि०
- **निघण्टुकोशः**, वैदिक यन्त्रालय अजमेर, 1084 ई०
- **निरुक्तभाष्य**, चन्द्रमणिविद्यालङ्कार, आर्षकन्यागुरुकुल नरेला दिल्ली-40, 2033वि०
- **पदवाक्यरत्नाकरः**, गोकुलनाथोपाध्याय, वाराणसेयसंस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1960ई०
- **परमलघुमञ्जूषा**, नागेशभट्ट, विद्याविलासप्रेसवनारस, 1901ई०
- **परिभाषावृत्तिः**, नीलकण्ठदीक्षित, राजकीयमुद्रणयन्त्रालय अनन्तशयन, 1951ई०
- **परिभाषावृत्तिः**, सीरदेव, वनारस प्रिंटिंग प्रेस वाराणसी, 1885 ई०
- **परिभाषेन्दुशेखरः**, चौखम्बा संस्कृतसीरीजआफिस वाराणसी, 1935ई०
- **प्रक्रियासर्वस्व**, नारायणभट्ट, शूरनाड्कुञ्जन्पिल्ल, राजकीयमुद्रणयन्त्रालय अनन्तशयन, 1954ई०
- **पाणिनिकालीनभारतवर्ष**, वासुदेवशरणअग्रवाल, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी, 2026ई०
- **पाणिनीयव्याकरण का अनुशीलन**, रमाशंकरभट्टाचार्य, इण्डोलोजिकलबुक हाउस वाराणसी, 1966ई०
- **पाणिनीयअष्टाध्यायीप्रवचनम्**, सुदर्शनदेवाचार्य, गुरुकुलझज्झर, हरयाणा, 2000ई०

- **पारस्करगृह्यसूत्रम्**, सुधाकरमालवीय, चौखम्बासंस्कृतसंस्थान वाराणसी, 2551वि०
- **पारिभाषिकः**, वैदिकयन्त्रालय अजमेर, 2054 वि०
- **पैप्पलादसंहिता**, सरस्वतीविहार लाहौर, 1941 ई०
- **प्रौढमनोरमा**, भट्टोजिदीक्षित, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 1978ई०
- **फिट्सूत्रम्**, पूनाविश्वविद्यालय पूना, 1967 ई०
- **बृहद्दृजुपाणिनीयम्**, गोपालशास्त्री, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ, 2040वि०
- **बृहच्छब्देन्दुशेखरः**, नागेशभट्ट, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, 1960ई०
- **भागवृत्तिसंकलनम्** भारतीय प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान 31/144अलवरगेट अजमेर, 2021वि०
- **भाषावृत्तिः**, पुरुषोत्तमदेव, राजशाही कालिज बंगाल, 1981ई०
- **महाभारतम्**, नीलकण्ठ, चित्रशालाप्रेस पूना, 1933 ई०
- **महाभाष्यम्**, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 2049 वि०
- **माधवीयाधातुवृत्तिः**, विजयपालविद्यावारिधि, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़ सोनीपत हरयाणा, 2059वि०
- **मानवगृह्यसूत्रम्**, वेदप्रकाश यन्त्रालय इटवा, 1905 ई०
- **मानवश्रौतसूत्रम्**, इन्टरनेशनल अकादमी नई दिल्ली, 1961 ई०
- **मैत्रायणीसंहिता**, स्वाध्यायमण्डल पारडी गुजरात, 1983 ई०
- **यजुर्वेदसंहिता** (माध्यन्दिन शुक्ल), स्वाध्याय मण्डल पारडी, 2003 वि०
- **यजुर्वेदीय काठकसंहिता**, स्वाध्यायमण्डलपारडी, 1864 शाकवाहन श०
- **यजुर्वेदीय मैत्रायणीसंहिता**, स्वाध्यायमण्डलपारडी, 1864 शाकवाहन श०
- **रघुवंशमहाकाव्यम्**, संजीवनीटीका, वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय मुम्बई, 1920 ई०
- **रूपावतारः**, धर्मकीर्ति, जी०ए० नटेशन एण्ड कम्पनी इस्पलेनाडे मद्रास, (ई० अज्ञात)
- **लघुकाशिका**, सुदर्शनदेवत्रिपाठी, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, 2030ई०

- **लघुपाणिनीयम्**, अ०रा० राजराजवर्मा, भाषाभिवर्धिनी पुस्तकालय अनन्तशयन, 1913 ई०
- **लघुसिद्धान्तकौमुदी**, वरदराज, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1965 ई०
- **लिङ्गानुशासनम्**, सरस्वती यन्त्रालय कालिकाता, 1885 ई०
- **लिङ्गानुशासनम्**, दुर्गसिंह, दक्खनकालिज पूना, 1952 ई०
- **लिङ्गानुशासनम्**, वैदिकयन्त्रालय अजमेर, 1975 ई०
- **लौगाक्षिगृह्यसूत्रम्**, निर्णयसागर प्रेस मुम्बई, 1928 ई०
- **वर्णोच्चारणशिक्षा**, वैदिकयन्त्रालय अजमेर, 2039 वि०
- **वृत्तिदीपिका**, कृष्णभट्ट, गवर्नमेंट संस्कृत कालिज बनारस, 1930ई०
- **वाक्यपदीयम्**, श्रीरामलालकपूरन्यास समिति लवपुर, 1991 वि०
- **वाजसनेयि प्रातिशाख्यम्**, डॉ० वीरेन्द्रकुमारवर्मा, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, 1987 ई०
- **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**, रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़, सोनीपत हरयाणा, 2036वि0
- **वाल्मीकिरामायण**, तिलकटीका, निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई,
- **वासिष्ठगृह्यसूत्रम्**, रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, 1941 ई०
- **वेदवाणी** (मासिक पत्रिका), रामलालकपूरट्रस्टबहालगढ़सोनीपत हरयाणा, जौलाई, अगस्त1990ई०
- **वंशब्रह्मणम्**, केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम् तिरुपति, 1965 ई०
- **वैखानसश्रौतसूत्रम्**, रायलएशियाटिकसोसायटी कलकत्ता, 1941 ई०
- **वैदिककोष**, उपाध्यायौ, नागप्रकाशक दिल्ली, 1995 ई०
- **वैदिक व्याकरण**, उमेशचन्द्रपाण्डेय, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी, 1972 ई०
- **वैदिक व्याकरण**, डॉ० रामगोपाल, मयूर पेपरवर्क्स ए-16 सेक्टर5नौएडा, 2003ई०
- **वैदिक व्याकरण**, आर्थ एन्थोनी मैक्डानल, मोतीलालवनारसीदास दिल्ली 1971 ई०
- **वैदिकी प्रक्रिया**, दामोदर महतो, मोतीलाल वनारसीदास दिल्ली-7, 1987 ई०
- **वैदिकी प्रक्रिया**, उमाशङ्कर शर्मा, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी, 1988ई०

- **वेदों की वर्णन शैलियाँ**, डॉ०रामनाथवेदालङ्कार, आर्यधर्मार्थट्रस्टव्या-नियापाडाहिन्डौनसिटीराजस्थान, 2004ई०
- **वैदिकस्वरमीमांसा**, युधिष्ठिरमीमांसक, रामलालकपूरट्रस्ट बहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 2042वि०
- **वैदिकनिघण्टुसंग्रहः**, पाणिनिधाम तिलोरा अजमेर, 2045 वि०
- **वैदिक पदानुक्रमकोषः**, विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोधसंस्थानहोशियार, 1999वि०
- **वैदिक साहित्य और संस्कृति**, बलदेवउपाध्याय, शारदानिकेतन वाराणसी, 1978ई०
- **वैयाकरणभूषणम्**, कौण्डभट्ट, वनारस संस्कृत सीरीज, 1956 वि०
- **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी**, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 1979ई०
- **वैयाकरणपरमलघुमञ्जूषा**, चौखम्बासंस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, 1935ई०
- **वैयाकरणसिद्धान्तकारिका**, आनन्दाश्रममुद्रणालय पूना, 1901 ई०
- **व्याकरणमहाभाष्यम्**, चौखम्बासंस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-1, 1954ई०
- **व्याकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा**, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, 1990ई०
- **व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिः**, चौखम्बासंस्कृतसीरीज आफिस वाराणसी-1, 1918ई०
- **शतपथब्राह्मणम्**, सायण, गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदासकल्याण बम्बई, (ई0अज्ञात)
- **शब्दशक्तिप्रकाशिका**, जगदीशतर्कालङ्कार, ताराप्रिंटिंग वर्क्स वाराणसी, 1907 ई०
- **शब्दार्णवचन्द्रिका**, औदुम्वर मुद्रणालय काशी, 1915 ई०
- **शाङ्खायनारण्यकम्**, आनन्दाश्रम पूना, 1922 ई०
- **शाङ्खायनब्राह्मणम्**, आनन्दाश्रम, पुण्यपत्तन, 1911 ई०
- **शाङ्खायनश्रौतसूत्रम्**, मेहरचन्दलक्ष्मणदास दिल्ली, 1981 ई०

- **शौनकीयसंहिता**, स्वाध्यायमण्डलपारडो, 1943ई०
- **श्लोकसिद्धान्तकौमुदी**, सुरेशझा, संपूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, 1982ई०
- **षड्विंशब्राह्मणम्**, केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम् तिरुपति, 1967 ई०
- **सरस्वतीकण्ठभरणम्** (व्याकरण), मद्रपुरीय विश्वविद्यालय, 1937 ई०
- **सामवेदभाष्यम्**, आचार्यरामनाथवेदालङ्कार, समर्पणशोधसंस्थान साहिबाबाद, 2048वि०
- **सामवेदसंहिता**, भगवतीप्रकाशन एच०1/2माडल टउन दिल्ली9, 1997 ई०
- **सारस्वतव्याकरणम्**, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाँराणसी, 2041 वि०
- **सिद्धान्तकौमुदी**, तत्त्वबोधिनीटीका, निर्णयसागर मुद्रणालय, 1929ई०
- **सिद्धान्तचन्द्रिका**, रामाश्रमाचार्य, राजा दरबाजा वनारससिटी, 1988वि०
- **संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी**, होरेस हायमनविलसन, नागपब्लिशर्स, जवाहरनगरदिल्ली, 1979ई०
- **संस्कृत-हिन्दीकोश**, वामन शिवराम आप्टे, भारतीयविद्याप्रकाशनदिल्ली, 1999ई०
- **संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास**, युधिष्ठिरमीमांसक, रामलालकपूरट्रस्ट बहालगढ़सोनीपत हरयाणा, 2041वि०
- **संस्कृत व्याकरण दर्शन**, रामसुरेशत्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1972 ई०
- **संस्कृत व्याकरण**, डब्ल्यू० डी० ह्विटने, उत्तरप्रदेश ग्रन्थ अकादमी लखनऊ, 1971ई०
- **संस्कृतव्याकरण का उद्भव और विकास**, सत्यकामवर्मा, भारतीयप्रकाशन करोलबागदिल्ली, 1982ई०
- **संस्कृत व्याकरण की दार्शनिक मीमांसा**, डॉ०मंगलाराम, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, 1995ई०
- **हलायुधकोशः**, हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तरप्रदेश लखनऊ, 1967ई०
- **हायरसंस्कृतग्रामर**, काले, ज्ञानोदयप्रेस 273 कटरा इलाहाबाद, 1965 ई०
- **हेमधातुपाठः**, श्रीकेसरबाई ज्ञानमन्दिर नगीन भाईहाल पाटण गुजरात, 1996 वि०